

# ।। नेहरू और नेहरूवाद ।।

(नेहरू और नेहरूवाद इनका चिकित्सक मूल्यांकन)

डॉ. नी. र. वऱ्हाडपांडे

हिंदी अनुवाद  
डॉ. विजया

नेहरू और नेहरूवाद  
(विश्लेषणात्मक मूल्यांकन)

प्रथम संस्करण : 2010

© लेखक

प्रकाशक व मुद्रक :

००००००

शब्द-संयोजन :

शब्दसृष्टि

102, कृष्ण कमल, प्लॉट-5, सेक्टर-5,  
संत ज्ञानेश्वर माऊली महाराज मार्ग,  
नेरूल (पूर्व), नवी मुंबई-400 706.  
भ्रमणध्वनि : 09773058680  
E-mail : shabdasrishiti@gmail.com

मुद्रण-स्थल :

आवरण : ०००

मूल्य : ००० रुपये

.....  
**Nehru And Nehruism**

(Analytical Evaluation)

© N. R. Warhadpande

Publisher & Printer : 00000

Cover Design : .s.....

Price : Rs. 000/-

/ नेहरू आर नेहरूवाद

सादर समर्पित

## ॥ अनुक्रम ॥

▲ मेरी बात	7
▲ अनुवादक की बात	9
▲ भारत के लिए पं. नेहरू के उपहार	11
▲ भारत की राष्ट्रीयता के विरुद्ध 17 वर्षों का युद्ध	13
▲ विज्ञान के क्षेत्र में	19
▲ पं. नेहरू की पंचवार्षिक योजनाएँ	30
▲ हिंदुओं से ड्राह	40
▲ भहराये आसमान का थमना	72
▲ भारत की सुरक्षा के साथ खिलवाड़	85
▲ पं. नेहरू द्वारा बरबस ओढ़ी गई चीनी आफत	95
▲ कश्मीर का रिसता फोड़ा	112
▲ संविधान की बरबादी	121
▲ देशद्रोह : एक मूलभूत अधिकार	132
▲ समाज-सुधार या समाज-विप्लव	140
▲ देशभाषा के विरुद्ध जिहाद	150
▲ पंडित नेहरू : व्यक्तित्व-मीमांसा	194
▲ आत्मनस्तु कामाय	234
▲ महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू	240
▲ पं. नेहरू के बाद का नेहरूवाद	249

## ॥ मेरी बात ॥

सन् 2001 को साहित्यगंगा प्रकाशन, नृपतुंग रोड, बंगलौर द्वारा मेरी पुस्तक 'The Nemesis of Nehru-Worship' प्रकाशित की थी. यह पुस्तक उसका मराठी में अनुवाद नहीं है, वरन् आवश्यकतानुसार उसमें कुछ अधिक जानकारी देकर पुनः स्वतंत्र रूप से लेखन किया गया है. अंग्रेजी किताब का प्रचार-प्रसार दक्षिण में ही अधिकतर हुआ. महाराष्ट्र के मराठी व अंग्रेजी की सामयिक पत्र-पत्रिकाओं को समीक्षा हेतु पुस्तक भेजी गयी थी, किंतु नागपूर के 'तरुण भारत' के अलावा अन्य किसी भी सामयिक पत्र में समीक्षा/परिचय देखने को नहीं मिला. 'नागपूर टाइम्स' में एक पत्र पढ़ने में आया, जिसमें पत्र लिखनेवाले व्यक्ति ने अपना खेद व्यक्त करते हुए लिखा था कि "यह पुस्तक नीचता का नमूना है और उसमें पंडित नेहरू जी की बौद्धिक क्षमता को संदेह की नजर से देखने की जुर्रत की गई है." ऐसी आलोचना मेरे लिए अनपेक्षित नहीं थी. पर मैं सोचने लगा कि ऐसे अपशब्द लिखनेवाले व्यक्ति ने मेरी पुस्तक पढ़ी भी होगी? क्योंकि ऐसे उद्गार लिखने के लिए पुस्तक के पन्नों को मात्र उलट-पुलट कर देखना भर भी काफी होता है.

आशा करता हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक के संदर्भ में ऐसी आलोचना पढ़ने-सुनने को नहीं मिलेगी. क्योंकि मैं प्रमुख रूप से इस पुस्तक में यह साबित करना चाहता हूँ कि यदि भारत को प्रतिष्ठित राष्ट्र के रूप में प्रस्थापित होना है तो उसे नेहरूवाद का पूरी तरह से अस्वीकार करना होगा. मेरी पुस्तक प्रकाशित होने से पूर्व इस तरह के मत को व्यक्त करनेवाला व्यक्ति मेरी नजर में न था. पर अंग्रेजी पुस्तक के पढ़ने के बाद ऐसे व्यक्ति की खोज करने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई. मैं इससे अधिक कुछ हासिल करने की उम्मीद भी नहीं रखता.

मेरी आशा है कि अंग्रेजी पुस्तक जितनी मात्रा में प्रभावी ठहरी है उससे अधिक प्रभावी यह (मराठी) पुस्तक रहेगी. इसका प्रथम कारण यह है कि यह पुस्तक प्रथम पुस्तक को संशोधित करके ही लिखी गई है और दूसरा कारण यह है कि महाराष्ट्र राज्य अपने आलोचनात्मक रूख के लिए विख्यात है.

- नी. र. वऱ्हाडपांडे

हिन्दुस्तान कॉलनी,  
अमरावती रोड,  
नागपूर-४४० ०३३.

## ।। अनुवादक की बात ।।

‘पं. नेहरू और उनका नेहरूवाद’ यह पुस्तक ‘नेहरू व नेहरूवाद’ नामक मराठी पुस्तक का हिंदी अनुवाद है. इसे भाषांतर, रूपांतर जैसे नामकरण नहीं देना चाहती हूँ. इसका मुख्य कारण यह है कि इस पुस्तक का विषय केवल भाषागत ही नहीं, संस्कृति, राजनीति, धार्मिक और आम आदमी के दैनिक जीवन से भी जुड़ा है. शायद इसी कारण हर क्षेत्र के वादों की व्यावहारिकता के परदे के पीछे छिपे सत्य को उघाड़कर प्रस्तुत करने का साहस एक लेखक, विचारक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा भाषाविद् द्वारा संपन्न किया गया है. शायद आज के बाजारीकरण तथा आतंक के नींव में गड़ी जड़ों को बोनसाय की उघाड़ी जड़ों की तरह जीवन का हर सत्य इस पुस्तक द्वारा पाठकों के समक्ष रखा गया.

अनुवाद के रूप में इसे स्वीकार करने का साहस मैंने इसलिए किया कि मैं प्रस्तुत परिस्थितियों की मुक्तभोगी भी हूँ. संस्कृत मेरा प्रिय विषय रहा, मैट्रिक में अस्सी से अधिक गुण प्राप्त हुए थे, परंतु गुणवत्ता यादी में उनको शामिल न करने का कारण इस पुस्तक को पढ़कर पता चला. उधर घर पर मराठी में, दोस्तों-सहेलियों के साथ हिंदी, बंगाली, पंजाबी में, शिक्षा हिंदी में, राज्यस्तरीय खेलकूद में अंग्रेजी में, पड़ोसियों से उर्दू में बातें करते-करते अपनी मातृभाषा से बिछुड़ जाने का दर्द, सब कुछ एक साथ उफन पड़ा. बचपन ही क्या, बड़े होने पर भी, हम आज के दंगों आतंकों को बड़े-बड़े प्रश्न चिह्नों के साथ झेलते रहे हैं और अपनी सही पहचान हो पाना मुश्किल हो गया है. इस पुस्तक द्वारा सही माने में कई प्रश्न हल हो गये. मुझे लगता है कि लेखक की तीक्ष्ण विद्वत्ता व ज्ञान की गंभीरता का प्रभाव उनकी लेखन-शैली पर पड़ा है. हर मुद्दे पर स्वयं ही प्रश्न उपस्थित कर उत्तर देने की शैली के कारण इस पुस्तक की मराठी भाषा आम मराठी विवेचनागत पुस्तकों की तरह नहीं है. कहीं अति संक्षिप्तता है तो कहीं बोली भाषा में प्रयुक्त मुहावरो-कहावतों का प्रयोग करते हुए लेखक अपनी बात कह जाता है. अतः मेरे इस अनुवाद में कहीं

पूरी तरह से लेखक की शैली का अनुगमन है तो कहीं मराठी के लंबे वाक्यों को तोड़कर हिंदी के स्वभावानुरूप छोटे वाक्यों में बात कही है. मराठी महाराष्ट्री प्राकृत से और हिंदी शौरसेनी प्राकृत से निःसृत हैं. दोनों ही सशक्त भाषाएँ आमने-सामने आती हैं तो मूल भाषा के गुणधर्म (लंबे वाक्य, अव्ययों, क्रियाओं के स्थान-स्थितियों) अनूदित भाषा में ले जाना उस भाषा की बढ़ोतरी के लक्षण कहलाते हैं. यह कार्य मराठी से हिंदी में आते समय बड़ी सुगमता से हो पाता है क्योंकि हिंदी-मराठी का मेल लिपि तथा दखनी भाषा के कारण अधिक निकटतम है. अतः इस पुस्तक में सरल हिंदी (पं. नेहरू की अंग्रेजी मिश्रित हिंदी नहीं) के साथ-साथ संस्कृत-उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है. मैंने कविता, आत्मकथा, शोधप्रबंध के अनुवाद किये हैं. प्रस्तुत अनुभव रूचिजन्य आकर्षण से भरा नहीं था. राष्ट्र के जीवन सत्य का सामना करने जैसा रोमांचक था. हाँ, कहीं-कहीं लेखक ने व्यक्ति के नाम लेकर घटना-प्रसंगों को वर्णित किया है. यहाँ बात पूरी तरह से साफ है. किंतु जब संदिग्धता से या गोल-गोल बातें करते हुए कुछ कहने की कोशिश की है, वहाँ सत्यता पर प्रश्न-चिह्न अवश्य लग जाता है. फिर एक जैसे अनुभवों के दस व्यक्ति होते हैं. डॉ. हरिवंशराय बच्चन ने अनुवाद के संदर्भ में कहा था कि यदि रचना के साथ आपके तार जुड़े हैं तो अनुवाद-कर्म अधिक से अधिक मूल भाषा के निकट जाकर संभव होता है.

अनुवाद का इतना सुंदर और प्रामाणिक अहसास पाने का अवसर मेरे चाचा डॉ. नी. र. वन्हाडपांडे ने मुझे दिया, अतः मैं उनकी ऋणी हूँ. घर-परिवार में मेरे पति प्रा. मनोहर तथा मेरी माता श्रीमति इंदू वन्हाडपांडे का संपूर्ण सहयोग और प्रोत्साहन मिलता रहा है, अतः उनके प्रति भी आभार/कृतज्ञता!

**मकरसंक्रांत, जनवरी 14, 2010**

**- डॉ. विजया**

102, कृष्ण कमल, प्लॉट-5,

सेक्टर-5, नेरूल (पूर्व),

**नवी मुंबई-400 706.**

भ्रमणध्वनि:9821902276

## ॥ भारत के लिए पं. नेहरू के उपहार ॥

### पं. नेहरू का कार्यकाल

#### 1. प्रारंभिक स्थिति-

भारत के सैनिकी व राजकीय स्वामित्व का प्रदेश 56 लाख वर्ग कि.मी. था.

#### अन्तिम स्थिति-

अब वह प्रदेश 32 लाख वर्ग कि.मी. शेष रहा अर्थात् नेहरू जी के सत्रह वर्ष के कार्य-काल में भारत ने लगभग 43 प्रतिशत भूखण्ड गँवाने की वीरता को इतिहास में दर्ज किया है.

#### 2. प्रारंभिक स्थिति-

मनुष्य का विकास अर्थात् प्रति व्यक्ति आमदनी औसतन जीवन-काल तथा साक्षरता का अनुपात इन दोनों के संदर्भ में भारत का क्रमांक 32 वाँ था.

#### अन्तिम स्थिति-

यह क्रमांक 139 तक पीछे चला गया. पाकिस्तान का क्रमांक भारत से आगे था. बांग्ला देश की कीमतों की ओर देखें तो पता चलता है कि बांग्ला देशी व्यक्ति अपनी आमदनी के सहारे जिस स्तर पर जी सकता है, उस स्तर तक भारतीय व्यक्ति अपनी अपनी आमदनी के सहारे नहीं जी सकता. श्रीलंका ने भी भारत की तुलना में अधिक उन्नति की है.

#### 3. प्रारंभिक स्थिति-

भारतीय सेना एशिया खण्ड की सर्वाधिक ताकतवार सेना मानी जाती थी.

#### अन्तिम स्थिति-

भारतीय सेना सात दिनों के भीतर ही चीनी सेना से मात खा गई. पं. नेहरू की मृत्यु के मात्र डेढ़ वर्षों के बाद ही पाकिस्तान के आक्रमण का सामना करना पड़ा और भारतीय सेना पाकिस्तानी सेना को पराभूत नहीं कर पायी. साथ ही उसे खेमकरण और जलानवाला प्रदेश गँवाने पड़े.

4. जब पं. नेहरू के हाथों शासन के सूत्र आये थे, तब तिब्बत में भारत की सेना थी और तिब्बत की विदेश नीति भारत की सलाह लेकर ही तय होती थी. परंतु जब चीन ने तिब्बत पर उनका हक जताया तो पं. नेहरू ने इसका कारण जाने बिना ही चीन के हक को स्वीकार कर लिया और भारतीय सेना वहाँ से हटा ली. कम से कम तिब्बत की वर्तमान सीमा को चीन से मनवा लेने की, विदेश मंत्रालय की सलाह को मान लिया होता परंतु पं. नेहरू जी ने दुत्कार दिया. इसी सीमा-प्रश्न को लेकर चीन से युद्ध प्रारंभ हुआ था. 20000 भारतीय जवानों का कत्ल हुआ और भारत का 64000 वर्ग कि.मी. प्रदेश चीन ने दबोच लिया था.
5. पं. नेहरू की नीति यह थी कि नागा व कम्युनिस्ट बागियों के खिलाफ बंदूकें व हवाई जहाज जैसे यंत्रों का उपयोग न किया जाय और उन्हें प्राप्त सजा की माफी हो, इस दिशा में प्रयत्न किये जाय.
6. पं. नेहरू ने लाखों पाकिस्तानी घुसपैठियों को भारत में आने दिया; आज उनकी संख्या तीन करोड़ से अधिक है.
7. कश्मीर के महाराजा ने कश्मीर को भारत में विलीन कर दिया था. इसे पाकिस्तान के साथ दुनिया के सभी देशों ने स्वीकृति दी थी. केवल पं. नेहरू ने ही इस विलीनीकरण को अस्वीकार किया और अनुरोध किया कि स्वीकृति के लिए जनमत लिया जाय. फिर कलम 370 को पारित करते हुए ऐसी व्यवस्था कर दी कि भविष्य में कश्मीर भारत से कभी भी एकरूप नहीं हो सकेगा.
8. अंग्रेजों के शासन काल में प्रति वर्ष 26 हिंदू-मुस्लिम दंगे हुआ करते थे. पं. नेहरू के कार्यकाल में यह संख्या 90 हो गई.
9. हिन्दुओं के धर्मान्तर करनेवाली संस्थाओं को पं. नेहरू ने बढ़ावा दिया. 1947 में नागालैण्ड में केवल 200 ईसाई थे. नेहरू के कार्यकाल के अन्तिम दिनों में संपूर्ण नागालैण्ड का ही ईसाईकरण हो गया और ईसाई बनी नागा जनता ही भारत के खिलाफ विद्रोह कर बैठी.
10. पं. नेहरू ने भारतीय भाषाओं के खिलाफ विद्रोह करके उन्हें आदिवासियों के स्तर पर बिठाने का प्रयत्न किया.

□□

## ॥ भारत की राष्ट्रियता के विरुद्ध 17 वर्षों का युद्ध ॥

### नेहरूवाद : पराधीनता की पूजा

पं. नेहरू लगातार 17 वर्षों तक भारत के प्रधानमंत्री रहे थे. इतनी लंबी अवधि तक कोई भी प्रधानमंत्री पद पर आसीन नहीं रहा है. पं. नेहरू के इतनी लंबी अवधि तक पद पर बने रहने का कारण यह था कि सरदार पटेल के देहांत के बाद, उनके करतूतों पर प्रतिबंध लगाने का कार्य कर पाने वाली व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय भारत में नहीं था. पं. नेहरू जनता के प्रिय थे, परंतु कांग्रेस पक्ष में सरदार पटेल का बहुमत था. जब टण्डन के चुनाव के समय और राजगोपालाचारी के बजाय डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को राष्ट्रपति नियुक्त किया गया, तब यह अधिक स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया. कांग्रेस में प्रस्ताव रखकर पटेल नेहरू को प्रधानमंत्री पद से हटा सकते थे, परंतु भय यह था कि लोकप्रियता के बल पर, वे पटेल को हरा कर पुनः चुन लिये जा सकते थे. पं. नेहरू किसी भी तरह का खतरा मोल न लेने की नीति पर कार्य कर रहे थे, अतः उनकी जिद पटेल के समक्ष अधिक समय तक बनी नहीं रह पाती.

पटेल के देहांत के बाद भी पं. नेहरू द्वारा लिये गये किसी भी निर्णय को कांग्रेस में बहुमत मिलना असंभव ही था. इस स्थिति के बावजूद भी हर सम्बन्धों में अपने ही मतानुसार निर्णय लेने से उन्हें कोई भी रोक नहीं सकता था. क्योंकि नेहरू को हटाने के लिए पटेल के समय कांग्रेस में, जो बहुमत था, वह अब नहीं रहा. नेहरू ने भी अपने निर्णय के लिए कांग्रेस की स्वीकृति पाने की कभी कोशिश भी नहीं की थी. वे अपने निर्णय से सहमत रहनेवाले किसी मंत्री से पूछकर, अपने निर्णय को नेहरू मंत्रिमंडल का निर्णय बतलाकर घोषित करते थे. संपूर्ण मंत्रिमंडल की बैठक में यह विचार अधिकतर रखा ही नहीं जाता था. पं. नेहरू की कार्यशैली के बारे में चिंतामणराव देशमुख ने मंत्री पद से इस्तीफा देते समय दिये गये भाषण में कहा था कि “मेरे मंत्री होने के बावजूद भी, ‘मुंबई के बारे में लिया गया निर्णय’ ऐसी खबर अखबार में पढ़ी, परंतु मंत्रिमंडल में ऐसा निर्णय कभी लिया ही नहीं था. मंत्रिमंडल में एक अन्तःवृत्त है, वही सारे मंत्रिमंडल पर अपने निर्णय थोपता है.” पं. नेहरू जानते थे कि उनके विचार अधिकांश लोगों को स्वीकार नहीं थे. फिर भी वे कहते रहते थे कि “जिन्हें मेरे निर्णय नापसंद हो वे मुझ पर अविश्वास का प्रस्ताव प्रस्तुत करें.” पर उस कालविशेष के अधिकांश राजनीतिज्ञों का यह मानना था कि पं. नेहरू के निर्णयों को नापसंद करना आसान है, पर पं. नेहरू पर अविश्वास का प्रस्ताव पारित करवा लेना असंभव कार्य था.

पं. नेहरू के निम्नलिखित निर्णयों में किसी भी निर्णय को कांग्रेस ने स्वीकृति नहीं

दी थी और जनमत लिया जाने पर बहुमत प्राप्त करना भी संभव नहीं था—

1. भारत का सारा राज्य-शासन व शिक्षा का कार्य अंग्रेजी में ही हो. किसी भी प्रान्तीय (देशीय) भाषा को किसी भी सरकारमान्य कार्यालयों में स्थान प्राप्त न हो. अंग्रेजी के स्थान पर देशी भाषा का प्रयोग किये जाने पर, हम अठारहवीं सदी की तरह पिछड़े कहलायेंगे. किसी भी भाषा में आधुनिक विज्ञान को परिचित कराना संभव नहीं और यह जरूरी नहीं है कि आसेतुहिमाचल भारतीयों को समझनेवाली व आपस में संवाद करते समय प्रयोग में आनेवाली, हिन्दी के समान कोई एक भाषा हो. क्योंकि भारत जैसे राष्ट्र के लिए अंग्रेजी ही उसकी एकता का सूत्र हो सकता है.
2. कश्मीर इस्लामी होने के कारण उसे वह स्वायत्तता प्राप्त हो, जो अन्य प्रान्तों को उपलब्ध नहीं है. हिंदू-मुसलमानों के लिए एक ही कानून न हो. मुगल राष्ट्रीय राज्यकर्ता थे व उनका विरोध करनेवाले राणा प्रताप व शिवाजी लुटेरे व बागी मात्र थे.
3. तेलंगना व नागालैण्ड में भारत के खिलाफ विद्रोह करने वालों पर मशीनगन, बंदूके, हवाई जहाज आदि का उपयोग न किया जाय. ये लोग आदर्शवादी हैं और गरीबों की यातनाएँ देखकर-तिलमिलाकर उनके हित के लिए क्रान्ति करने की इच्छा रखते हैं. कानून द्वारा दी गई उनकी सजा माफ की जाय. उनके खिलाफ बलप्रयोग न करते हुए उनके प्रान्तों में अधिक धन भेजकर उनका विकास करें.
4. अयोध्या, काशी, मथुरा आदि स्थानों पर आक्रमणकारियों द्वारा जिन मंदिरों को उध्वस्त कर दिया गया हो, उन्हें फिर से बसाया न जाय.
5. ईसाई मिशनरियों को हिंदुओं का धर्म-परिवर्तन करवाने की पूरी छूट दी जाय.
6. शराब-बंदी और गो-हत्या आदि बातें गांधी जैसे पुराने लोगों की सनक है.
7. हिंदू व मुसलमानों के लिए समान कानून न हो.

उपरोक्त सारे निर्णय पं. नेहरू ने अपने शासन-काल में जारी करवाये थे. इनमें से कोई भी मत जनमत को स्वीकार हो ही नहीं सकता था. मुसलमानों के लिए मुस्लिम कानून लागू हो, यह बात भी हिंदू तो छोड़ ही दीजिए, मुस्लिम समाज भी मान्य करें, यह संभव नहीं, क्योंकि जब मुस्लिम स्त्रियों में इस्लाम द्वारा बताये स्त्रियों से संबंधित कानून का प्रचार करने का ही विरोध मुस्लिम कहलानेवाला समाज कर रहा है, तो उपरोक्त बात कैसे स्वीकार की जायेगी? अब, हिंदुओं के उध्वस्त मंदिर उन्हें वापस न दिये जाय, इस प्रश्न के बारे में सोचें तो हिंदुओं के मंदिरों को गिराने का अधिकार मुसलमानों को है, यह बात भी मुसलमान व्यक्ति क्यों कर स्वीकार करेगा? गो-हत्या बंदी पर कुछ कहने की जरूरत नहीं है. अब यह धारणा भी गलत है कि शराब-बंदी भी एक बड़े से समुदाय को स्वीकार नहीं है. आन्ध्र व तमिलनाडू की सरकार शराब-बंदी हटा देने के कारण पराभूत हुई है. मुस्लिम

विवाह कानून के समान ही स्त्री समाज की हर औरत शराब के खिलाफ है तथा यह सबको पता ही है कि दक्षिण भारत की स्त्रियों ने आंदोलन करके शराब की दूकानों को बंद करवाया था.

इतना सब कुछ होकर भी पं. नेहरू ने उपरोक्त सारे जनविरोधी कृत्यों को बिना किसी शोरगुल के कार्यान्वित किया, उपरोक्त एक भी मुद्दा पं. नेहरू के चुनाव-प्रचार के घोषणा-पत्रक में सम्मिलित नहीं था और चुनाव-प्रचार के दौरान उन्होंने इन मुद्दों के बल पर लोगों से मत भी नहीं माँगा था. अतः ऐसी दलील भी नहीं दी जा सकती कि ये सभी निर्णय जनताप्रिय थे.

जब तक पं. नेहरू जीवित थे, बतौर प्रधानमंत्री दूसरा कोई नाम सुझाया भी नहीं जा सकता था और अपनी मृत्यु के पश्चात कौन प्रधानमंत्री बनेगा? यह भी सूचित नहीं किया था. इन स्थितियों में क्या पं. नेहरू के बाद कांग्रेस द्वारा चुना गया प्रधानमंत्री पं. नेहरू को सभी योजनाओं को लागू करेंगे? पं. नेहरू के खिलाफ पहचानी जानेवाली वाजपेयी सरकार की योजनाओं पर भी, पं. नेहरू की सोच का गहरा असर था. पर केवल इस कारण मात्र से भाजपा का निर्विवाद बहुमत वाजपेयी को प्राप्त नहीं था. स्वयं वाजपेयी पं. नेहरू के प्रति आकर्षित थे. जब मैंने अपनी पुस्तक 'द नेमिसिस ऑफ नेहरू वर्शिप' ऑर्गनायझर के संपादक मलकानी जी को बिनति की थी, तब उन्होंने उपरोक्त बात मुझे बतायी थी. वाजपेयी के प्रधानमंत्री बनते ही कह गये कि "अंग्रेजी अब भारत में अपने पैर जमा चुकी है." उन्होंने पोप को भारत आने का न्योता दिया था. पोप ने यहाँ आकर सारे देश को खबरदार किया कि "हिंदुओं को ईसाई बनाने का मुझे पूरा अधिकार है." उन्होंने कई उर्दू मदरसे खोलने की योजना भी कही और गुजरात के दंगों के कारण भाजपा हार गई है, कहकर नरेन्द्र मोदी पर आरोप भी किया.

भाजपा के दूसरे ज्येष्ठ नेता, नानाजी देशमुख को भी किसी के द्वारा पं. नेहरू की आलोचना की जाय, यह बात पसंद नहीं थी. 'नागपूर टाइम्स' में प्रकाशित मेरे लेख को पढ़कर, उन्होंने अपनी नाक-भौं सिकोड़ी थी.

मुझे आशा थी कि पं. नेहरू के बाद उनकी योजनाएँ सहज रूप में एक इतिहास बनकर खत्म हो जायेंगी. पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ.

पं. नेहरू ने कांग्रेस के चुनाव-प्रचार पत्र में अपने विचारों को दर्ज नहीं किया था किंतु अपनी सत्रह वर्षों के कार्य-काल में, वे लगभग लाखों लोगों को हर दिन संबोधित करते ही थे, उनके ये भाषण आकाशवाणी व समाचार-पत्रों से लगातार लोगों तक पहुँचते भी थे. पं. नेहरू के हाथों सरकार और शिक्षा-विभाग थे. नेहरू काल में सामाजिकता से संबंधित विषयों के पाठ्य-पुस्तकों में हर जगह पं. नेहरू के विचार-बीज बोये जा रहे थे. अंग्रेजों के काल में शिक्षित लोगों ने, जो इतिहास पढ़ा था, उससे सर्वथा भिन्न इतिहास नेहरू काल में पढ़ाया जाने लगा था. आकाशवाणी और अन्य प्रसार माध्यमों में नेहरूवादियों की



नियुक्तियाँ होने लगी. आकाशवाणी को स्वायत्तता प्राप्त हो जाने के कारण कांग्रेसविरोधी सरकार दिल्ली के तख्त पर बैठ भी जाय तो भी प्रसार-माध्यमों से नेहरूवादी विचार प्रसारित हो ही रहे थे. ये विचार केवल वाद-विवादों में चर्चा के विषय नहीं थे, वरन् वे नाटकों व मालिकाओं में भी शामिल होने लगे थे. पं. नेहरू की पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' पर आधारित-सी प्रतीत होनेवाली मालिका 'भारत एक खोज' कई बार दूरदर्शन पर दिखाई गयी थी. उसमें अकबर का सामना करनेवाले राणा प्रताप को प्रतिगामी और अकबर के हर लब्ज को सरआँखों पर धारण करनेवाला मानसिंग पुरोगामी कहलाया गया. दूरदर्शन पर छत्रपति शिवाजी पर एक मालिका दिखाई जाने के संदर्भ में बातचीत जारी ही थी. दरम्यान यह कहा गया कि इस मालिका में "यदि शिवाजी ने मुगलों का सार्वभौमत्व स्वीकार कर लिया था ऐसा चित्रीकरण होता है तो मालिका प्रसारित हो, अन्यथा नहीं." यह किसी दूरदर्शन अधिकारी की माँग थी. यह बात भी मुझे दूरदर्शन के अन्य अधिकारी ने ही बतायी थी. 'स्वाभिमान' मालिका में पूजा नामक स्त्री अंग्रेजी न बोलनेवाली और साड़ी-सिंदूर पहननेवाली थी. उसे गोबरगणेश या बुद्ध के रूप में चित्रित किया गया. फिर जब वह अंग्रेजी पढ़कर स्कर्ट पहनने लगती है तब उसे होशियार कहकर दिखाया गया. 'करिश्मा' मालिका की अग्रि भी अपने घर के बहुत बड़े व्यवसाय को चलाने योग्य नहीं मानी जाती है. पर जब वह अंग्रेजी व बालरूप नृत्य सीख लेती है तब वह कारखानों का कारोबार भी संभाल सकती है, यह दिखलाया जाता है. आकाशवाणी से प्रसारित एक भाषण में, मैंने अंग्रेजी को समूल उखाड़ फेंकने की जरूरत पर बल दिया था, तब आकाशवाणी के अधिकारियों ने कहा कि "अंग्रेजी का प्रचार करना आकाशवाणी का काम है. अंग्रेजी का विरोध करना नहीं." जब सुषमा स्वराज प्रसार-मंत्री थीं, तब उनका भी किसी प्रसारण अधिकारी से हिन्दी के संदर्भ में मतभेद हुए थे. उसे पदच्युत करने के लिए सरकार को अध्यादेश जारी करना पड़ा.

प्रकट रूप से दिये गये अपने भाषणों में पं. नेहरू अपने विचार अवश्य व्यक्त करते थे, किंतु उनके अमल में लाने के लिए सरकारी कर्मचारियों को जो सूचनाएँ दी जाती थी, वे गुप्त ही रखी जाती थीं. उन्हें केवल संविधान का खुले तौर पर विरोध न करते हुए संविधान के अनुरूप ही कार्यवाही करनी होती थी. किंतु हिन्दी के संदर्भ में, पं. नेहरू की प्रतिज्ञा संविधान को नामजूर करने की थी. अतः उन्होंने भाषा संबंधी ऐसे व्यवहार और कार्यान्वय को मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद के हाथों सौंपे थे. जब भी हिन्दी के संबंध में शिक्षा-विभाग की बैठकें होती थीं, तब मौलाना आज़ाद खुले आम हिन्दी व संस्कृत के विरोध में सूचनाएँ देते थे, इन सूचनाओं को संविधान विरोधी कहा जाने पर इसका जवाब देना वे टाल जाते थे. एक बार इससे ही मिलते-जुलते प्रसंग पर संविधान की याद दिलानेवाले अधिकारी से पं. नेहरू ने कहा— "The Constitution is not sacrosanct" अर्थात् संविधान कोई पवित्र ग्रंथ नहीं है.

पं. नेहरू ने अपने निजी भाषणों के अलावा जो ग्रंथ लिखे और जिन ग्रंथों को

सराहा है, उनमें पं. नेहरू के प्रधानमंत्री के कार्यकाल के विचार, विस्तार से व्यक्त हुए हैं.

सन् 1957 में भारत सरकार ने 1857 की शताब्दी के अवसर पर डॉ. सुरेन्द्रनाथ सेन से 1857 पर एक पुस्तक लिखवायी थी. उसमें यह प्रतिपादित किया गया कि "मुगल बादशाह बहादूरशाह ज़फ़र के नाम से सन् सत्तावन के क्रान्तिवीरों ने ढिंढोरा पीटा था अतः सन् 1857 का विद्रोह स्वतंत्रता का युद्ध कहलाया." वस्तुतः इस विद्रोह के शांत होते ही तत्कालीन सरकार ने जो जाँच-समिति नियुक्त की थी, उसके अनुसार यह व्यूह अधिकांशतः नानासाहब पेशवा द्वारा आंका गया था. उन्होंने बहादूरशाह ज़फ़र पर सिपाहियों द्वारा बंदूकें तान कर उन्हें इस विद्रोह का नेतृत्व स्वीकार करने पर बाध्य किया था और जब भी अवसर मिलता था, वह अंग्रेजों से मेल बढ़ाता था. किंतु पं. नेहरू के मतानुसार मुगल ही भारत के राष्ट्रीय शासक थे, पेशवा आदि उनके ही राज्य में लूटखसोट करनेवाले मुफ्तखोर थे. उनके द्वारा रचे गये व्यूह को स्वतंत्र आज़ादी की लड़ाई कहा ही नहीं जा सकता. मुगल बादशाह के आशीर्वाद के बिना अंग्रेजों के खिलाफ़ छिड़ी इस जंग को आज़ादी की लड़ाई नहीं कहा जा सकता.

दूसरा ग्रंथ है— 'संस्कृति के चार अध्याय'. इस ग्रंथ के चार अध्यायों के विषय हैं— भारतीय जनता की रचना और हिंदू-संस्कृति का आविर्भाव, प्राचीन हिंदुत्व से विद्रोह, हिंदू संस्कृति और इस्लाम तथा भारतीय संस्कृति और यूरोप. इसमें प्रथम अध्याय लगभग अज्ञात स्वरूप का है. ज्ञात रूप में, शेष तीन अध्याय पराये ही जान पड़ते हैं. अतः यह ग्रंथ सार रूप में बताता है कि भारतीय संस्कृति व राष्ट्रीयता का पौधा अपनी जातीयता में ही परदेसी है और उसमें भी अंग्रेजों का शासन-काल सर्वाधिक महत्त्व का है.

तीसरा ग्रंथ है— डॉ. ताराचन्द्र द्वारा लिखवाया गया 'स्वराज्य के आंदोलन का इतिहास'. उसमें इस्लामी शासक भारतीय राष्ट्रीयता का अभिन्न अंग होने की बात को प्रतिपादित किया गया है.

पं. नेहरू की इस सीख का परिणाम काफी शाश्वत तय हुआ है. ज्येष्ठ अधिकारियों के मार्गदर्शन में तैयार अधिकारियों के विचार भी नेहरूवादी ही बनते गये. इस तरह से सरकारी अधिकारियों और सुशिक्षितों की पीढ़ियों में पिछले पचास वर्षों से नेहरूवाद अपनी जड़े गहरा चुका था. इन विचारों और स्वतंत्रता के आंदोलन द्वारा पोषित मूल्यों में जमीन आसमान का अंतर है. यह उपरोक्त मुद्दों में व्यक्त नेहरूवाद से स्वयं ही स्पष्ट होता है. इस सीख का सार है— "अंग्रेजी के एबीसी हमारी ज़बान पर चढ़ने से पहले भारत राष्ट्र ही नहीं था. अब यह राष्ट्र बन रहा है और वह भी कनडा, आस्ट्रेलिया आदि अंग्रेजी उपनिवेशों के समान अंग्रेजी साम्राज्य में शामिल राष्ट्र है. कनडा व आस्ट्रेलिया से भारत की भिन्नता इस बात में है कि मैं मेरे नेतृत्व में भारत को आधुनिक अर्थात् अंग्रेजी राष्ट्र बनाऊँगा. उसके विकास के लिए संस्कृत के साथ अन्य सभी देशी भाषाओं को नष्ट करते हुए सारा व्यवहार अंग्रेजी में होना चाहिए और भारत की हिन्दू पहचान जड़मूल से उखाड़कर

फेंक दी जानी चाहिए. ऐसा करने के लिए मिशनरियों व कान्हेट की शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहन देना आवश्यक है.”

जो भी उपरोक्त आरोपों को झूठा बताना चाहते हैं वे सच की कसम खाकर कहें कि भारतीय सरकार ने उपरोक्त मुद्दों के अनुसार व्यवहार किया है या नहीं. प्रधानमंत्री बन जाने के बाद पं. नेहरू के सभी भाषण एक स्थान पर उपलब्ध नहीं हैं. किंतु संविधान समिति तथा लोकसभा में कहे वक्तव्य उन संस्थाओं की स्मरणिकाओं में दर्ज हैं. साथ ही इस पुस्तक में वर्णित घटनाओं के समय में प्रकाशित तत्कालीन समाचार-पत्रों को पढ़ें, तो आप मेरे कथन का अनुमोदन ही करेंगे. एस. गोपाल तथा ..... अकबर द्वारा लिखित नेहरू महात्म्य पढ़ेंगे तो भी यह कहा जा सकता है कि मेरे प्रतिपादन साधार हैं. इस बात पर विश्वास रखने के सिवा कोई चारा न रहेगा.

स्वराज्य प्राप्त होने के बाद से इन पंक्तियों को लिखने तक 57 वर्षों की अवधि गुजर चुकी है. 57 वर्ष किसी भी राष्ट्र के इतिहास में छोटी अवधि नहीं मानी जाती. संपूर्ण भारत पर अंग्रेजों की सत्ता केवल 90 वर्ष की ही थी. ऐसा होकर भी अधिकांश भारतीय अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी राज्य के अलावा और कुछ सोच ही नहीं सकते. अतः 57 वर्ष जिस व्यक्ति का प्रभाव भारत पर पड़ा है, उसे मिटाने का प्रयास भी नहीं किया जा रहा है. उन पं. नेहरू नामक व्यक्ति को आधुनिक भारत का निर्माता कहना भी कुछ गैर नहीं है. अर्थात् आधुनिक भारत का मूल्यमापन पं. नेहरू ने आधुनिक भारत का मूल्यमापन करने के लिए, उसे लागू करने के लिए क्या-क्या किया होगा इसकी पड़ताल करेंगे. आधुनिक भारत के नाम पर हम गर्व से कितनी बातें कह पाते हैं, इससे ही उनके कार्यों का बोध होगा और साथ ही पं. नेहरू का भी मूल्यमापन होगा.

□□

## ॥ विज्ञान के क्षेत्र में ॥

पं. नेहरू के प्रशंसक दावे के साथ यह कहते हैं कि नेहरू जी ने भारत में विज्ञान को बढ़ावा दिया. परंतु नेहरू-निर्मित भारत ने ऐसा कौन-सा करतब दिखाया, जिसका हम गर्व से उल्लेख कर सकते हैं? पं. नेहरू के देहान्त के बाद कुछ ही वर्षों बाद सूचना तंत्रज्ञों ने दुनिया के देशों की विज्ञान के क्षेत्र की उन्नति जानने के लिए क्रमांक दिये थे. विज्ञान के लिए किया गया व्यय और विज्ञान के आधार पर उपजीविका चलानेवालों की संख्या देखें तो भारत का क्रमांक चौथा है. विज्ञान से संबंधित शोध-प्रबंधों की संख्या गिनी जाती है, तो भारत का क्रमांक ग्यारहवाँ ठहरता है. इस काम का दर्जा जब दूसरे वैज्ञानिकों ने बताया तो भारत का क्रमांक सत्तरवाँ अर्थात् लगभग आखरी ही ठहरता है.

हम रोज ही सुनते आ रहे हैं कि आज सूचना तंत्रज्ञान में भारत ने बहुत तरक्की की है. किंतु इस क्षेत्र में भी दुनिया के पचपन देशों की सूची बनाई गई, जिसमें भारत चौपन व पाकिस्तान पचपन क्रमांक पर है. आखिर से दूसरा क्रमांक तो कोई शोभनीय बात तो है नहीं. हम पाकिस्तान से आगे हैं, इसे सुनकर ही कई लोग फूले नहीं समाते. यही बात सूचित कर जाती है कि भारतीय सुशिक्षितों की सोच का स्तर कितना भ्रष्ट है.

संगणक के क्षेत्र में काम करनेवाले हमारे वैज्ञानिकों का वेतन काफी है. परंतु अमरिका के वैज्ञानिकों के वेतन को हम भारत की आमदनी नहीं मान सकते. इसमें से जो हिस्सा वे भारत भेजते होंगे, वह भारत की आमदनी में शामिल किया जा सकता है. सच तो यह है कि इसमें से अधिकांश वैज्ञानिक कार्य की आमदनी न होकर क्लर्की या मुन्शी का कार्य है. अमरिका के डाक्टर अपने रोगियों से जो भी बातें करते हैं, वे चाहते हैं कि यह लिखित रूप में उपलब्ध रहे. अमेरिका में यह काम काफी महंगा है, वहाँ का क्लर्क ऊँची आमदनी की माँग करता है. परंतु संगणक के युग में सस्ता मजदूर बाहर से नहीं मँगाना पड़ता. वे जिस देश में रहते हैं, वहाँ उनका काम उन तक भेजा जाता है और काम पूरा हो जाने पर सामग्री वापस भी लायी जा सकती है. अमरिका के डाक्टरों के संवाद टेप पर रेकॉर्ड किये जाते हैं, फिर वह टेप भारत भेज दी जाती है. उसके आधार पर यहाँ के संगणकीय अफसर (मुन्शी) संगणक दूरप्रेषण व्यवस्था द्वारा उसे अमरिका भेजा जाता है. यह कार्य एक सेकंद में ही संपन्न हो जाता है. अमरिका जिस काम को इस तरह जब भारत भेज नहीं सकता, तब वह भारत में ही उनके कारखाने खुलवाता है. क्योंकि यहाँ के सूचना तंत्रज्ञान के श्रमिकों की मजदूरी इतनी कम है कि कारखाना शुरू करने की लागत को ध्यान में रखते हुए भी, यह व्यवहार लाभ ही दर्शाता है.

परंतु संगणक क्षेत्र में हमारे लोगों को रोजी-रोटी मिलती है, यह स्थिति वैज्ञानिक

उन्नति को सूचित नहीं करती. यूँ तो इसी देश में बीमारियों पर दवा-दारू करके जीवन गुजारनेवाले कई वैद्य हैं, इसे आधार मानकर, हम यह नहीं कह सकते कि भारत ने आयुर्वेद विज्ञान में उन्नति हासिल कर ली है. क्योंकि इन डाक्टरों का यह काम रोजमर्रा का है, वे आयुर्वेद विज्ञान में कोई नई खोज नहीं करते. उसी तरह संगणक क्षेत्र में काम करनेवाले भारतीय, जो वैज्ञानिक काम करते हैं, वह रोजमर्रा का काम है. उसे नवनिर्मिति नहीं कहा जा सकता.

यह हमेशा कहा जाता है कि भारत ने नया संगणक निर्माण किया है. परंतु इसका अर्थ यह नहीं होता कि इस तरह का संगणक अमरिका में नहीं था और नहीं है. जब अमरिका ने ऐसे संगणक को देने से इंकार किया, तब भारतीय वैज्ञानिकों ने अपने बलबूते पर उसे बनाया. यह गौरव की बात है. परंतु इसे हम नवसृजन नहीं कह सकते. यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि डॉ. विजय भटकर का संगणक केवल कागज पर है. उसका यंत्र अभी तक नहीं बना है. हमने अमरिका का विरोध होते हुए भी अणु बम और हाइड्रोजन बम बनाये, यह हमारी उपलब्धि है. लेकिन हमसे 36 वर्ष पहले चीन ने अणु बम व हाइड्रोजन बम तैयार कर लिये थे. पाकिस्तान भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं था.

संगणक क्षेत्र की उन्नति की नापजोख करते समय निम्न बातें ध्यान में रखी जाती हैं— 1. दूरप्रेक्षा (दर्शन) व दूरभाष का जाल, 2. अतिथि संगणक व अतिथि संगणक, 3. मेजबान संगणक जानकारी का स्रोत होता है और इसके विपरित अतिथि संगणक जानकारी ग्रहण करने का काम करता है. अमरिका में जानकारी देने का काम करनेवाले संगणक सत्तासी प्रतिशत उपलब्ध हैं. दूसरे शब्दों में, विदेशों से आनेवाले ज्ञान को हम मुख्यतः ग्रहण करते हैं, ज्ञान की पूर्ति नहीं करते. कुल मिलाकर, सारा ज्ञान बाहर से भारत आता है, उसी तरह संगणकीय जानकारी का स्रोत भी भारत से बाहर ही है. यह स्थिति उन्नति नहीं वरन् पिछड़ेपन की सूचक है. (इंडियन एक्सप्रेस, 17.04.2000)

पं. नेहरू ने भारत में विज्ञान की उन्नति के लिए जो कदम उठाए थे, उनका स्वरूप देखते हुए कोई भी राज्यकर्ता यह जान सकता था कि इस तरह से विज्ञान की उन्नति नहीं होने की है. विज्ञान से जुड़ी संस्थाओं को एक परिपत्रक द्वारा सूचित किया गया कि “आप हमें सूचित कीजिए कि आपके विभाग में विज्ञान की बढ़ोत्तरी के लिए क्या किया जाना जरूरी है.” अधिकांश विज्ञान-संस्थाओं में नियुक्त किये गये वैज्ञानिक इतने निष्णात नहीं थे कि वे कह सकें कि इस दिशा में आगे बढ़ने पर कितनी सफलता हासिल होगी और उसके लिए इन-इन सुविधाओं को उपलब्ध करा दिया जाय. विलंब से ही क्यों न हो, पर ऐसा कुछ होता, तो स्वयं वैज्ञानिक ही अपनी माँग कह देते. परंतु ऐसी माँग न होते हुए भी विकसित देशों में विज्ञान पर खास रकम खर्च होती है. अगर हम उतनी रकम विज्ञान पर खर्च नहीं करेंगे तो विकसित नहीं कहलाये जायेंगे और अन्य कांग्रेसियों की तरह ‘गोबर संस्कृति’ के समझे जायेंगे. पं. नेहरू की सोच इस तरह से काम कर रही थी. किंतु विकसित

देशों से इस तरह की बराबरी करने की होड़ में जितनी रकम विज्ञान पर खर्च करनी थी उतनी रकम इकट्ठा करने के लिए भारत की सारी आमदनी भी कम पड़ती. फिर भी जो है उसका अधिकांश हिस्सा विज्ञान पर खर्च होना चाहिए, यह पं. नेहरू की सोच थी. वे मानते थे कि इससे भारत में विज्ञान की उन्नति होगी.

‘विस्तार की योजनाएँ दीजिए’ जैसे परिपत्रकों के मिलते ही कुछ वैज्ञानिकों ने तय किया कि अभी से काल्पनिक योजनाएँ दिखाने के बजाय जैसे-जैसे काम बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे अधिक सुविधाओं की माँग करेंगे. परंतु यह परिपत्रक कार्यालय से बाहर भेजा जाने से पूर्व काफी वाद-विवाद से घिर गया. कहा जा रहा था कि ‘यूँ लिखने का मतलब यह होगा कि हमने अभी काम शुरू ही नहीं किया है. और इसे पढ़कर सरकार यही सोचेगी, काम करनेवाला अयोग्य है. अतः युवा वैज्ञानिकों को काम दिया जाना चाहिए. यह अवसर गँवाया जाय तो युवा वर्ग हमसे रूष्ट हो जायेगा. इन युवा वैज्ञानिकों को हम नौकरी दें तो देश का धन भला व्यर्थ क्यों जायेगा? वे कुछ तो करेंगे ही. इस तरह की सोच विचार से कोई न कोई मार्ग तो निकालना ही था, जिसे सबको हामी भरनी थी और सबको जँचा भी था.

ठीक भी हुआ था. विकास की बड़ी-बड़ी योजनाओं को सामने रखा गया. उन सभी के लिए सरकार के पास धन नहीं था. परंतु पं. नेहरू ने जितना संभव हो सका उपलब्ध करा दिया था. परीक्षण शालाओं की गगनचुंबी इमारतें खड़ी की गईं जो आसपास घूमनेवालों की नजरों से छिप जाय, ऐसी इमारतें नहीं थी. मैंने दिल्ली की हाल ही में स्थापित राष्ट्रीय भौतिकी परीक्षण-शाला देखी थी, तब मुझे लगा कि विज्ञान क्षेत्र में भारत का भविष्य काफी उज्ज्वल है. क्योंकि इतनी बड़ी-बड़ी परीक्षण-शालाएँ तो, मैंने ऑक्सफर्ड में भी नहीं देखी थी. जब डॉ. सी.व्ही.रमण इन परीक्षणशालाओं को भेंट देने आये थे, तब उन्होंने कहा कि “विद्युत्कणों की खोज एक कुटिया में हुई थी. मैं चाहता हूँ कि इन प्रासादों में उससे भी बड़े-बड़े अन्वेषण किये जाय.”

वैज्ञानिक कर्मचारियों की संख्या और विज्ञान से संबंधित होनेवाला व्यय इन दोनों के संदर्भ में भारत दुनिया भर की सूचि में चौथे क्रमांक पर क्यों कर आया, यह स्पष्ट होता ही है. ऐसी परीक्षणशालाएँ या केन्द्र कई स्थानों पर खोले गये थे. उसे लाखों भारतीयों ने देखा और सबको यह विश्वास हो गया कि पं. नेहरू ही वह भगीरथ हैं जो विज्ञान की गंगा लायेंगे.

किंतु इन प्रासादों से विद्युत्कणों की तो रहने ही दें, दुनिया के तमाम वैज्ञानिकों द्वारा सराहा जाय, ऐसा कोई शोध-प्रबंध भी नहीं लिखा गया. इन शोध-प्रबंधों का दर्जा हमें सत्तरवें क्रमांक पर ला बिठाने जैसा ही था.

वैज्ञानिक कहे जा रहे थे कि विकसित देशों में विज्ञान पर बड़ी मात्रा में धन लगाया जाता है. तुलना में हमारे देश में लगायी रकम कुछ भी नहीं है. परंतु इन वैज्ञानिकों से पं.

नेहरू ने कभी यह नहीं पूछा कि “मैं विकसित देशों के बराबर विज्ञान के लिए धन का व्यय नहीं कर सकता परंतु उसका विनियोग करने की योजनाएँ तो बतायें।” मान लीजिए कि पूछकर इन योजनाओं की छानबीन महान वैज्ञानिकों से करवा ली होती, तब कहीं जाकर दो-तीन वर्षों में कोई योजना कार्यसम्मत होकर समक्ष आती। परंतु पं. नेहरू जागतिक स्तर पर ख्याति पाना चाहते थे और जो काम दिखाऊ नहीं होता, उसमें उनकी कोई रूचि न थी। पं. नेहरू को लगता था कि “जगह-जगह पर बने परीक्षण केन्द्रों को केवल वैज्ञानिक ही नहीं, यात्री भी देखेंगे और एक ताजमहल के बहाने जिस तरह शाहजहाँ की तारीफ-ख्याति हुई शायद उससे भी ज्यादा मेरी ख्याति इस दुनिया में होगी।” त्वरित अंतर्राष्ट्रीय कीर्ति की यह लालसा पं. नेहरू के चरित्र का एक कमजोर पक्ष था तथा यही प्रमुख कारण था कि राष्ट्र पर अनेकानेक विपत्तियाँ आती रहीं।

अगर राष्ट्रीय परीक्षण केन्द्रों में पूछताछ की जाय, तो पता चलेगा कि अधिकांश सामग्री अलमारियाँ लायी गयी तब से ही बंद पड़ी हैं। यह मैं, मुझे कुछ विभागों से, जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उसके बल पर कह सकता हूँ।

स्वतंत्रता (स्वराज्य) प्राप्ति के सारे काल में इन भव्य प्रासादों से एक सौर-चूल्हा बना था। यूँ तो अणुभौतिकी की योजना १९५० के आसपास ही प्रारंभ हो चुकी थी, परंतु अणुस्फोट होने का वर्ष १९९९ रहा। हम यह तो नहीं कह सकते कि अणुबम तो बनाकर रखा गया था किंतु अंतर्राष्ट्रीय दबाव के कारण हमने उसे घोषित नहीं किया था। इस असें में हमने अणु के शांतिमय प्रयोग भी भला कितने कर दिखाये हैं? जितना व्यय हुआ, उतने ही मूल्य का उपयोग क्या इन परीक्षण केन्द्रों का किया गया था? पं. नेहरू की कन्या, श्रीमति इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बन जाने के बाद एक विज्ञान से संबंधित सभा में उन्होंने स्पष्ट ही कहा था कि “मेरे पिताश्री ने विज्ञान के विकास के लिए, जो बेहद काम किया, वह सब व्यर्थ हुआ। इसके लिए विदेशी चलन का जितना व्यय हुआ, उसके मूल्य के बराबर काम भी वैज्ञानिकों ने नहीं किया है।

अणुविज्ञान के संदर्भ में भारत व चीन की तुलना कुछ सूचित अवश्य करती है। चीन ने आरंभ में अपने कम्युनिस्ट साथी, रूस से अपनी अणु योजनाओं के लिए सहायता माँगी थी किंतु रूस ने टका-सा जवाब दे दिया था। तब रूस ही क्यों, किसी भी राष्ट्र से सहायता की माँग न करने का संकल्प लेकर अपने ही बलबूते पर चीन ने 1963 को अर्थात् भारत से 36 वर्ष पहले अणुबम और हाइड्रोजन बम बना डाले थे।

उसके विपरित कनडा ने हमें रूकावट की वजह बतायी, अमरिका ने गुरुजल दिया, फिर भी हम आण्विक ईंधन बना नहीं सके। हम यूँ अपनी डीगें हाँकते रहे कि “1972 में जब पोखरण में श्रीमति इंदिरा गांधी ने अणुस्फोट करवाया था, तभी हमारा अणुबम भी तैयार था।” परंतु इस अणुस्फोट पर अमरिका ने नाराजगी व्यक्त की थी। तब अमरिकन अध्यक्ष कार्टर से एक भारतीय पत्रकार ने पूछा कि “चीन ने तो अणुस्फोट ही नहीं,

हाइड्रोजन बम का भी स्फोट किया, उस बारे में आप कुछ भी नहीं बोल रहे हैं और भारत के एक स्फोट पर जमीन-आसमान एक कर रहे हैं।” इस पर कार्टर का कथन था कि “चीन ने हमारा ईंधन इस्तेमाल नहीं किया था।” इसके बाद अमरिका ने गुरुजल देना बंद कर दिया था और तब से तारापूर का कारखाना अनेक वर्षों के लिए बंद ही था।

क्या इस बात से चीन व भारत की मानसिक दासता व मानसिक स्वतंत्रता का परिचय नहीं मिलता?

पं. नेहरू के संदर्भ में मेरे अंग्रेजी पुस्तक में एक लेख यह सूचित कर रहा था कि पं. नेहरू के विचारों से विज्ञान तथा वैज्ञानिक दृष्टि का संवर्धन होने की संभावना कतई नहीं है। उस लेख में स्वभाषाओं का त्याग करनेवाला देश भला विज्ञान के क्षेत्र में ही क्यों, किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर पायेगा! यह विचार व्यक्त थे। उस पुस्तक के प्रकाशकों को यह कथ्य जँचा ही नहीं था, सो उन्होंने मुझसे पूछे बिना ही पुस्तक से हटा दिया था। वह मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है, अतः यहाँ उसे प्रस्तुत करता हूँ।

अपनी भाषा के समर्थकों के खिलाफ ऐसा आरोप किया जाता है कि “भाषा का प्रश्न केवल भावनात्मक होता है। देश के समक्ष भूखमरी, आतंकवाद जैसी ज्वलंत समस्याएँ होते हुए भी भाषा का भावनात्मक प्रश्न उपस्थित करना ठीक नहीं है।” इस पर मैं यह सवाल करना चाहता हूँ कि “यदि स्वभाषा की माँग भावनाओं से जुड़ी है तो अंग्रेजी की माँग भावनाओं से प्रेरित क्यों नहीं हो सकती? अपनी भाषा के स्थान पर अंग्रेजी का उपयोग करें, इस विचार का एकमात्र सजग आधार भावना के अलावा और कोई आधार होता है! हमारे मुख से अंग्रेजी शब्द उच्चारित होने पर लोग हमें अंग्रेज समझेंगे और संसार में हमारी प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी। हम गँवार, काला आदमी, अम्मा-बाबा न होकर डैडी-मम्मी कहलाने वाले साहब हैं।” मन में अंग्रेजी के आकर्षण के मूल में स्थित ऐसी आधारहीन भावना डैडी-मम्मी सुनकर जागती है।

विज्ञान पर धन व्यय करने व वैज्ञानिकों के अच्छे स्तरीय जीवन-निर्वाह की व्यवस्था की जाने पर वैज्ञानिकों की संख्या में वृद्धि होगी। पर इसे वैज्ञानिक उन्नति नहीं कह सकते। वैज्ञानिकों की संख्या में वृद्धि का अर्थ है— विज्ञान की स्तरीय किताबों में जो कुछ लिखा गया है, उसे पढ़कर देश में दूसरों को समझाने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी होना। इस उन्नत विज्ञान का इस्तेमाल करने योग्य उन्नति देश की नहीं हुई होगी तो ये सभी वैज्ञानिक बेरोजगार हो जायेंगे और उनके पोषण के लिए समाज का धन अनुत्पादित तरीकों में प्रयुक्त होता रहेगा। भारत के संगणक तज्ञ, भारत में काम न मिलने कारण अमरिका जाते हैं। अब अमरिका ने भारत में अपने कारखाने खोलकर भारतीयों को काम देना प्रारंभ किया है। पर इस तरह से वैज्ञानिकों को प्राप्त काम का लाभ मुख्यतः परदेसी कंपनियों को होता है। वे काम भले ही भारत या अमरिका कहीं भी करें, लाभ तो अमरिका का ही होता है। संगणक तज्ञ बेरोजगार रहने से बच जाता है, परंतु उनका काम रोजमर्रा के कामों से अलग काम

नहीं होता. वे वैज्ञानिक कहलाते हुए भी कुशल कारीगर ही होते हैं. वैज्ञानिक उन्नति की मुख्य कसौटी है मौलिकता अर्थात् जो दुनिया में किसी को भी पता नहीं है ऐसे तथ्य की खोज करना. ऐसा करने के लिए अर्थात् किताब में क्या लिखा है, यह बताने के लिए तोता-रटंत होना ही काफी नहीं है. वैज्ञानिकों में स्वयं ही नया रास्ता खोजने के लिए अपनी बुद्धि पर विश्वास होना चाहिए. अपनी बुद्धि पर या अन्य किसी भी क्षमता पर विश्वास रखने के लिए अपनी क्षमताओं का अहसास कराने वाली शिक्षा-पद्धति प्राप्त होनी चाहिए. अगर बचपन से ही ऐसे संस्कार हुए हों कि “हम यही सोचें कि मैं या मेरे माँ-बाप या मेरा समाज सभी नालायक है. विकसित देशों का अनुकरण करने तक ही हमारी योग्यता है.” तो जन्मतः तेज दिमाग होते हुए भी उसका उपयोग नहीं हो पाता. एक मादा सियार अपने पिल्ले से कहती है—

“शूरुसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक ।  
यस्मिन्कुले प्रसूतोसि गजस्तत्र न हन्यते ॥”

अर्थात् ‘बेटे, तू शूर है, पढ़ा-लिखा है, सुंदर है फिर भी हाथी मारने की महत्वाकांक्षा मत रखना क्योंकि जिस कुल में तुमने जन्म पाया है, उस कुल में हाथी नहीं मारा जाता.’ स्वतंत्रता पाने के बाद हमने अपने बच्चों को यही सिखाया है— “बच्चों, बदनसीबी से तुम्हारा जन्म एक हिंदू के घर हुआ है. हिंदुओं को इतिहास में हर किसी की लातों की मार खाना ही लिखा है. अतः अब तो, ‘हम हिंदू हैं’, इस शर्मसार बात को भूल जाओ. जो कुछ हिंदू कहलाता है, उसे भूल जाओ. इसमें भाषा व धर्म मुख्य हैं. अनाड़ी की तरह ‘हे राम’ मत कहो, ‘ओ क्राइस्ट’ कहो. अंग्रेजी ही अपनी भाषा है, इसे मान लो. श्रेष्ठों की भाषा आत्मसात कर लो. उनके कुछ तो गुण तुममें आ जायेंगे. अंग्रेजी छोड़कर स्वाभिमान आदि की निर्बुद्ध बातें करोगे तो हजारों साल से जो हुआ था वही होगा. हमारी गँवारू भाषा में विज्ञान भला कैसे लिखा जायेगा. उसके लिए तो साहब की भाषा ही आवश्यक है. इस भाषा के प्रयोग से दिमाग भी तेज होता है.”

रोमन साम्राज्य में दास-प्रथा प्रचलित थी. दासों के गले में लकड़ी का एक पहिया डाला जाता था. दासता से मुक्ति मिले बगैर इसे निकाला नहीं जाता था. अब इस पहिए की इतनी आदत इन दासों को हो जाती थी कि दासता से मुक्त होने पर भी इसे न निकालने की बिनति करते थे. स्वभावतः उनकी यह बिनति मान्य होनी ही नहीं थी. फिर वे दास, स्वयं ही वैसा ही पहिया बनवाकर गले में पहन लेते थे. वह पहिया उनके गले में न होने पर, उनमें असहायता का भाव उभरता था. अंग्रेजी भी एक पहिया ही है, जिसे भारतीयों के गले में दासता की पहचान के रूप में पहनाया गया है. अंग्रेजों ने उसे निकाल फेंका था, पर हमने उसे स्वयं ही पहन लिया था. क्योंकि पं. नेहरू और कान्वेंट की शिक्षा पद्धति ने हम पर यही संस्कार किये हैं कि यह अड़गोड़ा गले में न होगा तो हम अनाथ हो जायेंगे.

अंग्रेजों का अर्थ है खुले में जाने से डरना. यह एक मानसिक बीमारी है.

इस रोगी को खुले में जाने से भय लगता है. घर से बाहर जाने के लिए किसी को साथ ले जाना होता है. वह अकेला बाहर जायेगा तो घुटकर बेहोश हो जाता है. मूलतः इस रोगी के पैरों और श्वसन प्रणाली में कोई दोष नहीं होता.

जिस मन पर ‘तुम नालायक हो’, ‘तुम गुलाम हो’ इन विचारों के संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी हुए हैं उनमें गुणवत्ता होकर भी वह प्रगट नहीं हो पाती.

क्या पं. नेहरू प्रवर्तित स्वराज्य में भी ऐसे ही संस्कार जनता पर नहीं किये गये? “राज्य करना तुम्हारा काम नहीं. इस देश में जो भी अच्छा शासन था, वह सब विदेशी आक्रमकों का था. लड़ना होगा तो विदेशी सेना में भर्ती होकर लड़ो. अपने ही शस्त्रास्त्र, अपने ही सेनापति, अपने ही सैनिक लेकर सेना बनाओगे तो मारे जाओगे. यह काम तुम्हारा नहीं है, वह अंग्रेजों का काम है. विज्ञान तो हमारा क्षेत्र है ही नहीं. हमारी भाषाएँ विज्ञान की शिक्षा दे पाने में या विज्ञान के विचारों को व्यक्त करने के लिए भी अयोग्य हैं और कभी भी उतनी समर्थ नहीं बन पायेंगी. हम अंग्रेजी को अपनी भाषा समझकर सीखें, तो कम से कम विज्ञान का ‘क, ख, ग’ हम सीख पायेंगे अन्यथा वन्य पशुओं के समान ही हमारी दशा होगी. हमारी भाषाएँ देश का शासन चलाने में भी सहायक नहीं बन सकतीं क्योंकि शासन चलाना हमारा कार्य नहीं है. वह तो मुगल या अंग्रेजों जैसे विदेशियों का काम है.” इस जैसे अनेक संस्कार जिस बालक पर बचपन से होते चले आ रहे हैं उससे विज्ञान के नये रास्तों की खोज का साहस भला कहाँ से आयेगा? अगर यह बालक यह देखेगा कि हमारी भाषाएँ उच्चतम विज्ञान की अभिव्यक्ति कर सकती हैं और उन्हें सक्षम बनाने में सहायक बनती हैं, तब ही इस बालक का आत्मविश्वास बढ़ेगा. जो व्यक्ति बार-बार यही दोहराता है कि उसी भाषा अयोग्य है, वह कभी भी योग्य नहीं हो सकती तो ऐसा व्यक्ति केवल भाषा पर ही दोष मढ़ता नहीं है वरन् अपने पुरखों व वंशजों दोनों पर शाश्वत रूप में अयोग्य की मुहर लगाता है. हमारी भाषाएँ अयोग्य हैं और हम अयोग्य हैं कहने में कोई खास अंतर नहीं है.

जो कहते हैं कि “अंग्रेजी की तोता-रटंत तारीफ करके दिमाग तेज नहीं हो पाया, विज्ञान के क्षेत्र में भी कोई तीर नहीं मार सके, अब अपनी भाषा में विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों को लिखना सागर में गागर भर पानी डालने जैसा व्यर्थ कार्य होगा”, वे अंग्रेजी में भी विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकें लिख नहीं पाये हैं. मराठी में विज्ञान की परिभाषाएँ लिखने के लिए भी कुछ स्वतंत्र विचार विमर्श करना होता है, उसे करने की क्षमता इनमें होना, तो दूर की बात है. आगे चलकर जब अंग्रेजी प्रकाशकों ने अपनी ही किताबों पर स्वामित्व के अधिकार का अहसास दिलाया और कहा कि उचित मुआवजा न मिलने पर भारत में उनके ग्रंथों का उपयोग करने की इजाजत नहीं दी जायेगी, तब हमारे शिक्षा-तज्ञ रो-रो कर कहने लगे, “इस तरह तो हमारे विज्ञान-शिक्षा की दुर्दशा हो जायेगी.”

भाषा किसी भी समाज का अविभाज्य घटक है. “किसी एक समाज की भाषा



दूसरे समाज की भाषा हो सकती है” ऐसा उदाहरण पूरे इतिहास में नहीं मिलता. आज इरान-इराक से लेकर सुदूर आग्नेय एशिया तक अपने धर्म को बनाये रखकर शासन की राजनीति के बल पर नया धर्म स्वीकार करने वाले 107 करोड़ मुसलमान हैं. इनमें से किसी ने भी अपनी मूल भाषा को छोड़कर अरबी को अपनाया नहीं. बांगला देश में छोड़ दिये गये हिंदू धर्म के प्रति प्रेम भाव नहीं है, घृणा का भाव है, परंतु उनकी अस्मिता बंगाली ही रही है उसका स्थान अरबी या अंग्रेजी नहीं ले पायी.

अफ्रिका के भी कुछ लोगों ने अपनी भाषा छोड़कर अंग्रेजी को अपनी मातृभाषा मानने की कोशिश की. परंतु उनके मुख से निकली अंग्रेजी में इतना परिवर्तन हुआ कि अंग्रेज उसे समझ ही नहीं पाते थे. उसे ‘पिजन’ अंग्रेजी नाम मिला. पिजन अंग्रेजी बोलनेवालों को अंग्रेजों की अंग्रेजी नहीं समझती. तात्पर्य यह है कि भाषा का प्रत्यारोपण नहीं हो सकता. महाराष्ट्र के कुछ लोग इंग्लैण्ड जाकर बस जाते हैं और उनकी भाषा मराठी के बजाय अंग्रेजी हो जाती है तो इसमें गैर कुछ भी नहीं किंतु सारा का सारा महाराष्ट्र तो इंग्लैण्ड जाकर बस नहीं सकता. और अगर बस भी जाय तो मराठी व्यक्ति के अंग्रेजीदाँ होने के स्थान पर अंग्रेजों के बच्चे मराठी बोलने लगेंगे. इंग्लैण्ड के कुछ हिस्सों में पंजाबियों की तादाद इतनी ज्यादा है कि अंग्रेजों के बच्चे पंजाबी बोल लेते हैं. कहना यह है कि ‘कान्टेंट कल्चर’ को कितना भी बढ़ावा दिया जाय, मराठी से महाराष्ट्र की मुक्तता नहीं है. और मराठी भाषा नालायक है तो महाराष्ट्र ही नालायक है और यह नालायकीपन कभी भी दूर नहीं हो सकता, इस बात को मानना ही पड़ेगा.

देश भाषा की इस अपात्रता के आरोप में थोड़ीसी भी सच्चाई होती तो पिछले पचास वर्षों में देशी भाषा को नष्ट करने के लिए नेहरूवाद के अंतर्गत जितने भी प्रयास हुए उनसे कुछ भला अवश्य हुआ होता. परंतु मूलतः देशी भाषा की अपात्रता के आरोप में और अंग्रेजी की प्रशंसा-गीत में तिलमात्र भी सच्चाई नहीं है. वस्तुतः विज्ञान का भाषा से कोई संबंध नहीं है. न्यूटन के कार्य का अनुवाद किसी भी भाषा में संभव है तथा कोई भी वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानता कि अंग्रेजी या लैटिन न आने पर न्यूटन को समझ नहीं पायेंगे. इसके विपरित यह निर्विवाद रूप से सच है कि अंग्रेजी न जानने पर शेक्सपीयर का मर्म जानना कठिन हो जायेगा. भाषा का सही महत्त्व साहित्य के क्षेत्र में है, विज्ञान में नहीं. दुनिया के सैकड़ों भाषाओं में विज्ञान व्यक्त करने के प्रयास किये गये हैं पर ऐसा सुनने में नहीं आया कि किसी एक भाषा में लिखित विज्ञान समझ से परे है. रूस में चौदह भाषाएँ हैं, उन सभी भाषाओं में विज्ञान पढ़ाया जाता है. यह मानना गलत है कि रूस के सभी रूसी लोग रूसी भाषा में ही विज्ञान पढ़ते हैं. जो यह कहते हैं कि संसार की सारी भाषाओं ने जो हासिल किया है वह मराठी नहीं कर पायेगी, वे सभी लोग दासतांध बन गये हैं.

कहते हैं कि दुनिया के चालीस प्रतिशत वैज्ञानिक साहित्य अंग्रेजी में उपलब्ध है. परंतु यह स्थिति प्रथम महायुद्ध के बाद की है. उससे पहले फ्रांसीसी व जर्मनी इन दो भाषाओं

में अंग्रेजी से भी अधिक साहित्य उपलब्ध था. अर्थात् यह स्थिति कालानुसार परिवर्तनीय है. इसके बलबूते पर हम हमारी शिक्षा का स्वरूप तय नहीं कर सकते. बदलाव की इस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि अंग्रेजी को अधिक महत्त्व न देते हुए अंग्रेजी के अलावा अन्यदेशीय भाषा जाननेवालों की संख्या कम से कम एक-दो हजार तक हो तो उस भाषा को माध्यम बनाने व पढ़ने की योजना बनाई जा सकती है.

दूसरी बात यह है कि यह अनिवार्य नहीं है कि मात्र विज्ञान के ज्ञान के लिए ही भाषा की आवश्यकता होती है. महाराष्ट्र में ईसाई धर्म का प्रचार करनेवाले लोगों का मराठी जानना अनिवार्य शर्त है अतः आक्सफर्ड में मराठी पढ़ी जा रही थी. दुनिया की कोई भी भाषा अनुपयोगी नहीं है. किसी भी भाषा की उपयोगिता हमें जीवन में क्या करना है, इस बात से तय होती है. सारे के सारे विद्यार्थियों को अंग्रेजी सीखना अनिवार्य करने का अर्थ है— हम समय और धन का अपव्यय कर रहे हैं. सरकारी कामकाज तथा शिक्षा के क्षेत्र में स्वभाषा का उपयोग हो, तो जिन्हें संशोधन कार्य में ही जीवन भर कार्य करना हो, उन्हें छोड़कर, शेष लोगों को अंग्रेजी सीखने की जरूरत नहीं रहेगी और यह जरूरी नहीं कि वे अंग्रेजी भी सीखें. किसी एक जागतिक भाषा को सीखने पर काम बन सकता है.

जिस अंग्रेजी भाषा की उपयोगिता इतनी निम्न स्तर की है, उस भाषा के अध्ययन पर पिछले पचास वर्षों से देश की सारी शिक्षागत साधनों पर व्यय बढ़ता जा रहा है. पर यह केवल अनावश्यक व्यय भर नहीं है. उसका परिणाम यह होगा कि भारत का संपूर्ण भविष्य अंधकारमय बनता जा रहा है. राष्ट्र के नागरिकों में इस शिक्षा पद्धति ने ऐसी भावना को जमाये रखा जिसके तहत राष्ट्र का नागरिक स्वयं को और राष्ट्र को नालायक समझने लगा है. यह भावना जिस किसी राष्ट्र में जड़ जमा जाय उस राष्ट्र का कोई भावी स्वरूप होता ही नहीं है.

राष्ट्रों के उत्थान-पतन की कारण मीमांसा से पता चलता है कि कोई भी राष्ट्र या देश हमेशा के लिए वैभव संपन्न या हमेशा के लिए दैन्यावस्था में नहीं होता. 19 वीं व 20 वीं सदी में ब्रिटेन को संसार की साम्राज्ञी कहा जा रहा था, उसी ब्रिटेन पर सैकड़ों वर्षों तक रोमन व फ्रांसीसियों ने राज्य किया था. ब्रिटेन की समृद्धि का इतिहास लगभग 500 वर्षों का है. जिस रोम का दुनिया भर साम्राज्य फैला था, उस रोम की, पिछले हजार वर्षों की स्थिति दयनीय थी तथा रोम के उत्तराधिकारी, जो इटली में थे, पराधीनता से जकड़े हुए थे.

तुर्किस्तान ने भी कुछ सदियों तक बहुत बड़े साम्राज्य का उपभोग लिया था, परंतु प्रथम महायुद्ध के बाद वह ‘यूरोप का एक दर्दिला कोना’ के रूप में पहचाना जाने लगा. ईसा पूर्व हजार से ईसा के बाद के हजार वर्ष इन दो हजार वर्षों की अवधि भारत के लिए सभी क्षेत्रों में समृद्धि का काल था. इस काल विशेष में आग्नेय तथा पूर्व एशिया में हिंदुओं के बड़े-बड़े साम्राज्य थे. इस्लाम के उदय के बाद अरबों ने उत्तर अफ्रिका व

दक्षिण यूरोप पर अपना अधिराज्य स्थापन किया और जीवन के सभी क्षेत्रों में अग्रसर हो गये. परंतु आज उन्हें नन्हा-सा इस्त्रायल लातों से पीट रहा है.

उत्थान पतन के इस इतिहास से यह ज्ञात होता है कि जब किसी देश के समृद्ध होने का कारण उसके गुणसंपन्न नागरिक होते हैं और गुणहीन नागरिकों के कारण उस देश का अधःपतन होता है. गुण वही होते हैं पर विशिष्ट अभिवृत्ति उन्हें क्रियान्वित करती है, दूसरी विशिष्ट मनोवृत्तियाँ उन्हें निदाल बना देती है. अरब व तुर्की के उत्थान का कारण इस्लाम कहा जा सकता है और संस्कृत भाषा व उसके साहित्य को भारत के उत्थान का कारण कहा जा सकता है. जीतने की लालसा (महत्वाकांक्षा), उच्च स्तरीय कलात्मक व साहित्यिक परिवेश, व्यापार व विज्ञान में सफल होने पर एक किस्म की ईर्ष्या या स्पर्धा जाग उठती है, जिससे उस मनुष्य के गुणों की कसौटी हो जाती है. हाल ही के इतिहास में तमिलों को योद्धा नहीं माना जाता था. परंतु श्रीलंका द्वारा अपमानित होने के कारण उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचती है और तमिल की महत्ता से ओतप्रोत तमिल एक प्रस्थापित सरकार के खिलाफ दशक-दशक विद्रोह करते रहे. जीत की लालसा को जगाने का कोई कारण उत्पन्न हो जाय तो देश की उन्नति संभव है, अन्यथा उनमें गुण होकर भी ना के बराबर ही होते हैं. जिस शिक्षा की टेक यह है कि “आप जातिगत अपात्र हो तथा अंग्रेजों के अधीन होकर रहने के अलावा अन्य दूसरा कोई पराक्रम आप नहीं कर सकते” उस देश को, उनका वैज्ञानिक विकास होगा, ऐसी आशा करना भी निरर्थक है.

भाषा अन्य साधनों की तरह नहीं है. वह समाज का अविभाज्य अंग है. इसलिए किसी की भाषा को सदैव अपात्र घोषित करने का अर्थ उस भाषा को बोलनेवालों को अयोग्य साबित करना होगा.

लोकहितवादी तथा उनके आधुनिक अवतार पं. नेहरू का सम-समान समझनेवाला समुदाय सचमुच ही हिंदुओं को अयोग्य मानता है और सदैव व सब तरह से अंग्रेज उनसे श्रेष्ठ है, तो मैं यह कहता हूँ कि यह समुदाय सदैव ‘विटुल’, ‘विटुल’ नामस्मरण करने के साथ-साथ ‘अंग्रेज’-‘अंग्रेज’ का घोष करें. वे जानते हैं कि वास्तव में लोकहितवादी व पं. नेहरू की यह घोषणा, हिंदुओं के हित की नहीं है. ठीक है, इसे हम सही मानकर भी चलें कि हिंदू अपात्र हैं, तो क्या अंग्रेजों के प्रशंसक तथा दास बनकर उनका उद्धार होना है? पराधीनता को देश की उन्नति का रास्ता कैसे करें?

अंग्रेजों से हमारे पराजित होने का अर्थ इतना ही है कि हम उनसे कहीं न कहीं कम थे. पर इससे यह अर्थ द्योतित नहीं होता कि हम पूरी तरह से अपात्र हैं, कुस्ती खेलनेवाला पहलवान गिरता ही है, इससे उस पहलवान को हम अपंग घोषित नहीं कर सकते. किसी देश के पराजित होने का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि उसकी भाषा, साहित्य, सामाजिक रीति-रिवाज, धर्म आदि सभी कुछ निंदनीय व त्याज्य है और उसके बिना उसका उद्धार संभव नहीं है. भारत लगभग दो हजार सालों तक दुनिया का अंग्रेता

देश कहलाया गया था. उसका कारण विज्ञान, कला-कुशलता, तात्त्विक-चिंतन तथा सामाजिक रीति-रिवाज भारतीयों के मन में समृद्ध व वैभवसंपन्न जीवन जीने की लालसा जागृत करते थे. ऐसी स्थिति न होती, तो भारतीय धर्म-प्रचारक को यूरोप में हंगेरी तक, एशिया में जपान तक जाना असंभव हो जाता और भारतीय वीरों को सुदूर समुद्र पार जाकर आग्नेय एशिया में विशाल साम्राज्य की स्थापना करना संभव नहीं होता. अगर संस्कृत भाषा का पुनरुज्जीवन, तक्षशीला-नालंदा जैसे विश्वविद्यालयों की पुनःस्थापना, संस्कृत प्रचुर शुद्ध देशी भाषाओं में अद्ययावत विज्ञान व साहित्य तथा प्राचीन कलाओं का पुनरुज्जीवन व नूतनीकरण के कार्य पर स्वतंत्र भारत ने अपना ध्यान केन्द्रित किया होता तो कम से कम आज वह चीन के समकक्ष प्रगत राष्ट्र कहलाया गया होता. क्योंकि प्राचीन भारत का इतिहास इसी परिवेश की उपज था.

पं. नेहरू उपरोक्त सभी बातों का उपहास करते रहे और किसी भी राष्ट्र की हानि का जिम्मेदार तय करनेवाली पराधीनता की पूजा की शिफारिश करते रहे.

नेहरू युग से भारत के अधःपतन की चर्चा को समझाने के लिए जीवशास्त्र का एक उदाहरण सटीक लगता है. स्त्री-पुरुष के अलावा एक तृतीयलिंगी या नपुंसक व्यक्तियों का भी एक समाज है. वे न नर है न नारी. उनका एकमात्र दोष यह है कि वे संभोग क्षम न होने के कारण प्रजोत्पत्ति नहीं कर सकते. अन्य किसी भी मामले में वे अधूरे नहीं होते. वे बुद्धि व शारीरिक शक्ति के संदर्भ में अन्यो से हीन भी नहीं होते. वे यदि अपने पोशाक और अपनी व्यवहार शैली से अपनी भिन्नता नहीं दर्शाते, तो कोई उन्हें पहचान भी नहीं सकेगा. उनमें से भी वकील, डॉक्टर, वैज्ञानिक, राजनेता बन सकते हैं. परंतु जब जन्म के साथ ही उन पर उनकी अपात्रता के संस्कार होते हैं तो भला उनकी क्षमताओं का उपयोग कैसे होगा? स्वातंत्र्योत्तर काल में पं. नेहरू ने भारत को इन्हीं हिजड़ों की शिक्षा का पाठ दिलाया. अतः समूचा देश अपनी अंगभूत क्षमता के बावजूद हिजड़ा ही रहा.

□□

## ॥ पं. नेहरू की पंचवार्षिक योजनाएँ ॥

पं. नेहरू की प्रथम गर्वोक्ति थी कि उन्होंने भारत का 'वैज्ञानिक विकास' किया। उनकी दूसरी गर्वोक्ति कि उन्होंने भारत का 'औद्योगिकरण' किया भी उतनी ही मशहूर हुई थी। औद्योगिकरण का मकसद जीवन स्तर में सुधार होना होता है या होना चाहिए। अतः पं. नेहरू द्वारा किये गये औद्योगिकरण का मूल्यमापन करने के लिए यह देखना होगा कि भारत का जीवन स्तर कितना ऊँचा उठा है, न कि पं. नेहरू ने कितने कारखाने स्थापित किये। किसी भी व्यवसाय से लाभ प्राप्त करने में काफी समय लगता है। पर यह माना जाता है कि विलम्ब एक पीढ़ी से अधिक न हो। अगर पं. नेहरू के सतरह वर्षों के कार्य-काल के बाद भी भारतीयों के जीवन स्तर में उन्नति नहीं हुई होगी, तो कहना होगा कि पंचवार्षिक योजनाएँ केवल उपयोग शून्य ही नहीं, हानिकारक भी थीं। क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि वे योजनाएँ उपलब्ध पूँजी को खत्म करनेवाली ही थीं।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा जीवन स्तर के मूल्यमापन के लिए स्थूल राष्ट्रीय उत्पादन, आयुर्मान, साक्षरता के निकष बताये थे। इन निकषों के आधार पर दुनिया के सभी देशों के मानव विकास के संदर्भ में एक सूची बनाई गयी। इस सूची के अनुसार पं. नेहरू का कार्य-काल जब आरंभ हुआ था, तब भारत का क्रमांक 32 वाँ था और उसके अंत में 60 वें क्रमांक पर गिर गया था। (टाइम्स ऑफ इंडिया)

प्रथम प्रकरण में यह प्रतिपादित किया है कि पं. नेहरू के बाद आज तक पं. नेहरू की नीति के अनुरूप ही भारत का शासन काम कर रहा है। नरसिंह राव के कार्य-काल में भारत को आंतरराष्ट्रीय दबाव के कारण पं. नेहरू के समाजवाद से दूर होना पड़ा था। फिर भी ऐसा कहना गैर नहीं होगा कि राजीव गांधी के कार्य-काल तक आर्थिक क्षेत्र में पं. नेहरू की नीतियों का ही प्रभाव था राजीव गांधी के कार्य-काल के आखरी दिनों में भारत के विकास की तुलनात्मक स्थिति इस प्रकार थी—

देश	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आमदनी	औसत आयु सीमा	साक्षरता का प्रमाण
भारत	२९०	५८	३६
पाकिस्तान	३७०	५५	२६
बांग्ला देश	१७०	५१	२९
श्रीलंका	३७०	७३	८७
म्यानमार (ब्रह्मदेश)	२३०	६०	७८.

उपरोक्त आंकड़ों से यह ज्ञात होता है कि भारत में प्रति व्यक्ति की आमदनी

श्रीलंका, ब्रह्मदेश व पाकिस्तान से कम है। आयु सीमा व साक्षरता में यह क्रमांक श्रीलंका व ब्रह्मदेश से भी कम है। संयुक्त राष्ट्र ने उपरोक्त तीन मुद्दों को सही मानते हुए मानव विकास की एक सूची तैयार की है। उसमें भारत का क्रमांक पाकिस्तान के बाद आता है। बांग्ला देश की कीमतों को देखें तो बांग्ला देश का आम नागरिक अपनी आमदनी में जिस स्तर पर जी सकता है, उस स्तर पर भारतीय आम नागरिक अपनी आमदनी में जी नहीं सकता। कुल मिलाकर यह कह सकते हैं कि जिनके साथ भारत स्वतंत्र हुआ उन पड़ोसी राष्ट्रों की तुलना में भी भारत की उन्नति पीछे ही है।

अन्य देशों से तुलना करते हुए पं. नेहरू के कार्य-काल के प्रारंभ से अंत तक की कालावधि को देखें तो भारत की दशा में सुधार हुआ था या नहीं, तो इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में ही दिया जायेगा। पर इसका श्रेय पं. नेहरू को नहीं दिया जा सकता। क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद हर देश तरक्की करता ही है। द्वितीय महायुद्ध के बाद कोई भी देश किसी दूसरे के अधीन नहीं रहा। अतः दूसरों की अगतिकता सहने का प्रमुख कारण तो दूर हुआ था और सभी देशों ने उन्नति की है। कोई पिता अगर यह कहे कि मेरा बेटा सात साल पहले पहली कक्षा में था आज सातवीं कक्षा में है तो कहना होगा कि आपका बेटा कोई तीसमारखाँ नहीं है उसकी उम्र के लगभग सभी लड़के सातवीं कक्षा में गये हैं। सात वर्ष तक एक भी लड़का पहली कक्षा में नहीं रहा है।

### गरीबी हटाव या गरीब को हटाव

नागपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति डॉ. बोकरे ने मुझे पं. नेहरू के देहांत के बाद के दशक की काल-सीमा में दुनिया के देशों की उन्नति के आँकड़े दिये थे। उनमें केवल दो ही देश, नेपाल और इथियोपिया हर क्षेत्र में भारत से पिछड़े दिखाई दे रहे थे। बांग्ला देश में बाल-मृत्यु का अनुपात कम होने के कारण इस संदर्भ में वह भारत के आगे था।

पं. नेहरू की योजनाओं से कितनी गरीबी दूर हुई है इसका अध्ययन डॉ. वैद्य और डॉ. कुलकर्णी नामक दो अर्थशास्त्रज्ञों ने किया था। उन आधारभूत आँकड़ों की सहायता से ऑक्लर, दत्त और अभिजित सेन ने अपना अध्ययन १९९४ के आसपास पूरा किया जो अनेक समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ था। वह इस प्रकार है—

### गरीबी रेखा से नीचे के लोगों का औसत

वर्ष	ग्रामीण	नागरी
१९५१	४७	३५
१९५४-५५	६४	४६
१९५७	६२	४८
१९६०-६१	४५	४४



१९७०-७१	५४	४४
१९८९-९०	३४	३३
१९९०-९१	३६	३२
१९९२	४३	३२

इन आँकड़ों से पता चलता है कि प्रथम पंचवार्षिक योजना के बाद गरीबी और अधिक बढ़ गई। आनेवाले सालों में भी गरीबी कम होने के कोई आसार नहीं आते। गाँव की गरीबी 1992 में 1951 के आसपास आ रही थी। परंतु चालीस वर्षों में भी पं. नेहरू की नीति के कारण 33 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे ही थे।

दूसरी महत्वपूर्ण बात पर ध्यान देना जरूरी है कि गाँव की गरीबी का औसत नागरी गरीबी से बहुत अधिक है। अधिकांश लोग तो गाँवों में ही रहते हैं अतः गाँव की गरीबी में गिरावट न आने का अर्थ यही होता है कि कुल मिलाकर देश की गरीबी कम नहीं हुई है।

स्वराज्य के आरंभिक काल में ही पं. नेहरू को पत्र लिखकर महात्मा गांधीजी ने यह सूचित किया था कि पंचवार्षिक योजनाओं का प्रारंभ गाँवों से हो। पं. नेहरू ने इस बात को सहज रूप से मजाक मानकर उड़ा दिया था। क्योंकि महात्मा गांधी अपने अत्याधिक व्यावहारिक विचारों को भी नीति व अध्यात्म का पोशाख पहनाने का प्रयत्न करते थे। अपने पत्र में उन्होंने कहा था कि “गाँव के लोग शहरवासियों की तुलना में अधिक सात्विक होते हैं।” यह चित्र कल्पना में ही उभरता है। यूँ तो गाँवों से योजनाओं का प्रारंभ करने के ठोस कारण कई हैं। प्रथमतः अधिकांश जनता गाँव में रहती है। अतः आर्थिक योजनाओं के संदर्भ में गाँवों की ओर ध्यान न देने का अर्थ होगा बहुसंख्या की महत्ता को अस्वीकार करना। केवल यहाँ बहुसंख्यक होना ही कारण नहीं है। द्वितीयतः गाँव हमारे मुख्य अर्थ-उत्पादन का केन्द्र है। अधिकांश लोगों की आजीविका खेती है। खेती गाँवों में ही होती है। पर आज की खेती गाँववासियों को सधन (अमीर) नहीं बना सकती। उसे सक्षम बनाने के लिए, खेती से ही संबंधित उद्योग गाँव में ही खोले जा सकें, ऐसे उद्योगों का प्रारंभ होना आवश्यक है, जिससे गाँव के लोगों के रहन-सहन का स्तर विकसित होगा और जीविका के लिए गाँव से बाहर जाना नहीं पड़ेगा। आज गाँव से कई लोग मजदूरी करने के लिए बड़े शहरों की ओर दौड़ रहे हैं कि शहर अब व्यापारियों की बस्ती हो गयी है। मुंबई जैसे महानगरों में मजदूरों के सिर पर घर की छत नहीं है। उनको मलमूत्रविसर्जन की ठीक व्यवस्था नहीं है। अतः सारी मुंबई में गंदगी का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है। पुलगाँव जैसे गाँव में मारवाड़ियों ने अंग्रेजों के काल में मिल की शुरुआत की थी। ऐसी ही मिलें व अन्य अनेक उद्योग गाँवों में शुरू किये जा सकते हैं। परंतु पं. नेहरू के दिमाग में कुछ निर्बुद्ध (बेवकूफ) समीकरणों ने डेरा जामा रखा था। उदाहरण के लिए विज्ञान=अंग्रेजी, इस समीकरण ने शिक्षा को तबाह कर दिया और औद्योगिकीकरण=नगरीकरण, इस समीकरण ने आर्थिक क्षेत्र को नष्टप्राय कर

दिया था। आमदनी की गिनती रूपयों में होवे तो गाँव की तुलना में मुंबई आकर आमदनी जरूर बढ़ी है, परंतु गाँव में भरी बारीश में उन्हें खुले में सोना नहीं पड़ता था। मलमूत्रविसर्जन की बहुत अच्छी सुविधा रहती थी और हवा-पानी का वातावरण स्वास्थ्य को सुदृढ़ बनाने वाला था। इसे ध्यान में रखें तो रूपये में आमदनी की गिनती से भारत की उन्नति का, जो चित्र दिखाई दे रहा है, वह अधिकांशतः अवास्तविक ही है।

### विदेशियों का अनुकरण और विदेशी यात्रियों का प्रदर्शन

विज्ञान=अंग्रेजी, औद्योगिकीकरण=महानगरीकरण, इन दो समीकरणों के साथ तिसरा भी एक समीकरण पं. नेहरू के दिमाग में था— औद्योगीकरण=भारी उद्योग। अतः उन्होंने टाटा जैसे अनुभवी उद्योगकों की सलाह को नामंजूर करके लोह निर्माण के विराट कारखानों को स्थापित किया। परिणाम यह हुआ कि इन कारखानों में निर्मित लोहा सोने से अधिक मूल्य का होने के कारण उसका कोई खरीददार नहीं रहा। यह बात लौह प्राधिकरणों के कई परिपत्रकों में व्यक्त हुई है।

भारी उद्योगों का एक दोष यह है कि वे उसकी लागत की पूँजी की तुलना में बहुत कम रोजगार के अवसर पैदा करते हैं। उसके साथ-साथ अगर उत्पादित माल की खरीदी न के बराबर हो तो उसमें लगाई गई रकम और समुद्र में फेंका गया धन इसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता।

लौहनिर्मिति को औद्योगिकीकरण की नींव में डली एक ईंट सदृश्य कहना, लौहनिर्मिति की लागत की रकम समुद्र में फेंके धन बराबर घर बनवाना ही नहीं होगा तो नींव पर किया गया व्यय व्यर्थ कहलाया जा सकता है। किंतु सच यह है कि पं. नेहरू घर बांधना नहीं चाहते थे।

परंतु नींव में रहनेवाले कौन-से उद्योगों पर धन लगाया जाने पर वह जाया नहीं जायेगा। इस बारे में पं. नेहरू ने सोचा ही नहीं था। रूस में स्टालिन ने बड़े-बड़े कारखाने शुरू किये थे, इसलिए पं. नेहरू ने भी निकाले। यह सत्य नहीं है कि नींव स्वरूप शुरू किये गये उद्योगों में लगाया धन उपयोग में काफी देरी से ही आता है। रास्ता बनाना यह नींव का ही उद्योग है। उसमें कई लोगों की मजदूरी देने की शक्ति है और रास्ता बनने पर तुरंत ही उसका उपयोग आर्थिक वृद्धि के लिए होता है। लौह कारखाने के संदर्भ में ऐसा कुछ होता नहीं है। जिस तरह गाँव में, जो चीजें बनती हैं, उनकी खपत, तुलना में गाँव में कम ही होती है। गाँवों के निकट के नगरों से जुड़ने पर गाँव से दूध-सब्जी-फल जैसा नाशवान माल के लिए बाजार उपलब्ध हो जाता है और गाँवों में समृद्धि आती है। अतः मार्ग इस मूलभूत उद्योग की ओर जितना ध्यान अटलबिहारी वाजपेयी की सरकार ने दिया था, उसका दशांश ध्यान भी पं. नेहरू की सरकार ने नहीं दिया था। इसका मूल कारण भी पं. नेहरू की जागतिक ख्याति का लालच ही था। लोहे के प्रचंड कारखानों को देखने भर के लिए परदेसी यात्री आते हैं किंतु किसी गाँव में, दस मील दूर, शहर से जोड़नेवाला,

गिट्टी से बना, केवल बैलगाड़ी के योग्य ही बना रास्ता देखने भला कौन-सा विदेशी यात्री आयेगा? इन रास्तों से भला पं. नेहरू को आंतरराष्ट्रीय कीर्ति मिलती भी कैसे?

जब पं. नेहरू को यह अहसास होने लगा कि उनके कार्यकाल में भारत की जो आर्थिक उन्नति हुई है, वह दस-बारह लोगों में बताने योग्य नहीं है तब वे घोषणा करते हैं कि “मेरी महान योजनाओं से आया धन कहाँ लुप्त हो गया है, इसकी खोज करने के लिए मैं एक समिति स्थापित करूँगा” और ऐसी किसी तरह की समिति का गठन हुआ था, यूँ न तो मैंने कहीं पर पढ़ा और न ही ऐसी समिति का प्रतिवेदन कहीं उपलब्ध हुआ था.

अपनी नाकामयाबी को छिपाने हेतु पं. नेहरू ने एक दूसरी ही जुगत लड़ाई. उन्होंने भारत की उन्नति को नेहरू की उन्नति का मूल्य न कहकर हिंदुओं की उन्नति का भाव (Hindu Rate of Growth) नाम दिया. उन्हें शायद यह सूचित करना था कि “हिंदू इतने अपात्र हैं कि मुझ जैसा प्रधानमंत्री पाकर भी वे अधिक उन्नति नहीं कर पाये. मेरे अलावा अन्य कोई दूसरा प्रधानमंत्री होता तो उन्हें कोई भीख भी न डालता.” परंतु इन योजनाओं को लागू करने में कौन-सी हिंदुवादी बाधा आ खड़ी हुई थी, क्या इसे कोई भी नेहरू का भक्त बता पायेगा?

भारत की दुर्दशा का जिम्मेदार पं. नेहरू के अलावा दूसरा कोई नहीं था, इसे सिद्ध करने के लिए इतना काफी है कि जब पं. नेहरू प्रधानमंत्री बने, तब भारत का क्रमांक 32 वाँ था और अब पं. नेहरू की वजह से 60 तक नीचे गिर गया. पं. नेहरू जब पदासीन हुए, तब भी भारत हिंदू ही था और उसकी आर्थिक स्थिति पं. नेहरू द्वारा आँकी गई स्थिति से तुलना में तब बहुत ही अच्छी थी.

### अंग्रेजीदाँ बनाने की योजना

शिक्षा के क्षेत्र के लिए पं. नेहरू का कार्य सर्वाधिक शर्मनाक है. इस बात का सबूत है कि बीसवीं सदी के अंत में दुनिया के निरक्षरों में 55 प्रतिशत निरक्षर भारत में रहते थे. एक बात तो साफ थी कि जो यह चाहता है कि भारत का सारा शिक्षागत व व्यवस्थापनगत कारोबार अंग्रेजी में हो, ऐसे व्यक्ति के लिए ‘सारी गरीब से गरीब जनता की शिक्षा’ की कल्पना का बोध हो पाना भी असंभव ही था.

देश की उन्नति की एकमात्र कसौटी है आयु-सीमा. इस कसौटी में सब कुछ शामिल हो जाता है. यदि मनुष्य गरीबी व दर्द से घिरा हो तो वह अधिक जी नहीं सकता. पं. नेहरू की योजनाओं के बाद भारत की औसत आयु-सीमा केवल 58 वर्ष थी और श्रीलंका का यह औसत बहुत ही कम था, इस तथ्य पर भी पं. नेहरू के आर्थिक कर्तबगारी में खोट नजर आती है.

पं. नेहरू की योजनाओं से दस करोड़ लोगों का लाभ हुआ. इनमें अधिकांश अंग्रेजी में पढ़े लिखे थे. इस वर्ग को पहले कभी देखी भी न होगी, ऐसी सहूलियतें मिली थीं. महँगाई में वृद्धि हुई थी तो आमदनी ही नहीं, अवकाशप्राप्ति की आमदनी में भी बढ़ोत्तरी

हुई थी. पारिवारिक निवृत्ति-वेतन आदि कल्पनाएँ अंग्रेजों के राज्य में कल्पना से परे की बात थी. पं. नेहरू के कार्यकाल में नौकरशाही में अत्याधिक वृद्धि हुई. यह बढ़ोत्तरी काम की अधिकता के कारण नहीं थी. अंग्रेजों के शासनकाल की तुलना में पं. नेहरू के कार्यकाल में अंग्रेजीदाँ वर्ग में बेरोजगारी की प्रतिशत कम ही थी और इसलिए यह वर्ग पं. नेहरू की ओर आलोचनात्मक दृष्टि से देखने की ताकत खो बैठा था. पं. नेहरू के प्रचारों के कारण स्वार्थ के अलावा और कुछ सोचा भी जा सकता है ऐसी कल्पना के पनपने के आसार भी नजर नहीं आते थे. इसके अलावा अंग्रेजों के शासनकाल की तरह अनुशासन के डण्डे का भय भी न था. अतः कार्यालय में ही काम के समय में ताशपत्तों की महफिल जमती थी और कोई काम बताया भी जाता था तो ‘यह मेरा काम नहीं है’ कहा जाता था. अब यूँ कहा जाने पर, किस नियम का आधार लेकर सफाई पेश की जा सकती है, इस दिशा में भी सरकारी नौकर सोचने लगा था.

पं. नेहरू के पसंदीदा समाजवाद की महिमा का दूसरा रूप यही था. जो नौकरी देता है, वही हमारा शोषक भी है और उसका विरोध करना ही चाहिए. इस भावना को मार्क्सवाद ने अंकुरित-पुष्पित-पल्लवित किया है. पं. नेहरू के काल में मार्क्सवाद का डंका बड़े जोर से बजाया जा रहा था.

पं. नेहरू ने अपनी योजनाओं की दुर्गत का दोष हिंदुत्व पर धरा. परंतु हिंदुत्व के अलावा अन्य कई बहाने बताये जा रहे थे. उनमें से सर्वकालिक कारण है भारत की बढ़ती हुई आबादी. परंतु जनसंख्या की इष्टता का प्रतिशत तो उस देश का क्षेत्रफल तथा अन्य प्राकृतिक संपदा के अनुपात में निश्चित की जाती है. श्रीलंका का जनसंख्या का प्रतिशत प्रति किलोमीटर 249 और भारत की 247 है अर्थात् श्रीलंका से कम है, फिर भी श्रीलंका ने अधिक उन्नति की है. केवल क्षेत्रफल को ही ध्यान में न रखते हुए अन्य प्राकृतिक संपदा को देखें तो वह अधिकांश देशों की तुलना में भारत की जनसंख्या के अनुकूल है. भारत में अन्य देशों की तुलना में शेष जमीन से अधिक जमीन उपजाऊ है तथा मानचित्र पर भारत देश से अधिक बड़ा दिखाई देनेवाले चीन देश से अधिक ही है. अतः जनसंख्या का कारण फुसफुसा ही है.

जो कहते हैं कि छोटे देश की उन्नति होना अधिक आसान है, उन्हें चीन का उदाहरण क्यों नजर नहीं आता? और जब कारण पोले दिखाई देने लगते हैं तो नेहरू भक्त प्रजातंत्र को भला-बुरा कहते हैं. पी. व्ही. नरसिंह राव ने भी अमरिका जाकर भारत की असफलता का दोष प्रजातंत्र के माथे मढ़ा है. ऐसा कहते समय उन्हें श्रीलंका के प्रजातंत्र का स्मरण नहीं हुआ. वे यह भी भूल गये थे कि अमरिका में भी प्रजातंत्र का राज है और प्रजातंत्र को प्रगति में बाधक बताते हुए वे मजाक का विषय बन जायेंगे. यह बताया गया था कि उन्नति का अध्ययन करनेवाले आँकड़ों ने प्रजातंत्र और उन्नति के कार्यकारण संबंध की जाँच की है. प्रजातंत्र उन्नति में बाधक है इस मान्यता का कोई टोस सबूत उपलब्ध नहीं है.

अब जब पं. नेहरू के बचाव की सारी कोशिशें नाकाम होती नजर आती हैं तो नेहरू भक्त अपना आखरी हथियार बाहर निकालते हैं और कहते हैं कि जाति-व्यवस्था में प्रचलित भेदभाव के कारण भारत की उन्नति नहीं हो रही है। अगर यह कारण ठोस कारण है तो भारत को उन्नति की आशा छोड़ ही देनी चाहिए। क्योंकि जाति-व्यवस्था तो खत्म होने की कोई संभावना ही नहीं है।

वस्तुतः ऐसी स्थिति अधिकांश देशों में है कि व्यवसाय की समानता से लोग मिलते-जुलते हैं। परंतु उनमें रोटी-बेटी का व्यवहार न होने के कारण जाति-व्यवस्था बनी रहती है। इनके अलावा पाश्चात्य देशों में ज्यू, नीग्रो, रेड हैंडयन आदि जातियाँ मौजूद हैं। प्रशंसनीय उन्नति करनेवाला देश, श्रीलंका में भी भारत की तरह ही विविध जातियाँ हैं। ईसा पूर्व तथा ईसा के बाद के पहले दो शतकों में भारत को दुनिया के अग्रगण्य देशों में से एक माना गया था, उस समय भी आज जैसी ही जाति-व्यवस्था थी।

कितनी भी आनाकानी कर लीजिए, परंतु भारत की आर्थिक उन्नति न के बराबर होने का एकमात्र कारण है— नेहरू और नेहरूवाद। इसे नेहरू भक्तों को मानना ही होगा।

### समाजवाद का भ्रम

प्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ डॉ. शेनॉय ने साफ-साफ ही कहा है कि यदि पं. नेहरू इन योजनाओं के पचड़े में पड़े बिना शांति से बैठे रहते, तो भी भारत काफी उन्नति कर जाता। पं. नेहरू के ही कार्यकाल में आरंभिक तीन वर्ष योजनाहीन गुजारे गये थे। इन मुक्ति के तीन वर्षों में भारत की उन्नति की गति काफी अधिक थी। (International Language Centre, Delhi).

पं. नेहरू के आयोजन तज्ञ महालनोवीस ने कहा था कि हम हमारी योजनाओं को हमारे साधनों पर आधारित न रखते हुए हमारी आवश्यकतानुसार उनको आकार देंगे। वाह, जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम ही है। यह बात तो उस परिवार-प्रमुख की तरह होगी, जो अपनी आमदनी को ध्यान में न रखकर आवश्यकतानुसार व्यय करता चला जाता है और उस परिवार की तरह ही पं. नेहरू की योजनाओं ने भारत का दीवाला निकाल दिया है। यह कोई अचरज की बात तो है नहीं।

‘नवभारत’ मासिक पत्रिका के ‘योजना विशेषांक’ में यह कहा गया है कि “भाक्रा-नांगल की योजना की रूपरेखा बनाते समय व्यय व लाभ का अनुपात जाना ही नहीं गया। वस्तुतः इस योजना पर हुए व्यय के बराबर भी लाभ होने वाला नहीं था। पं. नेहरू ने आगे चलकर इस बात को स्वीकार किया और कहा कि आज यदि ऐसी कोई योजना मेरे समक्ष आती है तो मैं उसका स्वीकार नहीं करूँगा।” (एस. गोपाल)

विज्ञान की तरह ही योजनाओं के मामले में भी पं. नेहरू ने इतना ही सोचा कि इसे देख-सुन कर विदेशी पत्रकार आकृष्ट हों। क्योंकि उनका ध्यान तो वैयक्तिक आंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने की ओर था, देश का लाभ नहीं था। बड़ी-बड़ी योजनाएँ यात्रियों/

घुमन्तुओं को आकृष्ट करती हैं। पर अगर गरीब का स्तर दस या बीस प्रतिशत ऊँचा हो जाय तो किसे नजर आयेगा।

जानकार लोगों के समान ही कुछ अर्थशास्त्रज्ञ भी यदि कहते पाये गये हैं कि “लाभ-नुकसान की बात सोचने के लिए योजनाएँ बनिये की दुकान नहीं है। बनिया दुकान खोलता है लाभ पाने के लिए। हमें तो देश के हित के लिए योजनाएँ कार्यान्वित करनी थीं।” आर्थिक योजनाओं का लक्ष्य आर्थिक लाभ न हो अन्यथा इसे बुद्धि का टाट उलट जाने के संकेत मानना होगा।

समाजवादी अर्थशास्त्रज्ञ का मौलिक भ्रम यह है कि आज सारे समाज में पूँजीवादी शोषण हो रहा है। यदि इसे रोका जायेगा तो समाज स्वयं ही समृद्ध बन जायेगा। अर्थात् राष्ट्र का जो अतिरिक्त धन है, उसे कुछ लोगों ने अर्थात् पूँजीवादियों ने दबोच रखा है। मिल-मालिक व कारखानदार रूपी नाग को ही मार डाला जायेगा, तो धन का भंडार ही खुला हो जायेगा और फिर कुछ करने की जरूरत नहीं बचेगी।

यह विचार तो कुछ इस विचार से मिलता जुलता है कि मुर्गी ने पेट में अण्डे छिपाकर रखे हैं। मुर्गी को मार डलो तो अण्डे ही अण्डे मिलेंगे।

इन योजनाओं से किन-किन वस्तुओं की खपत बढ़ी है इसका उत्तर मिलते ही पता चल जायेगा कि पं. नेहरू की योजनाएँ किनके लिए थीं। फ्रिज, मोटर जैसे भोग-विलास की वस्तुएँ व विदेशों से लाई गई वस्तुओं के विक्रय में बढ़ोत्तरी हुई है। इसकी तुलना में जनसंख्या में बेशुमार वृद्धि होकर भी भोजन-वस्त्र के विक्रय में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। निम्न वर्गीय लोगों की आमदनी में वृद्धि होती तो पहले अनाज तथा कपड़ों की बिक्री बढ़ती क्योंकि भूखे पेट व अधनंगे लोग पहले इन्हीं चीजों की पूर्ति करने की जरूरत महसूसते।

### आयात-निर्यात का अर्थशास्त्र

आयात की तुलना में निर्यात का अधिक होने को सक्षम अर्थव्यवस्था का लक्षण माना जाता है। 1990 तक भारत की अर्थनीति मुख्य रूप से नेहरूवाद पर ही काम कर रही थी। अतः इस काल विशेष में भारत और अन्य तुलना योग्य देशों में निर्यात संबंधी कुछ आँकड़े उपलब्ध हुए हैं। वे इस प्रकार हैं—

देश	आयात से निर्यात का अनुपात	
	अमरिका में	ब्रिटन में
भारत	68	73
पाकिस्तान	87	65
श्रीलंका	53	60
बांगला देश कुल	41	
म्यानमार(ब्रह्मदेश)	-56	
चीन	1.02	1.07

उपरोक्त तालिका यह सूचित करती है कि प्रति व्यक्ति आमदनी की तरह ही निर्यात के संदर्भ में भी पाकिस्तान का कार्य भारत से अधिक अच्छा है. चीन ने दोनों देशों (अमरिका व ब्रिटन) से भारत की तुलना में निर्यात बढ़ाने में सफलता हासिल की है.

यहाँ एक और बात गौरतलब है कि जिस देश की आमदनी का मुख्य साधन, व्यापार हो और वह आमदनी से अधिक खर्च करता हो तो कहा जा सकता है कि वह कंगाल बनता जा रहा है. परंतु जिस देश की अधिकांश जरूरतें देश में ही हो रहे उत्पादन से पूरी हो जाती हों और वह निर्यात से अधिक आयात करता हो तो ऐसा अनुमान लगाना गलत होगा कि वह देश कंगाल हो रहा है. उपरोक्त तालिका में व्यवसाय (उद्योगधंधों) के जमाखर्च के संतुलन में भारत के सर्वथा विपरित व्यवहार करनेवाला देश है श्रीलंका. परंतु उसने यह साबित कर दिया है कि उन्नति के सारे निर्देशांकों में भारत से वह श्रेष्ठ है. इससे स्पष्ट है कि श्रीलंका जैसा नन्हा-सा देश भी स्वावलंबी बनने के लक्ष्य को हासिल करने में भारत से भी आगे निकल गया है.

प्रारंभ में कम्युनिस्ट रूस को स्वावलंबन का लक्ष्य हासिल करने की जिद से आर्थिक नियोजन करनेवाला देश कहा गया था. परंतु रूस में बना कोई भी माल बाजार में बेचने के लिए कभी भी उपलब्ध नहीं था. इस तथ्य को उन्हें याद दिलाने की जरूरत नहीं है जिन्होंने रूस के कम्युनिस्ट होने के दिनों को देखा-झेला है. ऐसा होकर भी रूस कंगाल देश नहीं कहलाया. रूस की आर्थिक स्थिति के गिरने का मुख्य कारण यह था कि रूस ने सेना के बल पर विश्व में अपना स्थान बनाये रखने की कोशिश की थी और स्वावलंबी देश होकर भी उसकी अर्थव्यवस्था के लिए यह निर्णय भारी था. इस पुस्तक की विषय-सीमा से बाहर का तथ्य होने के कारण हमें संकेत मात्र करना था.

पं. नेहरू की कुल विचारधारा ही आयात लोलुप थी. यह आयाताश्रय नेहरूवाद ने अन्न से भाषा तक फैलाया था. भारत आयातीत वस्तुओं का उपभोग करना उसकी प्रतिष्ठा की बात मानता था.

यहाँ अन्नोत्पादन के संदर्भ में पं. नेहरू की आयातप्रियता का एक उदाहरण देने योग्य है. पं. नेहरू के जीवन काल में ही जल-योजनाओं का लक्ष्य और उसकी उपलब्धि का अनुपात 3/7 से 4/10 तक नीचे आ गया था. (Economic Survey 1998-99 and India as Agriculture Sector by CMIE)

इसका कारण पं. नेहरू की वृत्ति थी कि हमें खिलाने के लिए अमरिका तो है ही, फिर जल-योजनाओं में थोड़ी-सी तकलीफ हो तो क्या हर्ज है? 1966 में भारत में गेहूँ की फसल अत्याधिक होते हुए भी अमरिका से गेहूँ खरीदने का समझौता किया. इसके परिणाम भारत को नेहरू के तुरंत बाद ही लाल बहादूर शास्त्री के कार्यकाल में भुगतना ही पड़ा. इस पर अमरिका ने अपनी कोफ्त दिखाने के खातिर यह घोषित किया कि शास्त्रीजी ने पाकिस्तान में सेना घुसेड़ दी थी अतः हमने भारत को अनाज देना बंद कर दिया.

अब जल-योजना पर पुनर्विचार करना जरूरी हो गया. अब इन योजनाओं पर बढ़ती महँगाई के कारण चार गुना अधिक धन खर्च करना जरूरी हो गया. इस व्यवहार में एक करोड़ सत्तर लाख एकर जमीन पर जल-सिंचन नहीं हो सका और अगले बीस वर्षों तक अमरिका गेहूँ अनुदान के आधार पर ही भारतीय बाजार में बेचा जाने के कारण भारतीय किसानों को भारी नुकसान सहना पड़ा.

□□

## ॥ हिंदुओं से झह ॥

“मेरी सीख से दंगा (हुल्लड़) बढ़ता है तो मुझे उसकी परवाह नहीं।”

—पं. जवाहरलाल नेहरू

विज्ञान एवं औद्योगिकरण के समान ही पं. नेहरू के मुकुट में जड़ा गया तिसरा चाँद है— सेक्युलरिज्म का. संविधान में इस शब्द का प्रवेश इंदिरा गांधी के काल में हुआ. मूलतः पं. नेहरू ने ही उनके प्रधानमंत्री बनने के क्षण से ही यह द्विंद्वारा पीटना शुरू कर दिया था कि भारत ‘सेक्युलर’ राज्य है. परंतु लोगों ने यह सोचकर उसका विरोध नहीं किया कि पं. नेहरू इस शब्द का उपयोग शब्दकोश में दिये गये अर्थ में ही कर रहे होंगे. शब्दकोश में सेक्युलर शब्द का अर्थ है— राज्य के कारोबार में परलोक संबंधी श्रद्धाओं का सहारा न लेनेवाला राज्य. कोई एक ग्रंथ ईश्वरप्रणित है और तदनुसार राज्य चलाया जाय इस मान्यता को स्वीकार करनेवाला राज्य ही परलोक संबंधी श्रद्धा के बल पर कार्य करता है. ईश्वर की संकल्पना पारलौकिक है, ऐहिक नहीं. हमारे संविधान में किसी भी ग्रंथ को ईश्वरप्रणित नहीं कहा गया है. ईश्वर के समान ही पुनर्जन्म एवं साक्षात्कार आदि बातें पारलौकिक ही हैं. किसी भी न्यायालय में किसी गवाह ने यह मेरे पूर्वजन्म की घटना है, यादें हैं, या मुझे ऐसा साक्षात्कार हुआ है आदि वाक्य कहे हों, तो उसकी गवाही को मराठा या मौर्य या गुप्त के काल के न्यायालय ने ग्राह्य माना होगा, ऐसा कहीं भी उल्लिखित नहीं है. दिव्य पर यकीन करना पारलौकिक श्रद्धा है और प्राचीन काल में भी न्यायालयों में दिव्य का उपयोग होता था, कहकर उपरोक्त विचार को काटा नहीं जा सकता, क्योंकि जो दिव्य का अहसास दिलाना चाहते हैं वे यह जानते नहीं हैं कि वे अपराधी हैं या नहीं. साथ ही जो यह जानता है कि वह अपराधी है, वह कभी दिव्य का ढोंग करेगा ही नहीं. कहते हैं कि जहाँ चींटी है वहाँ गुड़ होता ही है. उसी तरह जहाँ सबूत होता ही है, वहाँ दिया लेकर उसे खोजा नहीं जाता.

हिंदू कानून के अनुसार, जो धर्माधिष्ठित है, उसे ईश्वरप्रणित माना गया है. परंतु धर्मशास्त्र के स्थान पर रूढ़ियों को अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा था. शास्त्रादृढिर्बलीयसी. अतः इहवाद के अर्थानुसार, भारत का आज का संविधान तथा पूर्वपरंपरा के राज्य शासन का सेक्युलर कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं थी.

अब शीघ्र ही यह स्पष्ट होता गया कि पं. नेहरू ‘सेक्युलर’ शब्द का अर्थ उपरोक्त जैसा नहीं मान रहे थे. संस्कृत भाषा का प्रसार करने की योजना बनाकर साथ ही अरबी-फारसी भाषाओं के प्रचार-प्रसार की योजनाओं को पेश न करना; यह जिद करना कि महाराष्ट्र के मुसलमानों की भाषा मराठी है, यूँ कहना कि मोगल विदेशी आक्रामक थे, ऐसा

भी प्रचार करना कि भारत में इस्लामी शासकों ने इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए सेना की ताकत का इस्तेमाल किया आदि सारी बातें पं. नेहरू की दृष्टि में सेक्युलरिज्म का द्रोह था. संस्कृत व अरबी-फारसी का आपस में कोई अटूट रिश्ता नहीं था. अतः संस्कृत के प्रसार के लिए अरबी-फारसी भाषा का प्रसार भी आवश्यक है, ऐसा कहना सही नहीं है. अब इस सारे उहापोह में इह-परलोक का भला क्या संबंध हो सकता है?

पं. नेहरू के मतानुसार, पाकिस्तान से भारत में आनेवाले घुसपैठियों या मुसलमानों को वापस पाकिस्तान भेजना भी सेक्युलरिज्म के खिलाफ है. जब फखरुद्दीन अली अहमद जी चौदह लाख पूर्व पाकिस्तानी घुसपैठियों को भारत ले आये थे, तब उनके खिलाफ पं. नेहरू के पास शिकायत दर्ज की गयी थीं. परंतु पं. नेहरू ने उन्हें कनेठी न देते हुए केन्द्र मंत्री पद बहाल कर दिया था. जब घुसपैठियों को बाहर खदेड़ने की मुहिम सरकार ने प्रारंभ कर दी, तब पाकिस्तान के लियाकत अली खान भारत आये थे और पं. नेहरू ने उनके कहने पर घुसपैठियों को भगाने पर रोक लगा दी. फिर पं. नेहरू के प्रति अयूब खान ने यह कहकर धन्यवाद दिया कि ‘पाकिस्तानी घुसपैठियों की रक्षा करते हुए पूर्व पाकिस्तान की स्थिति को शांति से भर दिया.’ इंदिरा गांधी के क्षणिक वनवास के बाद जब वे पुनः प्रधानमंत्री बनीं, तब उन्होंने ‘असम में घुसपैठिए आ रहे हैं’ कहनेवालों की कड़ी निन्दा की. इन सारी घटनाओं का इहलोक-परलोक का कोई भी संबंध नहीं है. मुसलमान घुसपैठियों को भारत से बाहर भगा देने का कृत्य ‘सेक्युलरिज्म’ का द्रोह है, इस दृष्टि से सेक्युलरिज्म का अर्थ तो कुछ दूसरा ही जान पड़ता है.

### सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

पारलौकिक श्रद्धाओं को भूल जाय, तो मुसलमान व हिंदू दोनों में कोई भेद नहीं है. दूसरे शब्दों में कहें तो हिंदू व मुसलमानों की संस्कृति एक ही है. जो भी अन्तर नजर आता है, वह विदेशी आक्रामकों ने बलपूर्वक आरोपित किया है. इन विचारों का प्रचार करने का अर्थ है हिंदुओं की संकुचितता (Chauvinism) या पं. नेहरू के पसंदीदा शब्दों में कहें तो इसे ‘कम्युनैलिज्म’ मान सकते हैं. मूलतः भारत को ‘सेक्युलर’ देश कहते समय पं. नेहरू इस बात पर जोर देना चाहते थे कि भारत हिंदू राष्ट्र नहीं है. परंतु खुलकर यह बात कही होती, तो यह बिलकुल असत्य कथन लगता. अतः पं. नेहरू ने अहिंदू कहने के बजाय सेक्युलर शब्द का प्रयोग किया.

भारत हिंदू राष्ट्र नहीं है, यह कथन असत्य कथन होने के साथ-साथ संविधान की अवमानना करता हुआ कथन है. हिंदुओं के धर्मग्रंथों का ईश्वरप्रणित हैं, अतः भारत सरकार पर भी इनका बंधन बना हुआ है. इन अर्थों में भारत को हिंदू देश न कहा जाता हो परंतु भारत की राष्ट्रीयता का अर्थ हिंदू ही है. संविधान में इस विचार को स्वयं ही स्थान प्राप्त है. इसे कुछ चित्रों को संविधान में देकर स्पष्ट किया गया है. संविधान में भारत की राष्ट्रीयता को घोषित करते कुछ चित्र इस प्रकार हैं—



1. वैदिक आश्रम, 2. मोहन-जो-दाड़ो की मुद्राएँ, 3. श्रीराम का रावण पर विजय, 4. गीता का उपदेश, 5. भगवान बुद्ध के जीवन के प्रसंग, 6. तीर्थंकर महावीर के चरित्र की घटनाएँ, 7. सम्राट अशोक का धर्मविजय, 8. गुप्त कला, 9. राजा विक्रमादित्य का दरबार, 10. नालंदा विश्वविद्यालय, 11. ओरिसा के शिल्प, 12. नटराज, 13. राजा भगीरथ के प्रयत्न, 14. अकबर का दरबार, 15. छत्रपति शिवाजी का चित्र, 16. गुरुगोविंद सिंह का चित्र, 17. अंग्रेजों का सामना करता टिपू सुलतान, 18. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई 19. नेताजी सुभाषचन्द्र बोस.

उपरोक्त सूचि से स्पष्ट है कि संविधान भारत को हिंदू राष्ट्र कहता है। इस सूचि में केवल अकबर का दरबार ही मुगलों का प्रतिनिधित्व करता है। क्योंकि अकबर ने इस्लामी धर्म को छोड़ दिया था, जिझिया कर बंद कर दिया था और अन्य इस्लामी आक्रामकों की तुलना में कहे, तो अकबर ने भारतीयता का अंगीकार काफी मात्रा में किया था। साथ ही संविधान में ऐसी घटनाएँ भी वर्णित नहीं हैं, जिनसे ईसाइयों व मुसलमानों द्वारा उनके धर्म में हिंदुओं को धर्मपरिवर्तन कराकर शामिल करने की बात स्पष्ट होती हो। स्पष्ट है कि पं. नेहरू की यह खोज कि ईसाई व इस्लामी धर्म भारतीय राष्ट्रीयता के अंग हैं, संविधान को स्वीकार नहीं है। यूँ कहे कि उपरोक्त कोई भी मुद्दा विदेशी नहीं है। केवल अकबर ने अधिकांशतः भारतीयता स्वीकार कर ली थी अतः उसे अपवाद के तौर पर शामिल कर लिया गया था। अर्थात् भारत की राष्ट्रीयता अनेक आक्रमणकारियों के मिश्रण का परिणाम है। पं. नेहरू का यह प्रिय सिद्धान्त संविधान को कतई मान्य नहीं है।

संविधान में वर्णित उपरोक्त चित्रों में से अधिकांश चित्रों की झाँकियाँ प्रजासत्ताक दिवस पर आयोजित सेना संचालन के चलित प्रदर्शन में प्रस्तुत की गई थीं।

उसके बाद कभी भी किसी सरकारी कार्यक्रमों में ऐसी झाँकियाँ नहीं दिखाई गई : केवल अपवाद था, वह भगवान बुद्ध के 2500 वें महानिर्वाण दिन का। वास्तव में भगवान बुद्ध की तुलना में भारत के भावविश्व से अधिक निकटता दर्शाता चरित्र भगवान श्रीकृष्ण का है। उनकी 5000 वीं जयंती मनाने का खयाल तक पं. नेहरू के मन को छू नहीं पाया। क्योंकि वे बुद्ध को हिंदू नहीं मानते थे और श्रीकृष्ण हिंदुओं का अर्थात् कम्युनैलिस्टों का शिरोमणि है।

पिछले पचास वर्षों से व्याख्यानों, आकाशवाणी-दूरदर्शन-पाठ्यपुस्तकों से, फिर केवल भाषणों से ही नहीं, वरन् मालिकाओं से भी यह बात बार-बार जन-मन पर अंकित की जा रही थी कि हमारी राष्ट्रीयता नाम से कोई चीज-वस्तु नहीं है। समय-समय पर आक्रमणकारियों ने भारत को बसाया है और इन सब के मिश्रण से भारत की समन्वित राष्ट्रीयता का निर्माण हुआ है। अतः पं. नेहरू का जनता से हर बार एक सवाल हुआ करता था कि “क्या इतिहास को मिटाया जा सकता है? क्या हम कह सकते हैं कि भारत पर इस्लामियों ने 500 वर्ष और अंग्रेजों ने 200 वर्ष राज्य नहीं किया था?”

इस प्रतिपादन में पं. नेहरू यह बात पूरी तरह से भूल गये हैं कि इतिहास में घटित हर प्रसंग राष्ट्रीयता का हिस्सा नहीं होता। मेरे जीवन में घटित हर प्रसंग मेरे चरित्र का अंग भले ही हो पर वह मेरे व्यक्तित्व का अंग कदापि नहीं होता। मुझे कभी माता का प्रकोप सहना पड़ा था। परंतु यह प्रसंग मेरे जीवन-इतिहास का सच है, परंतु यदि मेरे चेहरे पर उसके दाग बने रहते, तब ही वह मेरे व्यक्तित्व का हिस्सा बनेगी अन्यथा नहीं। ऐसे प्रसंगों को कोई भी व्यक्ति अनिर्दिष्ट ही रखना चाहता है, उसे अभिमान की बात मानकर ढिंढोरा पीटता घुमेगा नहीं। विदेशी आक्रमणों का मूल उद्देश्य किसी बीमारी की तरह हमें नष्ट करने के लिए या हमें दुख देने के हेतु या पंगु बनाने के लिए ही होता है। उसे हम हमारी राष्ट्रीयता का हिस्सा कदापि नहीं मान सकते।

### मुगल एवं ब्रिटिश हमारे बापदादे

भारत को सेक्युलर घोषित करते समय पं. नेहरू चाहते थे कि भारत के इतिहास का मुगल व अंग्रेजी आक्रमणों के काल को हमारी राष्ट्रीयता का अभिन्न घटक के रूप में प्रस्थापित करना चाहते थे। उन्हें हिंदुओं के धर्म-परिवर्तन को बढ़ावा देना था और भारतीय भाषाओं को जड़मूल से उखाड़ फेककर अंग्रेजी को दृढ़मूल करना था। इन विचारों को सुशोभित करनेवाली संज्ञा पराधीनता की पूजा हो सकती है। सेक्युलरिज्म से उसका अप्रत्यक्ष रूप से भी कोई संबंध नहीं है। फिर भी पं. नेहरू ने अंग्रेजी के कोशगत अर्थ की चिंता किये बिना ही इस देशद्रोही विचार को सेक्युलरिज्म नाम दिया।

हमारे संविधान में ईसा व मुहम्मद किसी के भी नाम दर्ज नहीं हैं। इस्लाम व ईसाई धर्म भारत में स्वयं ही विकसित नहीं हुए हैं। दोनों धर्मों के साथ आक्रामकों की तलवारें थीं। पं. नेहरू इसे नाकबूल करते रहे और भाड़े के टट्टू या इतिहासकारों को इस काम पर लगा दिया। परंतु कोई भी प्रस्थापित इतिहासकार इसे नहीं मानता है। 1857 की घटना, यदि न हुई होती, तो आज अधिकांश भारत ईसाई बन गया होता। परंतु 1857 के हजारों वीरों के बलिदान ने ऐसा होने पर रोक लगाई। रानी लक्ष्मीबाई के शब्दों की ओर ध्यान देना जरूरी है। वे विष्णु भट गोडसे से कहती हैं कि “मैं तो मुट्ठी भर चावल की मालकिन हूँ, विधवा होने के कारण मुझे इन झंझटों में नहीं पड़ना चाहिए था। किंतु हिंदु धर्म के प्रति अभिमान की भावना के कारण ऐसा साहस करने को प्रवृत्त हुई हूँ और धन व प्राण के मोह का त्याग कर दिया।”

टायनबी के समान सोच कर यह सिर्फ कहा ही जा सकता है कि इस्लाम व ईसाई धर्म हिंदु धर्म की तुलना में श्रेष्ठतर हैं और भारत देश मुसलमान व ईसाई बन जाता है तो अधिक उन्नति कर सकता है। परंतु कोई भी धर्म हों वह हमारी राष्ट्रीयता का अंग नहीं है।

पं. नेहरू हिंदुत्व को भारत की राष्ट्रीयता मानने से साफ इन्कार कर रहे थे। प्रश्न यह है कि हिंदुत्व को भारतीय राष्ट्रीयता का न कहें तो फिर राष्ट्रीयता कौन-सी है? भारतीयता कह भी दें, तो भी इससे केवल भौगोलिक स्थिति का पता चलता है। इसके विपरित राष्ट्र

की संकल्पना एक सामाजिक भावना को घोषित करती है। भारत उसका वसतिस्थान है। यह किसी भी कोश में नहीं लिखा है कि राष्ट्रीयता के माने वसतिस्थान।

अब भारत की सीमाएँ कौन-सी होंगी? भारत की सीमा में पाकिस्तान हो या न हो? गांधार-तिबेट-श्रीलंका भारत के ही प्रदेश हैं या नहीं? एक समय था जब सभी भारत के ही हिस्सा थे। पं. नेहरू का भाव यह था कि “अगर हिंदू यह नाम हमारी राष्ट्रीयता का है तो मुसलमान, ईसाई आदि एक तिहाई जनसंख्या की राष्ट्रीयता को नकारा जायेगा। आज भारत केवल एक भूभाग है, राष्ट्र नहीं। मैं उसे राष्ट्र बनाना चाहता हूँ।

पं. नेहरू से पूछा जा सकता था कि जो राष्ट्र नहीं है उसे राष्ट्र कहलवाने की जदोजहद क्यों?

भारत को पं. नेहरू की कल्पनासृष्टि का चित्र कहें, तो भी कल्पनासृष्टि के चित्र का स्वरूप क्या होगा? यह प्रश्न बना ही रहता है। वि. दा. सावरकर अपनी कल्पना के अनुसार उनकी ‘हिंदुत्व’ पुस्तक में हिंदू राष्ट्र की संकल्पना को व्याख्यायित करते ही हैं। सावरकर का कथन था कि मुसलमान-ईसाई यदि आज राष्ट्र के घटक नहीं हैं, तो उन्हें हम शुद्धीकरण के आंदोलन को बढ़ावा देकर हिंदू राष्ट्र में शामिल कर सकते हैं। इस कल्पना को अमल में लाने का कार्य, न अंग्रेजों के काल में हो सका था और न आज हो पाया है। परंतु एक विचार की हैसियत से बात एकदम साफ-सटीक है।

पं. नेहरू की कल्पना के भारत की राष्ट्रीयता का स्वरूप इतना स्पष्ट नहीं है। ईसाइयों व इस्लामियों को, जब अल्पसंख्याक कहा जाता है तब सावरकर की राष्ट्र कल्पना का स्वीकार करना सही जान पड़ता है। हिंदुओं को बहुसंख्यक व अहिंदुओं को अल्पसंख्यक कहकर हम धार्मिक विभाजन करते हैं। और इसे ही संवैधानिक स्वरूप प्राप्त होने के कारण धर्म को राष्ट्रीयता का स्वरूप मानना ही पड़ता है। परंतु पं. नेहरू हिंदू धर्म को नकार रहे थे और इस्लामियों को अल्पसंख्यक भी कह रहे थे। जब मुसलमानों को अल्पसंख्यक कहते हैं तो पं. नेहरू को भारतीय राष्ट्रीयता को मुख्य प्रवाह के रूप में मान्य हिंदुत्व को प्रदान करने के बजाय उसे अस्वीकृत करने में काफी दुःख हो रहा था। इसलिए भारत की हिंदुता भारतीय राष्ट्र का मुख्य प्रवाह होने की संकल्पना को नकार कर, वे भारत के राज्य को सेक्युलर घोषित करने लगे थे। एक बार भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमति इंदिरा गांधी ने साफ कहा था कि “भारतीय राष्ट्रीयता का मुख्य प्रवाह है ही नहीं।”

### हिंदू धर्म के लक्षण

हमारे संविधान में शिवाजी तथा गुरु गोविंदसिंह की तस्वीरें हैं। इन दोनों को पं. नेहरू ‘राष्ट्रीय राज्यकर्ता’ मानते हैं, जिन्होंने मुगलों के राज्य को खत्म करने के लिए तलवार उठायी थी। तब अहिंदू के अर्थानुसार भारतीय संविधान को ‘सेक्युलर’ नहीं कहा जा सकता।

हमारा संविधान अगर हिंदू राष्ट्र का संविधान है तो भारत में रहनेवाले मुसलमानों का क्या होगा? वे इस राष्ट्र के घटक हैं या नहीं?

इस प्रश्न का सीधा उत्तर यह है कि हिंदू धर्म व हिंदू राष्ट्र अलग-अलग संकल्पनाएँ हैं धर्म अरबी होने पर भी, संस्कृति धर्म स्वीकार करने से पहले की होती हैं और इसे आग्नेय आशिया के देशों ने दिखला दिया है। चीन का धर्म भारतीय होने पर भी वहाँ की संस्कृति भारतीय नहीं है।

भारतीय मुसलमान भले ही धर्म से हिंदू नहीं कहलाये जाते हो परंतु उनकी राष्ट्रीयता भारतीय है। इसे समझना होगा तो हिंदू धर्म किसे कहते हैं? यह जानना जरूरी है।

इसे समझने के क्रम में हमें यह ध्यान में रखना है कि संपूर्ण संस्कृत साहित्य में हिंदू धर्म नामक शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। तब हम धर्म से हिंदू कैसे कहलाये जाते हैं?

धर्म से हिंदू होने का अर्थ है हमारा धर्म हिंदू या भारत में उद्भूत है। हिंदू धर्म याने भारत में उद्भूत धर्म। हिंदू धर्म के नाम पर इसकी पहचान के लिए देश का नाम लिये बिना ही उपास्य के सन्निकटता की संकल्पना स्पष्ट है, जिसके कुछ तत्त्व उपलब्ध हैं। वे हैं— 1. अनेक उपास्य, 2. उपास्य की अन्तर्यामिता (immanent conception of divinity), 3. मूर्तिपूजा, 4. पुनर्जन्म व कर्मसिद्धान्त, 5. मानव के रूप में ईश्वर या ईश्वरतुल्य महात्माओं का संसार में अवतरित होना। श्लोक के रूप में यूँ कहा जा सकता है—

*उपास्यानामानेकत्वं तैरावस्यमिदं जगत् ।*

*पूजनं मूर्तिरूपेण यथाकर्म पुनर्भवः ।*

*अवतारौ भुवो भूत्यै बहुधा परमात्मनः ।*

*धर्मस्यैतानि हिन्दूनां पंच तत्त्वानि सारतः ॥*

सिक्ख धर्म और आर्य समाज में मूर्तिपूजा का विरोध है। पर ये दोनों पंथ इस्लाम व ईसाई धर्म के आने के बाद उनके ही प्रभाव से रूप उद्भूत हैं।

धर्म से हिंदू कहलानेवालों को उपरोक्त पांच तत्त्वों पर विश्वास रखना अनिवार्य ही है।

कट्टर हिंदू कहलानेवाले वि. दा. सावरकर का साहित्य पढ़ने पर पता चलता है कि उन्हें इन पांचों तत्त्वों पर कोई आस्था या विश्वास नहीं था। मेरा भी इन तत्त्वों पर कोई विश्वास नहीं है। फिर भी हम हिंदू क्यों कहलाते हैं?

मेरी सीमा में इसका उत्तर यूँ है—

राष्ट्रीय धर्म राष्ट्रीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। नास्तिक कहलानेवाले हिंदू का उपरोक्त तत्त्वों में से किसी पर भी विश्वास नहीं होता। पर इन संकल्पनाओं के प्रति उसके मन में आदर भाव होता है। क्योंकि जिस समाज में इन कल्पनाओं को मान्यता मिली है, वह समाज उसे अपना लगता है। भले ही वे कल्पनाएँ सच नहीं होती, फिर भी वे इसी

समाज में एकता की भावना को दृढ़मूल करने में सहायक रही हैं। कश्मीरवासी हिंदू भी अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए सत्यनारायण की पूजा करता है, यह जानकर वहाँ के केरलवासियों को उनके बीच एकता का धागा नजर आता है। 'पूजा से प्रसन्न होकर सत्यनारायण रूपी मालिक हमें बिदागी देता है।' ऐसी बचकानी विचारणा के कारण इस पूजा को त्याज्य मानना यह कल्पना भले ही बचकाँनी लगे, पर परंपरा से चली आयी इस रीति से एकता का भाव सदैव उत्पन्न हुआ है या नहीं, इस समस्या की परख होना आवश्यक है।

### एकता का पोषक विशेष

मृत्यु के बाद जीवन है या नहीं? सदाचरित मनुष्य को भी दुःखपूर्ण जीवन क्यों जीना होता है? क्या ईश्वर है? यदि वह है तो इस दुनिया से उसका क्या रिश्ता है? हिंदू धर्म में इन प्रश्नों के दिये गये उत्तर भले ही किसी को स्वीकार न हो, पर उन्हें वह बचकानी हैं व विचार योग्य नहीं है, ऐसा कोई भी नहीं कहता। इन्हीं कल्पनाओं ने हिंदू समाज हजारों वर्षों से एकता के सूत्र में बँधा हुआ है।

धार्मिक तत्त्वज्ञान की तरह ही, ये रीति-रिवाज भी एकता को बनाये रखती हैं। भले ही कश्मीरी स्त्रियों की वेश-भूषा अलंकार भिन्न क्यों न हों, पर केरलवासी हिंदू स्त्रियों को भी वे अपनी लगती हैं। प्राचीन काल से चली आयी व ऐक्यसाधक होने के एकमात्र कारण से वे रक्षण योग्य या संचय योग्य जान पड़ती हैं।

राष्ट्रीयता के आधारभूत तत्त्व हैं— समान ऐतिहासिक स्मृतियाँ और उनके प्रति जनमानस में उपलब्ध समान भावना। मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान का पराजय किया, बाबर ने राणा सांगा को हराया और ह्यू रोज ने झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को परास्त किया, इन घटनाओं से जो-जो मन दुःखी होता है, वे सभी समान ऐतिहासिक स्मृतियों से आपस में जुड़े-बँधे हैं। अर्थात् राष्ट्रीयता एक भावनात्मक सत्य है।

केवल भावनामयी स्मृतियाँ केवल राजकीय इतिहास की ही हों, ऐसा नहीं होता। विज्ञान, कला कुशलता, रीति-रिवाज इन सभी की भावनामयी स्मृतियाँ होती हैं। हमें शेक्सपियर चाहे कितना भी अधिक पसंद क्यों न हो, परंतु जब हम कालिदास के काव्य का आस्वाद लेते हैं तब सारी दुनिया में हमारी प्रतिष्ठा वृद्धिगत हो रही है, यह कल्पना मात्र हमारे आत्मसम्मान को पल्लवित कर जाती है। यह भाव शेक्सपियर पढ़कर नहीं जगता। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है यह कहनेवाले गलतियों के प्रति आदर भाव अवश्य है किंतु आर्य भट्ट का इस क्षेत्र में संपन्न कार्य हमें अपना जान पड़ता है और आत्मविश्वास दृढ़ होता है। परंपरा हानिकारक नहीं है, परंतु वह प्राचीन व सार्वत्रिक मानी जाती है, इसी एक विचार मात्र के कारण वे वंदनीय हैं कि वे राष्ट्रीयता के मूल में बसी हैं। हिंदू समाज में समानता की अनेकानेक चिरस्थायी भावनाएँ बड़ी संख्या में मौजूद हैं इसीलिए हिंदुत्व ही राष्ट्रीयता है।

एक तरह से कहें, तो भारतीय मुसलमान भी इसी राष्ट्रीयता का अंग हैं। पाकिस्तान

का इतिहास लिखते समय पाकिस्तानी मुसलमानों को इस बात का अहसास हुआ है। पाकिस्तान का इतिहास 1947 से प्रारंभ होता होगा परंतु क्या पाकिस्तानी नागरिकों के पूर्वजों का इतिहास 1947 से ही प्रारंभ होता है? ठीक है, 1947 से ना सही, पर क्या वह कासिम के सिंध प्रांत पर आक्रमण से या मुहम्मद गोरी के भारत विजय से माना जाय?

कदापि नहीं। पाकिस्तान के मुसलमानों को भी अच्छी तरह से याद है कि कासिम उनका पूर्वजन्म न होकर अरब से आया परदेसी है। सिंध के मुसलमान आज कहते हैं कि हमारा पूर्वज दाहिर है, जिससे कासिम ने उसका राज्य छीन लिया था। अब सिंध में समय की गिनती इस्लाम पूर्व कहकर होने लगी है। क्योंकि आज के सिंधियों के पूर्वज अरब देश से न होकर हिंदू ही थे। यही बात पंजाबी मुसलमानों पर लागू होती है। पाकिस्तान में 'पाकिस्तान के पांच हजार वर्ष' नाम से एक पुस्तक लिखी गई है। यह इतिहास मूलतः मोहन-जो-दाड़ो से प्रारंभ होता है। एक उर्दू व्याकरण की अर्पण-पत्रिका पर 'पाकिस्तान का महान वैयाकरण पाणिनि की स्मृति में' लिखा गया है। क्योंकि पाणिनि आज के भारत में न रहकर पाकिस्तान के शालातुर में रहता था। एक बार आचार्य लक्ष्मणशास्त्री जोशी जी ने मुझसे कहा था कि पाकिस्तान के मुसलमान यह कहते हुए पाये गये हैं कि वेदों का जन्म भारत में नहीं, पाकिस्तान में हुआ है अतः भारतीयों की अपेक्षा वेदों का उत्तराधिकारी कहलाने का हक भी पाकिस्तान के मुसलमानों को है। पाकिस्तानियों के पूर्वज हिंदू थे, यह अहसास मात्र ही पाकिस्तान के जड़मूल में छिपी भावना को गलत साबित करता है।

इसी पृष्ठभूमि पर धर्म-परिवर्तन के प्रश्न के बारे में सोचा जाना चाहिए। प्रलोभन या जोर-जबरदस्ती के आधार पर धर्म-परिवर्तन करने पर रोक लगाने की अनुमति संविधान व सर्वोच्च न्यायालय ने दी है। परंतु इसमें जरब का भय और स्वर्ग का लालच दिलाना इन दो प्रमुख बातों का समावेश है या नहीं यह स्पष्ट नहीं हो पाता।

### रामजन्म भूमि : राष्ट्र की आन का बिन्दु

वस्तुतः केवल हिंदुओं का धर्म-परिवर्तन बंद होना चाहिए। क्योंकि हिंदुत्व ही राष्ट्रीयता की भावना है और धर्म-परिवर्तन होते ही इस भावना को चोट पहुँचती है। अतः केवल पारलौकिक श्रद्धा में परिवर्तन लाना ही धर्म-परिवर्तन का स्वरूप नहीं है। मुसलमानों की वृत्ति यह थी कि उनके पूर्वज हिंदू थे, इस बात को भी वे नाकबूल कर रहे थे। किसी को यदि मूर्ति-पूजा की तुलना में, नमाज पढ़ने को उपासना की अच्छी रीति जान पड़ती हो, तो वह बेझिझक नमाज पढ़ सकता है। उसके लिए इस्लाम की दीक्षा लेने की जरूरत नहीं है। दीक्षा लेने से एक व्यक्ति की ही नहीं, उसके पूरे परिवार की मात्र उपासना पद्धति बदलती नहीं है वरन् उन सबको अपने समाज को छोड़कर खुद को किसी दूसरे समाज का अंग बनना होता है। यदि आप नमाज पढ़ने की उपासना को अधिक अच्छा मानते हैं तो आप एक कोने में बैठकर नमाज अवश्य पढ़ें, पर दूसरे कोने पर अपनी बीवी को मूर्तिपूजा भी करने दें।



इसके विपरित भारत के ईसाई व मुसलमान लोगों को हिंदू धर्म में प्रवेश देने पर पाबंदी न रखी जाय क्योंकि यह प्रश्न राष्ट्र की एकता की स्थापना से निगड़ित प्रश्न है. जिस धर्म के संस्थापक स्वयं को हिंदू समझ रहे हों, उस धर्म का अहिंदुओं में समावेश करने पर रोक लगायी जाय. स्वयं का नाम कोई भी रखा जाने की छूट हो. परंतु अपनी जाति के नाम को बदलने में रूकावट हो. क्योंकि यदि एक ब्राह्मण यह कहे कि मैं म्लेंच्छ हूँ, तब आज के जाति को तोड़ने की ख्वाहिश रखने वाली सरकार उसे वैसा करने नहीं देगी. उसी तरह 'हम हिंदू नहीं हैं' कहने वाले सिक्ख से यह कहना होगा कि वह पहले बताएँ कि गुरु नानक और गुरु गोविंद सिंह ने कहाँ व कब ऐसा कहा था. अगर कोई सिक्ख 'हम हिंदू नहीं हैं' कहता है तो यह बात 'जागे धर्म हिंदू सकल भण्ड भाजे' कहने वाले गुरु गोविंद सिंह का अनुयायी होने से नकारने के जैसी ही है. जब स्वयंसेवक संघ ने पंजाब में अपने जोशपूर्ण प्रचार से हजारों सिक्खों को यह समझा दिया था कि हिंदू धर्म किस तरह से सिक्खों के प्राचीन ग्रंथों में यहाँ-वहाँ बिखरा पड़ा है, तब कुछ सिक्ख मानवाधिकार आयोग की ओर दौड़ पड़े. यह बात समझ नहीं आती कि सिक्खों को हिंदू कहने पर मानवाधिकार का हनन किस तरह से होता है? यह प्रश्न अधिकार से जुड़ा नहीं है वरन् ऐतिहासिक सत्य से संबंधित है. इसी कारण एक बात साफ थी कि मानवाधिकार आयोग के समक्ष जा पहुँचने वाले सिक्ख ऐतिहासिक सबूत देकर स्वयंसेवक संघ के प्रचार को गलत साबित नहीं कर पाये.

उपरोक्त कथन में इहवाद की किसी तरह की अवज्ञा नहीं है. क्योंकि कोई कौन-सी पारलौकिक श्रद्धा को अपनाए, इस संबंध में यहाँ कोई भी जबरदस्ती या आग्रह नहीं है..हमारे पूर्वज हिंदू थे इस बात का लगातार अहसास रखनेवाले मुसलमान यदि इस भावना को मन में बनाये रखकर मस्जिद में प्रार्थना करते हों कि 'बतौर धर्म इस्लाम श्रेष्ठ है' तो मात्र इस वजह से राष्ट्र की एकता भंग नहीं होती.

नेहरूवाद चीख-चीख कर कहता है कि 'रामजन्म भूमि का आंदोलन धार्मिक विषय है और इसलिए हमारे सेक्युलर राज्य के तत्त्वों के खिलाफ है. परंतु हमारे संविधान ने श्रीराम व श्रीकृष्ण को वंदन करके उपरोक्त बात को काट दिया है. श्रीराम व श्रीकृष्ण ने इस धरती पर ही जन्म लिया था, भारत उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानता है. सचमुच में ऐतिहासिक थे या नहीं, यह विषय हमारी राष्ट्रीयता की दृष्टि से असंगत या असंबद्ध है. राष्ट्रीयता एक समान भावना का नाम है. यही समान भावना श्रीराम व श्रीकृष्ण इन दो व्यक्तियों के इर्दगिर्द इस देश में हजारों वर्षों से चली आयी है. अतः रामजन्म भूमि का अपमान राष्ट्र के अपमान के समान है. वह कोई पारलौकिक या धार्मिक वस्तु नहीं है. अतः सेक्युलरिज्म के नाम पर रामजन्म भूमि के जीर्णोद्धार की माँग का विरोध करने का अर्थ विचार-शक्ति का दिवाला निकलना ही होगा. श्रीराम के युग में, आज के मुसलमानों के पूर्वज भी श्रीराम के ही भक्त थे. श्रीराम की अवमानना करने में भारतीय मुसलमान अपने ही पूर्वजों का अपमान कर रहे हैं. इस निर्विवाद सत्य को भारतीय मुसलमानों के समक्ष रखा जाय तो

रामजन्मभूमि आंदोलन करने की जरूरत महसूस नहीं होगी.

सेक्युलर वादियों का नारा है कि 'यहाँ मंदिर का प्रश्न धार्मिकता से जुड़ा है और धार्मिक प्रश्नों को राजनीति में न लाएँ'. भला ऐसे प्रश्नों को राजनीति में न लाया जाय तो और कहाँ लायें? अगर सरकार की नीति 'उध्वस्त मंदिरों का पुनर्निर्माण न किया जाय' यूँ हो, तो उसमें परिवर्तन लाने के लिए चुनाव द्वारा जनता से समझौता करने के अलावा और कोई रास्ता शेष नहीं रहता.

### सोमनाथ की प्रतिष्ठापना

अगर यह कहा जाय कि इस प्रश्न को चुनाव-प्रचार के दौरान उपस्थित करना संविधान के खिलाफ है, तो संविधान के बदलने की प्रक्रिया का प्रयोग करनेवाली सरकार को चुनने के लिए, जनता को आवाहन करने में भला संविधान का विरोध कहाँ प्रकट होता है?

पं. नेहरू के सेक्युलरिज्म के जहरीले दाँत सोमनाथ के जीर्णोद्धार में नजर आये थे. सोमनाथ मंदिर का बार-बार किये गये विध्वंस की घटना एक असह्य राष्ट्रीय अपमान की बात है. जब-जब जो-जो राष्ट्रीय शासक प्रबल हुआ, उसने सोमनाथ का जीर्णोद्धार किया है. इसी परंपरा के अनुरूप सरदार वल्लभभाई पटेल ने भी सोमनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार करने का संकल्प घोषित किया. पं. नेहरू को यह बात पूरी तरह से नापसंद थी. उन्होंने जामसाहेब ऑफ नवानगर को पत्र लिखा कि "आपके राज्य के सोमनाथ मंदिर पर आप धन खर्च न करें. क्योंकि मंदिरों पर धन का व्यय करना सेक्युलरिज्म के खिलाफ है."

पं. नेहरू के मंत्रिमंडल के एक मंत्री श्री काकासाहेब गाडगील लिखते हैं कि इसी दरम्यान पं. नेहरू की सूचना के अनुसार वे ही मस्जिदों और दर्गाओं पर बेहद पैसा खर्च कर रहे थे. (Government from within) स्पष्ट है कि पं. नेहरू के कोश में सेक्युलरिज्म का अर्थ हिंदू-ड़ा था.

इसी समय पं. नेहरू के मंत्रिमंडल के दूसरे सदस्य कन्हैयालाल मुन्शी को सोमनाथ मंदिर के जीर्णोद्धार संबंधी अधिक रूचि दिखलाने के संदर्भ में भला-बुरा कहा था. तब मुन्शी जी ने लिखा— "सोमनाथ का जीर्णोद्धार हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है और ऐसे कार्यों को पुनरूद्धारवाद कहा जाय तो स्वतंत्र भारत की कल्पना ही गलत साबित होगी."

पं. नेहरू ने राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को भी सोमनाथ जीर्णोद्धार का पुण्याहवाचन करने से परावृत्त करने की कोशिश की. पं. नेहरू कुड़बुड़ाये कि "ऐसे कार्यों से पाकिस्तान व सारी दुनिया से हमारे संबंधों में दरार आयेगी." यहाँ इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि पाकिस्तान या दुनिया में कहीं भी इस घटना का कभी भी निषेध व्यक्त नहीं हुआ था. सौदी अरब में भी बाबरी मस्जिद के प्रकरण के संदर्भ में निषेध व्यक्त होने का अर्थ था, भारत के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करना. यह बात हर नागरिक को समझायी गयी थी.

भारत के मुसलमानों ने भी सोमनाथ के जीर्णोद्धार के खिलाफ मोर्चे निकालने की बात कभी सुनने में नहीं आयी थी.

सोमनाथ के जीर्णोद्धार से दुनिया भारत से नाराज हो जाय पर हमारा राज्य मुस्लिम राज्य है और मुस्लिमों के बराबर का हक नहीं मिलना चाहिए, ऐसा खुलकर कहनेवाले पाकिस्तान पर दुनिया खुश होती है. यह कैसे होता है?

बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बारे में नरसिंहराव ने छाती पीट ली थी. उसी समय कश्मीर में हिंदुओं के मंदिर ढहाये जा रहे थे, पर तब शायद सीने पीटने के लिए उस पर कोई खाली जगह शेष बची नहीं थी.

किसी भी मुस्लिम देश ने 'हमारे बाबर की मस्जिद गिरा दी' कहकर शोर नहीं मचाया था.

ब्रिटिशों ने खंडहर बने मंदिरों की किस तरह से देखभाल की थी, यह पता लगाया जाता है तो एक बात साफ हो जाती है कि हमारे देश को ईसाइयों का देश घोषित करनेवाले अंग्रेज अधिक सेक्युलर जान पड़ते हैं. काशी विश्वेश्वर का प्रश्न अंग्रेजों के समय प्रीव्ही काउन्सिल में उठाया गया था. एक अंतर्राष्ट्रीय प्रथा के अनुसार पहले की सरकार के कार्यों को वैधता दी जाती है. इसे मानक मानकर प्रीव्ही काउन्सिल कह सकता था कि "औरंगजेब की सरकार ब्रिटिश पूर्व सरकार थी व उसके आदेशानुसार काशी विश्वेश्वर का मंदिर गिराया गया था. अतः ब्रिटिश सरकार को यह कार्य कानून के अनुरूप समझना चाहिए और अब उस मंदिर पर हिंदुओं का कोई अधिकार नहीं है." परंतु प्रीव्ही काउन्सिल ने ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं किया. क्योंकि नॅचुरल जस्टिस अर्थात् विवेक बुद्धि के अनुसार जो नीतिपूर्ण होता है उसे ध्यान में रखना जरूरी है. कानून यह भी कहता है कि केवल सरकार की सार्वभौमिकता को ही निर्णय के लिए एकमात्र कसौटी न मानी जाय. तदनुसार प्रीव्ही काउन्सिल यह कबूल करती है कि हिंदुओं का पक्ष भी नीतिसंगत है. एक अवकाश प्राप्त हिंदू न्यायाधीश ने 'इंडियन एक्सप्रेस' समाचार पत्र में पत्र लिखकर यह कहा कि 'अयोध्या के राममंदिर को बाबर ने ही लुभाया और हिंदुओं का अपमान किया व उसका परिमार्जन होना चाहिए' जैसे विचारों पर न्यायालय में विमर्श कतई न हो. प्रीव्ही काउन्सिल के न्यायाधीश ईसाई थे, फिर भी उन्हें हिंदुओं की माँग सही लगी. इससे यह स्पष्ट होता है कि ईसाइयों से भी अधिक कट्टर सेक्युलर हिंदू हैं.

### पं. नेहरू शहाबुद्दीन से अधिक सेक्युलर

प्रीव्ही काउन्सिल को हिंदुओं की माँग नीतिसंगत लगी परंतु 17 वीं सदी में मंदिर तोड़कर बनाई गई मस्जिद को बीसवीं सदी में बलपूर्वक तोड़ने के आदेश देना कानून की कालमर्यादा व करोड़ों मुसलमानों की व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए गलत ही समझा जाना चाहिए. क्योंकि उस मस्जिद में करोड़ों मुसलमान प्रार्थना करने आ रहे हैं. इसलिए प्रीव्ही काउन्सिल ने निर्णय सुनाया कि मुसलमान इस मस्जिद में प्रार्थना अवश्य करें किंतु

उसकी मरम्मत न करें. जब वह खुद ही ढह जायेगी तब उसे हिंदुओं को सौंप दें. ऐसा निर्णय सभी तरह से अत्यंत सटीक लग रहा था और पं. नेहरू को इसी नींव पर अपना प्रश्न हल करना चाहिए था. परंतु पं. नेहरू प्रश्नों का हल खोजना ही नहीं चाहते थे. उन्हें दुनिया को बता देना था कि वे प्रीव्ही काउन्सिल से अधिक सेक्युलर हैं, इस मुद्दे को दुनिया की नजर से देखते हैं, वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व स्तर के नेता हैं. प्रीव्ही काउन्सिल के निर्णयानुसार पं. नेहरू के काल में अमल करना तो दूर, पर इस विवाद का हल निकालने के लिए उसे नींव रूप में स्वीकारा भी नहीं गया.

रोनी-सी सूरत लेकर अक्सर कहा जाता रहा है कि मंदिर की पुनःस्थापना का प्रश्न केवल भावनात्मक है और इससे 'सही' मायने में दरिद्रता जैसी समस्या का हल निकालने में कोई सहायता नहीं होनी है. अगर भावनात्मक प्रश्नों को दुर्लक्षित करने योग्य कहा जाय, तो स्वराज्य के सवाल को भी नजरअंदाज किया जा सकता है. अगर सधन होना ही एकमात्र मूल्य माना जाय तो अपने ही देश में विदेशियों के राज्य में हम कदापि सधन नहीं हो पायेंगे. क्या यह सिद्ध किया जा सकता है कि केवल स्वराज्य ही सधनता ला सकता है?

स्वराज्य की तरह ही संपूर्ण देश में एकता बनी रहे, यह भी भावनात्मक उद्देश्य ही है. एकता की यह भावना रामजन्मभूमि जैसी समस्याओं को धुंधुआते रखने से स्थापित नहीं हो सकती. असंख्य लोग काशी, मथुरा, अयोध्या जैसे स्थलों पर यात्रा या दर्शन हेतु जाते हैं. और उन्हें बताया जाता हो कि 'इसे बाबर बादशाह ने गिराया', 'इसे औरंगजेब ने तोड़ा' तो इन लाखों के मन में मुसलमानों के प्रति सद्भावना भला कैसी पनपेगी? हिंदू-मुस्लिम एकता बनाये रखने के लिए इस समस्या का हल मिलना जरूरी है.

इस पर पं. नेहरू उपाय सुझाते हैं कि मुसलमानों द्वारा (अमुक एक स्थल की) तोड़फोड़ की गई थी, ऐसा लोगों को कहने पर मना किया जाय. परंतु यह उपाय झूठ का सहारा लेकर समाज को बनाये रखने की कोशिश जैसा है. झूठ भला कितने दिन टिक पायेगा? खासकर सारी दुनिया के इतिहासकार जो सत्य बता रहे हैं, वह लोगों से कितने दिन तक छिपकर रह सकता है? आर्यों के आक्रमण का असत्य दो शतकों तक तहलका मचाता रहा क्योंकि उसे दुनिया के एक चौथाई हिस्से पर साम्राज्य फैलानेवाले अंग्रेज शासकों का आश्रय था. क्या भारत सरकार के पास इतनी सामर्थ्य हो सकती है? अतः जो पवित्र क्षेत्र लाखों लोगों के दर्शन का विषय है, उसके बारे में ऐसा असत्य कहकर, करोड़ों जनता का मन दुखी नहीं करना चाहिए. इतनी सरल सीधी बात को भला कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है?

कुछ लोग पूछते हैं कि पाँच सौ वर्षों तक मुसलमानों ने जो किया था उसकी सजा आज के मुसलमानों को क्यों दी जाय? कल के मुसलमानों ने हमारे मंदिरों को तोड़ा था इसलिए आज उनके मस्जिदों को गिराओ, ऐसा अगर कोई कहे, तो बात कुछ-कुछ

ईमानदार लग सकती है। पर ऐसा कोई कहता ही नहीं है। मंदिर को धर्मद्वेष का कारण बताकर तोड़ा गया है, तो माँग केवल इतनी ही है कि उसे फिर से स्थापित किया जाय। उधर तथाकथित सेक्युलरिस्टों का कथन है कि ऐसी माँग करने पर आज के मुसलमानों के प्रति द्वेष-भाव रखने की बात स्पष्ट होती है। साथ ही वे यह मानकर चलते हैं कि हिंदुओं के मंदिरों को गिराने का धार्मिक अधिकार मुसलमानों को प्राप्त है। इस अधिकार को माननेवाले मुसलमानों या सेक्युलरिस्टों पर हिंदुओं के प्रति द्वेष-भाव रखने में किस तरह का अन्याय कहलाया जा सकेगा? वास्तव में सेक्युलरिस्ट ही सही मायने में मुस्लिम द्वेषी हैं, जो मानते हैं कि रामजन्मभूमि का उद्धार करने की माँग का अधिकांश मुसलमानों का विरोध है। सच यह है कि इस बात पर मुसलमान बातचीत के लिए तैयार हैं। यह शंकराचार्य की कोशिश से स्पष्ट है। बाबरी की समिति के अध्यक्ष शहाबुद्दीन ने कहा था कि “यदि यह सिद्ध हो जाता है कि बाबर ने राममंदिर तोड़ा था, तो मैं स्वयं वहाँ मंदिर बनवाने के लिए कारसेवा करने को तैयार हूँ।” किसी भी सेक्युलरिस्ट ने ऐसा कदम तो क्या, बात भी नहीं कही। सेक्युलरिस्टों ने मुसलमानों को कभी भी समझाने का प्रयत्न नहीं किया। इसके विपरित, वे उन्हें और भड़काते ही रहे हैं। पी.व्ही. नरसिंह राव के काल में उनकी लोकसभा ने यह प्रस्ताव तय किया था कि उपासना स्थलों की 1947 से पहले की स्थिति बनायी रखी जाय। इसका अर्थ अगर यह होता हो कि हिंदुओं के मंदिर गिराने का समर्थन करना है, तो 1947 ही क्यों? 1993 क्यों नहीं? क्या बाबरी मस्जिद का प्रश्न धुँधलाता ही रह? ऐसी मनीषा तो नहीं?

### क्या हिंदुओं ने भी वही किया?

हिंदुओं के मंदिर गिराने का हक मुसलमानों को है या नहीं और ऐसे मंदिरों का उद्धार करने की मनाई होनी चाहिए या नहीं जैसे प्रश्नों पर सभी मुसलमानों का जनमत प्राप्त करना चाहिए। फिर यदि बहुसंख्य मुसलमान ‘ना’ कहते हों तो समस्या का हल पाना सरल हो जायेगा।

सेक्युलरिस्टों के दिल में यह भय बैठा हुआ है कि आम मुसलमान भी स्वभावतः यही सोचते हैं कि हिंदुओं के मंदिर गिराना योग्य नहीं है। अतः सेक्युलरिस्टों ने यह झूठ कहकर प्रचार कर दिया कि बाबर और औरंगजेब ने हिंदुओं के मंदिर गिराये ही नहीं थे, मस्जिद गिराना हिंदुओं की ही ‘जातीय’ साजिश थी। और ऐसा प्रचार जब उच्चपदस्थ हिंदुओं द्वारा होने लगा, तो यह संभव नहीं था कि किसी को या खासकर मुसलमानों को बात सच न लगे। इस प्रचार के परिणामस्वरूप अधिकांश मुसलमान वर्ग, जो हिंदुओं की माँग स्वीकार करने को था, वह भी हिंदुओं के खिलाफ हो गया।

जब यह बात अस्वीकार की ही नहीं जाती कि मुसलमानों ने मंदिरों को गिराया था, तब सेक्युलरिस्ट जन अपनी विशाल कल्पनाशक्ति का आधार लेकर मंदिर गिराने की कारण-मीमांसा करते हैं कि “मंदिर में चोर-डाकू छिपकर बैठे थे इसलिए मंदिर गिराया गया।

क्या इंदिरा गांधी ने भी सुवर्ण मंदिर नहीं गिराया था? मुहम्मद गजनी ने सोमनाथ के मंदिर में धन इकट्ठा कर रखा था इसलिए उसे लूटा गया। कल्पना यह नहीं थी कि मंदिर तोड़कर पुण्य पा लें। कश्मीर के हर्षदेव राजा ने भी मंदिरों को लूटा था। मराठों ने भी शंकराचार्य के मठ को दो बार लूटा है। यह सारी बातें इतिहास बताता है।

मंदिरों व मठों को लूटना, वहाँ की मूर्तियों को भंग करके उस विध्वंस पर मस्जिद बनवाना सभी बातें एक नहीं हैं। मुस्लिम इतिहासकारों की गवाही देकर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि इस कृत्य का उद्देश्य धनप्राप्ति न होकर धार्मिक भावना मात्र थी। उनकी इस निंदा को कि गजनी व औरंगजेब तो केवल लुटेरे थे, कभी भी माफ नहीं किया जा सकता। कट्टर मुसलमानों का भी यह मानना है कि गजनी व औरंगजेब के ऐसे कार्यों का हेतु धार्मिक ही था। सीमाराम गोयल ने अपने हिंदू मंदिरों पर लिखे ग्रंथ में और विश्व हिंदू परिषद की रामजन्मभूमि पर दी गवाही में विस्तार से यह बात कही है कि किस तरह से गजनी ने सोमनाथ के पुजारियों से कहा था कि ‘मैं मूर्ति विक्रेता नहीं हूँ, मूर्तिभंजक हूँ।’ अब साहित्य में कई ऐसे एक-दो वाक्य मिलते ही हैं, जो सप्रमाण नहीं होते और उनके संदर्भ भी प्रस्तुत प्रसंग में उदाहरण स्वरूप नहीं लिये जा सकते। फिर भी बताने का साहस किया जा रहा है। कल्हण कहते हैं कि ‘हर्षदेव ने मंदिर लूट कर तुर्कों का अनुकरण किया।’ शैव पंथियों द्वारा जैन पंथियों पर किये अत्याचार भी मुस्लिम आक्रमणकारियों का अनुकरण है। किंतु इन अत्याचारों के साथ जैन प्रार्थना स्थलों पर वैदिक देवताओं के मंदिर खड़े करने के उदाहरण कहीं भी नहीं मिलते। पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों को मारा। यहाँ भी बौद्धों के प्रसिद्ध प्रार्थना स्थलों (स्तूपों) को गिराने का उल्लेख नहीं मिलता। पुष्यमित्र शुंग व बौद्धों का संघर्ष राजकीय था। दो हजार वर्ष पूर्व इतिहास में क्या घटित हुआ था, इन संदर्भों को एक-दो वाक्यों में ही कहा गया है। इसके अलावा सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि मुसलमानों की मस्जिद को किसी हिंदू राजा ने गिराया है, यह सिद्ध होने पर भी ऐसा एक भी हिंदू नहीं मिलता जो यह कहे कि मंदिर गिराकर मुसलमानों को अपनी मस्जिद वापस न की जाय। इस पृष्ठभूमि पर ‘हिंदू भी वही कर रहे थे’ इस प्रतिपादन की उचितता नष्ट हो जाती है।

पोथी या पुराणवादी मुसलमानों का तत्त्वज्ञान जगप्रसिद्ध है और सेक्युलरिस्ट कितनी भी बकवास कर लें अब ये छिप नहीं सकते। कल-परसों की बात है कि तालीबान ने अफगानिस्तान में बुद्ध की मूर्ति को तोड़कर सेक्युलरिस्टों की बोलती बंद कर दी है। अब अमरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्र की ओर वे बढ़ रहे हैं और उनके तत्त्वज्ञान की जानकारी अमरिका दुनिया को दे रहा है।

### नेहरूवाद : देशद्रोह का कारखाना

नेहरू और नेहरूवाद यदि भारत में तेजी से फैला न होता तो मुस्लिम समस्या का हल बहुत पहले ही मिल जाता। भारत में रहनेवाले मुसलमान पाकिस्तान विभाजन के बाद यह जान चुके थे कि पाकिस्तान की स्थापना के कारण उनका बहुत नुकसान हुआ है। अखण्ड भारत

में मुसलमानों की संख्या एक बटे चार थी. अब विकसित भारत में वह एक बटे दस हो गयी है. प्रजातंत्र के काल में यदि एक बटे चार जनसंख्या पूरी तरह से विपक्ष में रहती तो कोई भी राज्य सुचारू रूप से कार्य नहीं कर पाता. परंतु विभाजित भारत में मुसलमानों से एक मत भी न मिलकर भी, भारी बहुमत का राज्य स्थापित हो सकता था. श्री. बलराज मधोक ने यह जतला दिया था कि लोकसभा में केवल तीस स्थानों पर मुसलमान मतदारों का मत निर्णायक हो सकता है. अर्थात् तमाम मुसलमानों के विरोधी बन जाने पर भी केवल हिंदुओं का बड़ा समूह उनके साथ न होगा, तभी उनकी राजकीय ताकत शून्य बन सकती है. इसके विपरित बहुत कम हिंदू पाकिस्तान में रह गये और जो शेष रह गये थे, धीरे-धीरे उन्हें भी भगाया गया था. और फिर पाकिस्तान में रहकर मुसलमानों की मर्जी बनाये रखनेवाला समूह नगण्य ही था. पाकिस्तान के इस उपाय से मुसलमानों का राजनीति में सामर्थ्य लगभग पचास प्रतिशत नष्ट हो गया. इधर हिंदुओं से मेल मिलाप बनाये रखना ही भारत के मुसलमानों के समक्ष पर्याय शेष रह गया था. यह बात समझ में आ जाने के कारण ही उन्होंने हिंदी, समान नागरी कानून, गोवध बंदी आदि को सहज भाव से स्वीकार कर लिया था. संविधान के श्रीराम व श्रीकृष्ण के नामों पर आक्षेप नहीं उठाये. किसी भी मुसलमान ने यह नहीं कहा कि अकबर के स्थान पर औरंगजेब या बाबर की तस्वीर लगाई जाय.

जब मुसलमान इस मनोदशा से गुजर रहे थे तब हमीद दलवाई का तत्त्वज्ञान उनके समक्ष होता तो भारत की हिंदू-मुस्लिम समस्या कब की हल हो चुकी होती. हमीद दलवाई का कहना है—

“भारत पर आक्रमण करनेवाले तुर्कों-मुगलों का द्वेष करने का हक जितना मुझे है उतना हिंदुओं को नहीं है. क्योंकि इन आक्रमणकारियों ने मेरे पुरखों पर अत्याचार किये थे इसलिए आज मैं मुसलमान हूँ. हिंदुओं के पुरखों पर अत्याचार नहीं हुए, इसलिए वे हिंदू ही बने रहे.”

यदि इसी सोच को मुसलमानों में प्रचलित करने में भारत सरकार अपनी सारी ताकत लगा देती तो हमारा धर्म अलग है फिर भी हमारी राष्ट्रियता हिंदू है, इस बात को मुसलमानों को समझाना मुश्किल कहाँ था? क्या हमीद दलवाई एक न भूतो न भविष्यति ऐसा व्यक्ति था? ऐसे ही हजारों हमीद दलवाई भारत में निर्माण करने की सामर्थ्य क्या भारत सरकार में नहीं थी?

सरकार पर अपना अधिकार न होते हुए भी महात्मा गांधी जी ने ‘भारत माता की जय’ का नारा लगाकर हजारों मुसलमानों को पुलिस की लाठी की मार और कारावास की परवाह न करने की सीख दी थी. सीमा प्रांत के निकट का मुसलमान स्वयं को गर्व से सरहद गांधी घोषित करने में गौरवान्वित होता था. उन्होंने ‘महात्मा गांधी की जय’ का नारा लगाकर जिना के मुस्लिम लीग का पराजय किया और सीमा प्रांत में कांग्रेस का मंत्रिमंडल

स्थापित किया तथा अखंड भारत को सम्मानित किया.

भारतीय मुसलमानों का स्वयं को हिंदू मानना ही स्वाभाविक लगता है. ग्रीक जन ईसाई बने परंतु प्लेटो व अरिस्टाटल हमारे नहीं हैं, उनकी भाषा हमारी नहीं है ऐसा उन्होंने कभी नहीं कहा. वे मानते हैं कि संस्कृति के तहत हम ग्रीक हैं, सारे यूरोप के नहीं, भले ही वे स्वयं को सारी दुनिया के सांस्कृतिक जनक मानते हो. पाकिस्तान के मुसलमानों में भी वेद व पाणिनि को अपना कहने की वृत्ति बलवान है, तो भारतीय मुसलमानों में यह क्यों नहीं?

इसका उत्तर तो बिलकुल सीधा है. पं. नेहरू को हिंदू संस्कृति से घृणा थी और अधिक से अधिक लोग उससे घृणा करें, इस बात के लिए उन्होंने अपनी सारी ताकत लगा दी थी. इस संदर्भ में हुमायूँ कबीर का कथन उल्लेखनीय है. वे गांधी के युग में हमारे कालेज में प्रीति-सम्मेलन के उद्घाटन के लिए पधारे थे. उन्होंने कहा था कि बहुसंख्य हिंदू तथा अल्पसंख्य मुसलमान इस भेद को अंग्रेजी पार्लियामेंट की सरकार का दल तथा विरोधी दल के भेद जैसा ही समझना चाहिए. यहाँ राष्ट्रीयता में भिन्नता का कोई संबंध नहीं है. नेहरू युग में भी इन्हीं हुमायूँ कबीर ने ‘बहुसंख्य जनता अल्पसंख्यक जनता को तकलीफ दे रही है’ कहकर आरोप किया था. ‘टाइम्स ऑफ इंडिया’ जैसे सेक्युलर समाचार-पत्र में भी अल्पसंख्यक वाद का अर्थ माइनोंरिटीज बताया था. पं. नेहरू के दूसरे मुस्लिम मित्र शेख अब्दुल्लाह को भी भारत के खिलाफ चाल चलने के आरोप में मजबूर होकर पं. नेहरू को उन्हें गिरफ्तार करना ही पड़ा. अब्दुल गफ्फर खान पूरी तरह से अखण्ड भारतवादी थे. परंतु पाकिस्तान बनने के बाद भारत आने पर भारतीयों पर आरोप किये जा रहे थे कि उन्होंने मुसलमानों पर अन्याय ही किया था. नेहरूवाद का मुसलमानों पर क्या परिणाम हुआ होगा इसी वाक्य से स्पष्ट होता है.

### भौगोलिक राष्ट्रीयता

हिंदू-मुसलमानों में एक राष्ट्रीयता का भाव निर्माण करने के लिए ऐसा कुछ करना होगा जिससे दोनों के मन में भारत के प्रति समान अभिमान व प्रेम भाव जागृत हो. पं. नेहरू के अनुसार अगर भारत की राष्ट्रीयता का संबंध भारत के भू-भाग से संबंधित माना जाता है, तो उस क्षेत्र विशेष के प्रति प्रेम-भाव को भारतीय राष्ट्रीयता कहना होगा. उसमें भारत में रहनेवाले अन्य वासियों के प्रति यह भाव शामिल नहीं होगा. फिर तो ऐसा प्रेम-भाव बाबर-औरंगजेब के मन में भी था. बाबर अपनी जन्मभूमि छोड़कर भारत में राज्य स्थापन करने आता है, औरंगजेब ने भी अपनी पुरखों की मध्य आशिया की भूमि पर राज्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया. हम यँ नहीं कह सकते कि ऐसा करने की ताकत ही उनमें खासकर औरंगजेब के पास नहीं थी. राष्ट्रीयता का संबंध केवल भौगोलिकता से हो तो औरंगजेब भी हिंदू ही कहलायेगा. पं. नेहरू ऐसा ही सोच रहे थे. अर्थात् जिस तरह से पं. नेहरू सेक्युलरिज्म का अर्थ धर्म से जोड़कर समझा रहे थे, उसी तरह से भारतीय राष्ट्रीयता

का अर्थ भी भारत के प्रति स्वामित्व की भावना रखते हुए भारतीयों से घृणा करने की वृत्ति बता रहे थे। इस अर्थानुसार औरंगजेब ही नहीं, अंग्रेज भी भारतीय राष्ट्रीयता के स्मारक ही थे।

राष्ट्रीयता की संकल्पना में केवल व्यक्ति कहाँ रहता है? इस प्रश्न मात्र से उसकी राष्ट्रीयता तय नहीं होती है। राष्ट्रीयता ही क्यों नागरिकता भी रहने के स्थान से तय नहीं होती। सरकार आवास-स्थान के आधार पर नागरिकता प्रदान करती है। औरंगजेब का ही शासन था, अतः यदि वह स्वयं को भारतीय नागरिक मानता रहा होगा, तो उसे भारतीय नागरिक मानने के लिए वह काफी है। परंतु औरंगजेब ने, कहीं भी, खुद को भारतीय नहीं कहा है। सभी मुगल खुद को तुर्क कहते थे। जब औरंगजेब पंगु हुआ था तो 'मैं मेरे पूर्वज तैमूर लंग की तरह हो गया हूँ' कहकर संतोष मान लेता था। 'स्वयं को तुर्की बताकर वह अपनी राष्ट्रीयता व कुल दोनों को तुर्की होने की घोषणा करता है।' अतः पं. नेहरू का, औरंगजेब को भारतीय कहना कोई मायने नहीं रखता। जो खुद को भारतीय नहीं मानता उसे पं. नेहरू भारतीय बताकर उस पर झूठा आरोप ही लगा रहे थे।

भौगोलिक राष्ट्रीयता की संकल्पना पं. नेहरू के दिमाग की उपज है। यह संकल्पना किसी भी यथार्थ का बोध नहीं कराती। अगर औरंगजेब को भारतीय मानना चाहते हैं तो प्रथम यह देखना होगा कि क्या वह भारत में रहनेवालों को अर्थात् हिंदुओं को अपना मानता था? परंतु औरंगजेब क्या, अकबर भी हिंदुओं को स्वजन मानता था इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वह भी खुद को तुर्क ही कहता था। उसका रहन-सहन, वेशभूषा सब कुछ फारसी भाषा बोलने वाले तुर्कों की तरह ही था। इसे सिद्ध करने के लिए आवास-स्थान के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण उसके पास नहीं था। हिंदुओं के प्रति सहिष्णु होने का अर्थ उनके प्रति आत्मीयता होना नहीं होता। मानव का समूह राष्ट्र कहलाता है, किसी प्रदेश को राष्ट्र नहीं कहा जाता। ज्यू लोगों का कोई राष्ट्र न था, वे तो दुनिया भर में बिखरे हुए थे, तब भी उन्हें एक ही राष्ट्र का अंग माना जाता था। अब हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि जिसे भारतीयों के प्रति आत्मीयता है उसकी राष्ट्रीयता भारतीय है।

मुगलों के काल में भारतीय या इंडियन शब्द का प्रचलन नहीं था। भारतीय शब्द का अर्थ केवल एक ही शब्द था— हिंदू। औरंगजेब के समय में भी भारतीय मुसलमान व तुर्की मुसलमानों में भेद दर्शाने के लिए भारतीय मुसलमान भी हिंदू ही कहलाये जाते थे। मुसलिम लीग व अलिगढ़ विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैय्यद अहमदखान ने एक भाषण में कहा था कि "मैं मुसलमान हूँ पर हिंद में रहता हूँ, हिंदू हूँ।" (भारतीय विद्याभवन : भारत का इतिहास)। जब ब्रिटिश मंत्रिमंडल के सदस्य भारत के भविष्य के संबंध में बातचीत करने भारत आये थे तब बॅरिस्टर जीना कहते हैं, "मैं इंडियन नहीं हूँ।" जिना स्वयं कानून ज्ञाता थे, अतः इंडियन शब्द का अर्थ उन्होंने आवास-स्थान दर्शाने के लिए नहीं कहा था इसे हम समझ सकते हैं। कांग्रेस कहती थी कि इंडिया नामक देश में रहनेवाले सभी

का एक समान राष्ट्र है। इस कथन का विरोध करने के लिए उन्होंने यह कहा था। उनकी राष्ट्रीयता इंडियन होने का अर्थ उनके हिंदू होने से था, अन्य दूजा अर्थ हो नहीं सकता था अतः जिना ने स्वयं को इंडियन नहीं कहा था।

### हिंदू-मुस्लिम संघर्ष का आयोजन

इस संदर्भ में बॅ. जिना व गांधीजी के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ था उसमें गांधीजी लिखते हैं कि "मैं गुजराती हूँ, जिना भी गुजराती हैं, परंतु हमारा राष्ट्र अलग है क्योंकि हमारे धर्म भिन्न हैं।" इसे सच माने तो धर्मांतर को ही राष्ट्रान्तर कहा जा सकता है। परंतु इतिहास में यह नहीं लिखा है कि "धर्मांतरित लोगों का भी कहीं राष्ट्र बना है।"

मुसलमानों को राष्ट्र कहनेवाले स्वयं जिना की श्रद्धा इस्लाम पर नहीं थीं, वे नहीं मानते थे कि शरियत ईश्वरप्रणिता है और पाकिस्तान के कानून बनाते समय उनकी नजरों के समक्ष कमाल पाशा के 'सेक्युलर' का अर्थ था। वे सूअर का मांस खाते थे। जब वे कहते थे कि "मेरा राष्ट्र हिंदुओं से अलग है" तो इसका अर्थ यह था कि इस्लामी धर्मग्रंथों को प्रमाण न मानकर भी खुद को मुस्लिम कहलवाने वाले मुसलमानों का राष्ट्र हिंदुओं से अलहिदा ही होगा। शायद अधिक गहराई से पूछताछ की जाती तो वे उनके पूर्वजों को हिंदू कहने से नार देते। यह बात उनके अरब लीग की सदस्यता के लिए अर्जी देने से स्पष्ट होती है। मेरा अनुभव है कि जब मुसलमानों से उनकी राष्ट्रीयता पर चर्चा की गई थी तो वे अपने पूर्वजों को हिंदू नहीं कहते हैं। इस बिंदु पर भारतीय मुसलमानों के पूर्वज हिंदू थे इस बात रूपी पत्थर पर मुस्लिम राष्ट्रवादी नाव टकराकर फूट जाती है और मुस्लिम राष्ट्रवाद का निराकरण का एकमात्र उपाय शेष रह जाता है कि इस अविवाद्य मुद्दे पर बल दिया जाय। पाकिस्तान में भी इसी तथ्य के अहसास ने सिंधी, पठानी व बंगाली आदि जनों का पाकिस्तान से अलगाव स्थापित हुआ है। इसी में से अखण्ड भारत की भावना निर्माण करना सहज संभव है।

भारतीय मुसलमानों के पूर्वज हिंदू हैं और इसलिए उनका धर्म भिन्न होने पर भी राष्ट्रीयता हिंदू ही है। हमीद दलवाई की इस विचारणा का साथ न देते हुए, पं. नेहरू ने उसके दक्षिणोत्तर नितान्त विरोधी ऐसी विचारधारा पर बल दिया। इस कारण वे मुसलमानों को उनके पूर्वज हिंदू हैं ऐसा बताने के बजाय हिंदुओं से कहना प्रारंभ किया कि "औरंगजेब आपका राष्ट्रीय बादशाह था और शिवाजी लुटेरा था।" पं. नेहरू की धारणा यह थी कि "हिंदू-मुस्लिम समस्या प्रथम शिवाजी ने, फिर अंग्रेजों ने और अब इन दोनों की संतान, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने निर्माण किया। इन ताकतों को ही नेस्तनाबूद काय जाय तो हिंदू-मुस्लिम समस्या का हल निकल सकेगा।" दिल्ली के लाल किले पर मुगलों का गुणगान करने के लिए छाया-प्रकाश के कार्यक्रम का आयोजन प्रारंभ कर दिया, फिर मुगलों के नाक में दम करनेवाले मराठों की निंदा करने के लिए डॉ. ताराचन्द जैसे किराये के इतिहासकारों की नियुक्ति की। संविधान ने स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया था कि संस्कृत प्रधान हिंदी ही



केन्द्र सरकार की भाषा है। फिर भी पं. नेहरू शोरगुल करते रहे कि कांग्रेस के कुछ 'जातीय हिंदू', उदा. गोविंद वल्लभ पंत आदि उर्दू भाषियों पर अर्थात् मुसलमानों पर हिंदी व संस्कृत 'लाद' रहे हैं। बंगाली मुसलमानों को उर्दू से घृणा है और संस्कृतप्रचुर बंगाली को ही अपनी मातृभाषा मानते हैं। ऐसा कदापि नहीं कह सकते कि पं. नेहरू इस बात से अपरिचित थे। अतः जब गोविंद वल्लभ पंत और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें खरी-खोटी सुनाते हुए कहा कि 'मुसलमानों की भाषा हिंदुओं की भाषा से भिन्न है कहकर आप ही मुसलमान को दूर टेल रहे हैं और दंगों को प्रोत्साहन दे रहे हैं' तब पं. नेहरू ने खुलकर ही कहा कि 'मेरे तत्त्वों से यदि दंगों को बढ़ावा मिलता है तो मुझे उसकी परवाह नहीं।' (एस. गोपाल)

इसे हिंदू-मुस्लिम एकता की कोशिश न कहकर मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ भड़काना ही कहना होगा।

### विचार-स्वतंत्रता का शत्रु

जहाँ सिंध और बांगला देश के आंदोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि एक तरह से पाकिस्तान की स्थापना के कार्य में दोनों घटनाएँ हिंदू राष्ट्र की कल्पना के बीज मुसलमानों में बोने में सहायक ही रही हैं। महात्मा गांधी को, जो अवसर कभी भी नहीं मिल पाया वह पं. नेहरू को उपलब्ध हुआ था। वे भारत के सर्वसत्ताधारी बन बैठे थे। स्वराज्य के आंदोलन से निर्मित भावनाओं की ताजगी को लेकर जनता उनके साथ थी। अतः पं. नेहरू के लिए कई बातें कर पाना सहज संभव था। उनमें से कुछ प्रमुख बातें हैं— हिंदू-मुसलमानों के लिए समान शिक्षा-प्रणाली दोनों के लिए समान मानी जानेवाली मातृभाषा में प्रारंभ की जा सकती थी। इतिहास की शिक्षा में भी भारतीय मुसलमानों के पुरखे हिंदू थे और पाकिस्तान का इतिहास 1947 से प्रारंभ होने के बावजूद भी भारतीय मुसलमानों के पूर्वजों का इतिहास हिंदुओं की तरह वेदों से ही प्रारंभ होता है। इन तथ्यों पर पं. नेहरू ने बल दिया होता, भारत को चीन की तरह बलवान बनाया होता, तो हिंदू-मुस्लिम समस्या निश्चित रूप से आसानी के साथ हल हो जाती थी। यह सब पं. नेहरू के लिए संभव था। परंतु उन्होंने संपूर्णतः इससे विपरित व्यवहार करते हुए भारत को बलवान बनाना तो दूर, जैसा कि 1965 के युद्ध से सिद्ध हुआ था कि भारत को पाकिस्तान से भी अधिक दुर्बल बनाकर रख दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों में हिंदू राष्ट्रियता के स्थान पर मुस्लिम राष्ट्रियता का आकर्षण बढ़ा और उन्हें उनका खानदान हिंदू है इस बात को नकारने का प्रोत्साहन मिला।

पं. नेहरू ने एक बार अलिगढ़ विश्वविद्यालय में भाषण देते कहा था कि 'मुस्लिम संस्कृति कहे, ऐसा कुछ नहीं है।' अक्सर इस वाक्य का सहारा 'पं. नेहरू ने मुस्लिम अलगाव को बढ़ावा दिया' इस वाक्य का खण्डन करने के लिए अक्सर लिया जाता है। परंतु इस वाक्य का अर्थ अखण्ड भारतवादी समझ रहे हैं, उससे काफी भिन्न है। 'मुसलमानों की संस्कृति भिन्न नहीं है' का अर्थ है— "आज जिसे मुस्लिम संस्कृति कहा जा रहा है वही हिंदुओं की भी वर्तमान संस्कृति है। हिंदू अगर वेद व संस्कृत वाङ्मय को अपनी संस्कृति

का भंडार समझते हैं तो उनकी स्थिति उस जिद्दी आदमी की तरह है, जो उसके दो सौ वर्षों से पूर्व के पूर्वजों का खंडहर बना घर और पीढ़ी-दर-पीढ़ी दूसरों के पास होनेवाली उस घर का स्वामित्व भुलाकर 'वही मेरा घर है' कहकर, आज का सर्वसुविधा युक्त घर छोड़ने की जिद कर रहा हो।" पंडित नेहरू के 'मुस्लिम संस्कृति अलग नहीं है' कहने का एकमात्र उद्देश्य यही था।

पं. नेहरू के 'सेक्युलरिज्म' का मुख्य उद्देश्य था कि वे भारत के मुसलमानों को विशेषाधिकृत जमात कहकर गौरवान्वित करना चाह रहे थे। इस तरह से किसी को विशेषाधिकृत मानना हमारे संविधान के मात्र शब्द संयोजन नहीं, लक्ष्य के भी खिलाफ जाना है। संविधान आश्वासन दिलाता है कि जाति, धर्म, लिंग के आधार पर पक्षपात नहीं किया जायेगा। ऐस होकर भी पं. नेहरू ने अपने केन्द्र के और प्रांतों के सहकारियों से कह रखा था कि मुसलमानों को नागरी व सैनिक सेवा में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। नौकरी में प्रतिनिधित्व की भाषा करने का अर्थ है नौकरीदारों को कानून मंडल की सदस्यता की कतार में खड़ा कर दीजिए।

पं. नेहरू आँसू बहा रहे थे कि मुसलमानों को भारत में पराया समझा जा रहा था। पर इसमें दोषी भला कौन था? पाकिस्तान निर्माण करने के लिए मुसलमानों ने यह कारण दिया था कि जिस देश के हम नागरिक बन ही नहीं सकते, ऐसा देश हमारी जन्मभूमि को टुकड़ों में बाँट कर बनाया जाय। अब भला ऐसे लोगों को देश पराया समझता हो तो क्या इसे देश की भूल मानेंगे? पाकिस्तान बनाने वाले मुसलमानों ने भला अपने किस बर्ताव से यह सूचित किया था कि उनकी सोच में परिवर्तन हुआ है?

पं. नेहरू के उपरोक्त व्यवहार को हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए किया गया कार्य का लेबल लगाया जाता है। परंतु मुसलमानों को केवल मुसलमान की तरह स्वीकार करना हिंदू-मुस्लिम एकता या हिंदू-मुस्लिम शत्रुता दोनों में से किसके लिए पोषक होगा?

पं. नेहरू के शब्द-कोश में सेक्युलरिज्म का अर्थ था— हिंदू और हिंदुओं के धर्म से घृणा करना। यह बात भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित Religious Leader पुस्तक के खिलाफ मुसलमानों द्वारा किये गये दंगों से साफ जाहिर है।

### ब्रिटिशों का सेक्युलरिज्म

Religious Leader इस पुस्तक में अन्य धर्मों के संस्थापकों के साथ-साथ मुस्लिम धर्म के संस्थापक मुहम्मद पैगम्बर पर भी एक लेख है। यह लेख एक प्रथितयश विद्वान का लिखा हुआ है। वह मुसलमानों की भावना पर प्रहार करता है। अतः मुसलमानों ने इस पुस्तक पर रोक लगाने की माँग की। कानून के अनुसार कोई लेखन मात्र धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचता है, अतः दण्डनीय कदापि नहीं माना जा सकता। यह सिद्ध करना जरूरी होता है कि लेखक का एकमात्र उद्देश्य दुखी करने का था, सत्य बताने का नहीं। परंतु इस लेख में ऐसा कुछ सिद्ध करना असंभव-सी बात थी। इस पुस्तक पर पाकिस्तान

व अन्य किसी भी मुस्लिम देश ने आपत्ति नहीं उठाई थी और पुस्तक पर पाबंदी लगाई भी जाय तो न्यायालय को वह स्वीकार्य होना ही नहीं था।

मुसलमानों ने इस बात को लेकर उग्र रूप धारण किया। बिजली के तारों को तोड़ना, अन्य तरीकों से संचार के साधनों को नष्ट करना, लूटपाट मचाना आदि तरीकों से आंदोलन प्रारंभ किया। पं. नेहरू की पुलिस ने इस पर कोई संरक्षक कदम उठाने की कोई खबर पढ़ने में नहीं आई।

इसके विपरित दिल्ली के रामलीला मैदान पर एक व्याख्यान देकर इस लेख पर जी भरकर बात का बर्तगड बनाते रहे (मनमानी बातें सुनाते रहे)। और अन्त में यह कहा कि “मैंने गृहमंत्री को यह आदेश दिये हैं कि इस पुस्तक के खिलाफ कार्यवाही करने के लिए ऐसा कानून बनाये जिसमें यह स्पष्ट लिखा हो कि धर्मसंस्थापकों की निंदा करना एक गुनाह कर्म माना जाय। इस निंदा के साधार या निराधार होना महत्वपूर्ण नहीं है।” इस घोषणा में ‘धर्मसंस्थापकों’ यह शब्द-प्रयोग महत्वपूर्ण है। क्योंकि हिंदू धर्म का कोई संस्थापक नहीं है। श्रीराम या श्रीकृष्ण हिंदू धर्म के संस्थापक नहीं हैं। अतः इनकी निंदा करना कानूनन जुर्म साबित होना नहीं था। तात्पर्य यह है कि मुसलमान व ईसाइयों को हक है कि वे अपनी भावनाओं का जतन करें, हिंदुओं की नहीं। इस कानून का यही तो अर्थ बोध होता है।

भविष्य में इस कानून का क्या हुआ? पढ़ने में नहीं आया। इसका कारण भी साफ है। क्योंकि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, गोविंद वल्लभ पंत आदि नेतागण इस बात से सहमत नहीं थे कि केवल धर्मसंस्थापकों की निंदा दण्डनीय मानी जाय और इसलिए हिंदू धर्म की निंदा अदण्डनीय मानी जाय। पं. नेहरू को डर था कि यदि हिंदू धर्म की निंदा भी दण्डनीय मानी जाने लगेगी, तो उसका उपयोग मिशनरियों के खिलाफ करके मिशनरियों का सारा खेल ही खत्म करने के लिए होगा।

यह केवल एक विचार है, ऐसा आरोप लगाया जा सकता है। परंतु पं. नेहरू व उनके बाद की कांग्रेस सरकार का व्यवहार, इस बात की पुष्टि करता है। कांग्रेस सरकार ने धर्म-निंदा को आधार मानकर इस्लाम व ईसाई धर्म की निंदा दण्डनीय तय नहीं किया। परंतु उसने शांति-भंग करने की वजह बताकर उस पर पाबंदी बनाये रखी। सीमाराम गोयल को कुराण के संबंध में न्यायालय में प्रस्तुत उनके निवेदन को प्रकाशित करने से मना किया गया। रामस्वरूप द्वारा हादिस के आधार पर लिखी इस्लाम पर चर्चा को भी बेचने या ग्रंथालयों में रखने पर पाबंदी लगा दी थी। हिंदू धर्म संबंधी ऐसे किसी भी विवेचन पर रोक नहीं लगाई गई थी। इसके विपरित ‘रिलीजस लीडर्स’ इस पुस्तक से संबंधित दंगों के आसपास ही लीलावती मुंशी ने श्रीकृष्ण की निंदा की। इस संदर्भ में हिंदुओं द्वारा व्यक्त रोष से सरकार दरबार के कानों में जूँ तक नहीं रेंग सकी (सरकार दरबार को किंचित् भी अस्वस्थ नहीं कर पाई)। बहुत पहले की गई शूर्पणखा की सुंदरता को विद्रूप करने के संदर्भ में मिशनरियों द्वारा निंदा की गई थी उसे पुनश्च बढ़ावा दिया गया, उसे आकाशवाणी से

प्रसारित भी किया गया था, इसके खिलाफ कोई कदम उठाना भी दूर की बात जान पड़ रही थी।

एक और प्रमाण प्राप्त हुआ है जो स्पष्ट करता है कि सेक्युलरिज्म का अर्थ हिंदू ड्राह है।

इस मुद्दे की चर्चा से इस बात पर प्रकाश डाला जा सकता है कि पं. नेहरू व उनके बाद की कांग्रेस सरकार के काल में हिंदू-मुस्लिम दंगों की संख्या ब्रिटिश काल की तुलना में अधिक क्यों थी? ब्रिटिशों के समय ‘रंगीला रसूल’ नामक एक पुस्तक बड़ी चर्चा में थी। एच. जी. वेल्स के *Out of World History* इस पुस्तक में व्यक्त मुद्दे पर इस पुस्तक में विस्तार से लिखा गया है। परंतु इस पुस्तक को केन्द्र में रखकर उस काल विशेष में दंगे होने की बात सुनने में नहीं आयी। आगे चलकर नाथूराम नामक एक लेखक ने सिंध में ऐसी ही एक पुस्तक लिखी थी। उसके खिलाफ मुसलमानों ने फिर्दाद दर्ज करायी थी। उसे नकारा गया, तब फिर्दादी ने न्यायाधीश के समक्ष ही नाथूराम को गोली मार दी। गोली मारने वाले को तुरंत ही हिरासत में ले लिया गया, योग्य न्यायालयीन प्रक्रिया के बाद उसे फांसी दे दी गई। कुछ मुसलमानों ने बिनति की कि ‘सूली पर चढ़ जानेवाले इस शहीद की शवयात्रा निकलने हेतु उसका शव हमें सौंपा जाय’। तब उन्हें बताया गया कि शव को तभी सौंपा जायेगा जब वे मानें कि शवयात्रा न निकाली जाय और शांति से शव-संस्कार किये जाय। कब्जा पानेवालों ने वचन दिया परंतु कारावास के बाहर कदम धरते ही शवयात्रा निकाली गई। अब पुलिस ने तुरंत शोभा-यात्रियों को आज्ञा दी कि ‘शव तुरंत वापस लौटाया जाय व जुलूस छोड़कर चले जाय’। फिर आज्ञा का पालन न हुआ देखकर पुलिस ने गोलियाँ बरसाना शुरू किया। इस प्रसंग पर कुल साठ मुसलमान मारे गये और पुलिस ने शव को अपने अधिकार में ले लिया।

### सेक्युलर राज्य में हिंदू व मुस्लिम संहिता

अंग्रेजों ने अपनी बातों से ही नहीं व्यवहार से भी यह स्पष्ट कर दिया था कि किसी भी धर्म की निंदा करना गुनाह नहीं है। केवल धर्म के खिलाफ द्वेष-भाव फैलाने के लिए निंदा की जाती है तो यह सिद्ध करना होता है कि इस निंदा का कोई आधार नहीं है। ब्रिटन का सिंहासन ईसाई धर्मरक्षक होने पर भी 1858 की महारानी के ऐलान के अनुसार भारत की सरकार ईसाई व अन्य किसी धर्म की नहीं है। जो फौजदारी कानून ईसाइयों पर लागू होता है वह अन्यों (ईसाइयतरो) पर भी होगा। कानून तोड़ने वाले के प्रति कोई दया भाव दर्शाया नहीं जायेगा। अंग्रेजों ने धर्म से संबंधित कानून के संदर्भ में किसी भी तरह का धार्मिक पक्षपात न लेते हुए कदम उठाये हैं। इसके विपरित पं. नेहरू के समय में डेली टेलिग्राफ जैसे ब्रिटिश समाचार पत्र ने भी लिखा था कि फौजदारी कानून की कार्यान्विति के समय हिंदुओं के खिलाफ कदम उठाये जाते हैं और पं. नेहरू मुस्लिमों से लाड़ लड़ाते हैं (Molloy Coddling)।

कुछ सदबुद्ध जब कह सकते हैं कि दूसरों के धर्म में बुरा क्या है इसका प्रचार सच भी होगा परंतु एकता के लिए पोषक नहीं है अतः ऐसा प्रचार टाला जाय. सच से आँखें चुराने से तात्कालिक तकलाफें जरूर दूर हो जाती हैं पर उसका परिणाम दीर्घकालिक नहीं होता. धर्म-धर्म के बीच का कलह टालना हो तो सभी धर्मों की झूठी प्रशंसा करने के बजाय सभी धर्मों का सत्यस्वरूप बतलाना होगा. यही एकमात्र उपाय है. ऐसा करने पर सभी धर्मों के अध्ययन की वृत्ति पनपेगी और काँच के घर में रहनेवालों ने दूसरों के घर पर पत्थर नहीं फेंकने चाहिए, यह भावना भी बलवती होगी. आज केवल हिंदू धर्म की चाहे जितनी आलोचना की जाय, सही मानी जा रही है पर इस्लाम व ईसाई धर्म पर खासकर हिंदू को कुछ न बोले, ऐसा मत प्रस्थापित हो रहा है. अतः हिंदू सुशिक्षितों के मन में यह बात घर कर रही है कि हिंदू धर्म में केवल बुराई ही बुराई है और शेष धर्म पवित्र हैं. राम, कृष्ण गीता की जो खिल्ली उड़ाई जा रही है उसे आबालवृद्ध सुन ही रहे हैं और प्रतिकार के तौर पर यह कहा जा रहा है कि हिंदुओं को ईसाई-इस्लाम धर्म के बारे में बिलकुल ही जानकारी नहीं है और सुशिक्षित हिंदू बेधड़क कहता फिरता है कि राम-कृष्ण हुए नहीं. पर वह नहीं जानता कि ईसा के ऐतिहासिक अस्तित्व पर भी संदेह उठाया जा रहा है. अपने ही देश में उद्भूत बौद्ध धर्म के बारे में उच्चशिक्षित सरकारी अधिकारियों में इतना अज्ञान फैला हुआ है कि जब दलाई लामा भारत आये थे तब उनके भोजन की व्यवस्था में मांसाहार वर्ज्य करने की सूचना दी गई थी परंतु स्वयं दलाई लामा को ही कहना पड़ा कि इस आहार से वे भूखमरी के शिकार हो रहे हैं.

पं. नेहरू के सेक्युलरिज्म की दूसरी संतान है हिंदू संहिता. संविधान ने स्पष्ट आदेश दिया है कि सभी नागरिकों के लिए समान कानून होगा. पं. नेहरू इसकी खुले आम अवहेलना करते हैं और हिंदुओं की अलग संहिता लागू करते हैं. दुर्गादास द्वारा उनसे सवाल करने पर पं. नेहरू कहते हैं कि “मुसलमानों पर बहुसंख्य हिंदुओं द्वारा पारित कानून लागू किया जायगा तो मुस्लिम देश नाराज हो जायेंगे.”

इस उत्तर से कई बातें साफ हो जाती हैं. पोर्तुगीजों के समय गोवा में सभी नागरिकों के लिए एक ही कानून था और आज भी है. पर उससे मुस्लिम देश नाराज नहीं हुए. अब ऐसा लगा कि ब्रिटिशों के समय धर्मानुसार कानून में परिवर्तन होगा, परंतु इस तत्त्व को स्वीकृति नहीं थी. क्योंकि ब्रिटिशों ने कानून रूढ़ियों की नींव पर बनना चाहिए इस विचार को महत्वपूर्ण माना था. अतः मुस्लिमों की विभिन्न जातियों पर पिछले सौ वर्षों से हिंदू कानून ही लागू हुआ था और ब्रिटिशों के समय में भी वही कानून जारी रहा. गुजरात का कच्छी मेमन इसका एकमात्र उदाहरण नहीं है. केरल में मरूक्कायम नामक कानून केवल हिंदुओं तक ही मर्यादित नहीं है. ब्रिटिशों के समय में वह मुस्लिमों पर भी लागू था. 1940 में मध्यवर्ती विधिमंडल ने मुस्लिमों के लिए अलग कानून लागू करने का प्रस्ताव पारित किया. परंतु इस प्रस्ताव की कार्यान्विति होने के लिए मुसलमानों के लिए अलग कानून का

बनना और उसे कानून मंडल की मान्यता आदि कार्य शुरू भी नहीं किये गये थे. क्योंकि 1939 में ही द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया था और ऐसे कार्यों में अंग्रेजों को कोई रूचि न थी. डॉ. आंबेडकर ने समान नागरी कानून का प्रस्ताव संविधान द्वारा पारित किया गया तब मुसलमानों का अवधान इस ओर आकर्षित किया था. हाल ही में न्यायमूर्ति रत्नपारखी ने अपने व्याख्यानों-लेखों द्वारा इसी बात को वाणी दी है. मुस्लिम राष्ट्रों ने कभी भी इस बारे में उनकी नापसंदगी जाहिर नहीं की थी.

### 370 कलम का उद्देश्य

भारत से बाहर ही नहीं, भारत के मुसलमान भी इस बात पर नाराज होने की संभावना नहीं थी कि बहुसंख्यक हिंदुओं ने मुस्लिमों के लिए कानून बनाया था. जब संविधान में समान नागरी कानून का आदेश रखा गया था तब भारतीय मुसलमानों ने उसका निषेध व्यक्त नहीं किया था. महाराष्ट्र में भाजपा-शिवसेना सरकार ने मुसलमानों सहित सभी पर लागू होने वाला दत्तक व विवाहविषयक कानून पारित किया तब मुस्लिम समाज जरा भी कुलबुलाया नहीं. केन्द्र के कांग्रेस सरकार ने राष्ट्रपति की अनुमति उसे मिलने नहीं दी अतः इस प्रस्ताव को कानून का रूप नहीं मिल पाया.

इससे स्पष्ट होता है कि बाहर के मुस्लिम देश या भारत के मुसलमान क्रोधित होंगे, यह भावना हिंदू संहिता पारित करने का कारण था ही नहीं.

जब न्यायमूर्ति छागला के समक्ष ‘हिंदू संहिता संविधान विरोधी है ऐसा न्यायालय घोषित करें’ की माँग करनेवाली याचिका पेश की गई थी तब उन्होंने अपना फैसला यह सुनाया कि “मुस्लिम समाज में अभी तक आधुनिक सुधारों को स्वीकार करने की परिपक्वता नहीं आई है अतः उस पर व हिंदुओं पर एक ही कानून लागू करना उचित नहीं होगा.” ‘क्या हिंदुओं के सभी एकक हिंदू संहिता को मान्यता देंगे.’ जिस समाज में बहुपत्नीत्व की प्रथा जारी थी वहाँ आज भी उसका अनुसरण हो रहा है. जहाँ बालविवाह संपन्न होते थे वहाँ आज भी कानून की परवाह किये बिना बालविवाह हो रहे हैं. कानून केवल कागजों पर ही धरा है.

पं. नेहरू ने ऐसा क्यों किया इसकी कारण-मीमांसा पं. नेहरू के मन की पड़ताल आगे के पन्नों में जब की जायेगी, तब की जायेगी. पं. नेहरू के भक्त उन्हें नहीं समझ पाये उसी तरह उनके विरोधी भी उन्हें नहीं समझ पाये. विरोधी उनके इस व्यवहार का वर्णन appeasement अर्थात् तुष्टिकरण शब्द द्वारा करते हैं. परंतु अपीझमेंट शब्द का अर्थ जिद पूरी करना है. पं. नेहरू के तुष्टिकरण में, जिनका तुष्टिकरण किया गया था, उन्होंने जिद नहीं की थी. मुसलमानों ने यह माँग की ही नहीं थी कि ‘हम पर समान कानून लागू न हो.’ जब संविधान सभा में उपस्थित मुसलमानों के ही समान संहिता के बारे में प्रस्ताव स्वीकार किया गया तब हिंदू-मुस्लिम जैसा कोई भेद निर्माण हुआ था इसका कहीं भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है. पं. नेहरू ने मुसलमानों की ओर से यह भी माँग की कि ‘नौकरी में भी



हमें हिंदुओं के बराबरी या उससे अधिक बड़ा ओहदा मिलना चाहिए' तो यह माँग भी मुसलमानों ने नहीं की थी. ऐसा भी कहीं लिखित रूप में उपलब्ध नहीं है कि मुसलमानों ने यह कहा था कि हिंदी हमारी भाषा नहीं है अतः हम केन्द्र सरकार की भाषा के रूप में हिंदी का स्वीकार नहीं करेंगे.

कश्मीर पर 370 कलम लागू किया. इसकी भी माँग मुसलमानों ने कभी नहीं की थी. फिर भी पं. नेहरू ने स्वयं ही अगुवाई करते हुए 370 कलम पारित करवा लिया. असल में कश्मीर में न रहनेवाले मुसलमानों का इस 370 कलम के कारण कोई हित होना नहीं था. गौर कश्मीरी हिंदुओं की तरह उन्हें भी कश्मीर में कोई स्थान नहीं था. पं. नेहरू ने यह झंझट मुसलमानों के हित के लिए नहीं मोल ली थी वरन् वे चाहते थे कि भारत के बाहर के मुस्लिम देश उन्हें दुआ दें कि उन्होंने एक मुसलमान देश को हिंदू बहुसंख्यक देश बनने से बचा लिया और ऐसा उन्होंने दुर्गादास से हिंदू कानून के बारे में बताते हुए कहा था.

### पाकिस्तान के हिंदू हमारे कौन?

शिवाजी को भी भला-बुरा कहने के पीछे यही राज था, ताकि केवल भारत ही नहीं, दुनिया के मुसलमानों का मत उनकी ओर मुड़ सके. आरंभ में पं. नेहरू को लग रहा था कि शिवाजी को भला-बुरा कहने से उनकी राजकीय स्थिति को कोई धोखा नहीं होगा. परंतु संयुक्त महाराष्ट्र के आंदोलन के समय उन्हें पता चल गया कि वे गलती पर थे. शिवाजी संबंधी धारणा केवल इतिहास जानने के समय उद्भूत भक्तिभाव तक ही सीमित नहीं थी. पं. नेहरू यह जान गये थे कि शिवाजी के खिलाफ बोला जायेगा, तो चुनाव में हारना होगा. अतः शिवाजी महाराज को श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु आयोजित समारोह का बुलावा उन्होंने स्वीकार कर लिया. पर इस समय जो कुछ उन्होंने कहा वह शिवाजी के प्रति प्रशंसादगार नहीं थे. वह दुनिया के मुसलमानों के लिए था. इस समारोह के आयोजकों को यह कहकर फटकारा कि 'मुसलमानों का धर्मान्तर करने की कोशिश को समझदारी नहीं कहा जायेगा.' असल में शिवाजी ने कहाँ ऐसी कोई योजना बनाई थी कि मुसलमानों को हिंदू बनाया जाय. उनके ही जीवनकाल में मुसलमान बने दो-चार हिंदुओं का शुद्धिकरण करवाया था. उनमें से कुछ तो उनके सगे-संबंधी ही थे. अगर शिवाजी महाराज ऐसी कोई योजना बना भी लेते, तो परिणाम यह होता कि उनके राज्य के लाखों मुसलमान शेष बचे ही न होते. महाराष्ट्र के मुसलमान इस बात से पूरी तरह वाकिफ थे. उन्हें कभी यह भय भी न था कि शिवाजी का उत्सव मनानेवालों की संख्या में वृद्धि से उन्हें उनके धर्म से मुकरना होगा. इस स्थिति में भी पं. नेहरू जब ऐसा भाषण देते हैं, तो स्पष्ट है कि यह भाषण महाराष्ट्र या भारत के मुसलमानों के लिए नहीं था. पं. नेहरू को यह उम्मीद थी कि यदि वे मुसलमानों के धर्म पर वार करनेवालों के कान मरोड़ते हैं, तो दुनिया के मुसलमान उनके प्रति कृतज्ञता का भाव व्यक्त करेंगे.

पं. नेहरू की स्तुतिपाठ करनेवाले एस. गोपाल लिखते हैं कि "सरदार पटेल व

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद दोनों भारतीय मुसलमानों की देशनिष्ठा के प्रति साशंक थे परंतु पं. नेहरू ने कोई आपत्ति नहीं उठायी थी. सरदार पटेल ने पं. नेहरू की इस बात का कि दिल्ली के मुसलमानों के लिए कुछ प्रदेश बाचाकर रखा जाय, कसकर विरोध किया था. दोनों में से कौन अधिक सेक्युलर था— पं. नेहरू या सरदार पटेल? एक ही देश में धर्म के नाम पर आवास-स्थान अलग क्षेत्रों में हो क्या यह सेक्युलरिज्म है? असल में भारत में हिंदू मुसलमानों की वसाहत मिली-जुली होनी चाहिए. मुस्लिमों का ही हजारों मील एकत्र प्रदेश होना धार्मिक एकता के लिए भी विघातक ही है. परंतु यह नियम कश्मीर में लागू करना आवश्यक था.

मुसलमानों ने हाल ही में पाकिस्तान निर्माण के पक्ष में मतदान किया था. अब पं. नेहरू अगर ऐसा सोच रहे होंगे कि पाकिस्तान के बनते ही भारत में रहना होगा तो इस बात को वे भूल जायेंगे तो पं. नेहरू की सोच पर तरस खाना होगा. मुसलमानों से यह बात छिपी नहीं थी कि खेल प्रतियोगिता में उनके जीतने पर भारतीय मुसलमान भी खुश होते थे. यह बात नाकबूल हो ही नहीं सकती कि मुसलमानों में भारतीयता का अहसास जगाने के लिए खास प्रयत्नों की जरूरत है. परंतु पं. नेहरू ने कभी भी ऐसा अपने व्यवहार से दर्शित नहीं किया कि वे मुसलमानों से चार बातें करना चाहते हों. वे केवल दिखावा कर रहे थे कि जो कुछ करना है वह हिंदुओं के कान पकड़कर किया जाय. उनके किसी भी भाषण में मुसलमानों के व्यवहार के संदर्भ में एक शब्द भी नहीं होता था.

पश्चिमी पाकिस्तान याने आज का बांगला देश से हिंदू शरणार्थियों के रेले भारत में आ रहे थे तब सरदार पटेल और पूर्व बंगाल के मुख्यमंत्री विधानचंद्र राय ने पं. नेहरू के समक्ष इस प्रकार का प्रस्ताव रखा—

“आगे से पाकिस्तान से जितने हिंदू शरणार्थी आयेंगे उतने ही मुसलमान पूर्व बंगाल से पाकिस्तान भेजे जायेंगे. यह बात पाकिस्तान को सूचित की जाय.”

इसी समय मोहनलाल सक्सेना केन्द्र सरकार में पुनर्वसन मंत्री थे. उन्होंने दिल्ली व उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के दुकानों को ताले लगाने के आदेश दिये. पं. नेहरू ने इसका विरोध किया अतः गोपाल पं. नेहरू की प्रशंसा करते हैं. वे कहते हैं कि पाकिस्तान अलहदा देश है, वहाँ के हिंदू पाकिस्तान के निवासी हैं, उनका क्या होता है इस बारे में भारत को झंझट मोल लेने का अर्थ है दूसरों के घर में दखल देना. इसके विपरि भारतीय मुसलमान भारत के निवासी हैं अतः भारत का कर्तव्य बन पड़ता है कि वह उनकी चिंता करें.

### भारत की बदनामी का ढोल

गोपाल के इस कथन की प्रामाणिकता की जाँच की जाय तो प्रश्न यह उभरता है कि इंदिरा गांधी ने 1971 में पाकिस्तान के खिलाफ युद्ध इसी बात पर किया था कि बांगला देश से हमारे देश में शरणार्थी आते हैं. परंतु एस. गोपाल जी उन्हें सेक्युलरिज्म के शत्रु क्यों नहीं मानते?

जब हम पाकिस्तान के हिंदू भारत के कुछ नहीं लगते, कहते हैं तब पाकिस्तान निर्मित का इतिहास ध्यान में रखना आवश्यक है। पाकिस्तान निर्मित का आधार 1946 में हुए चुनाव का मतदान था। भारत में मुसलमानों ने पाकिस्तान में रहनेवाले मुसलमानों की तुलना में पाकिस्तान निर्मित के पक्ष में अधिक संख्या में मतदान किया था। अतः भारतीय मुसलमान पाकिस्तान के मुसलमानों से संबंधित नहीं हैं कहने का अर्थ है, जिनके मतों के आधार पर पाकिस्तान बना वे ही पाकिस्तान के कुछ नहीं लगते, कहने के समान है।

उसके विपरित हम कहें कि पाकिस्तान में रहनेवाले हिंदुओं ने अखंड भारत के पक्ष में मत दिये थे। वे भारत के कुछ नहीं लगते, कहने का अर्थ भला क्या हो सकता है? भारत में सत्ता परिवर्तन संबंधी हुई बातचीत के समय अखंड भारत के लिए मतदान करने वाले सभी हिंदुओं के हितों की रक्षा होनी चाहिए, क्या इस बात का अनुरोध कांग्रेस की भूमिका में शामिल नहीं था?

पाकिस्तान निर्मित के समय दोनों देशों के धार्मिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षितता के बारे में प्रश्न उपस्थित किया गया था और इसका नतीजा हासिल करने के लिए अल्पसंख्यकों का स्थलांतरण सुझाव दिया गया था। तब माऊंटबैटन ने बहस की कि “ऐसी स्थिति में मुसलमानों की संख्या के अनुपात में उन्हें प्रदेश सौंपना होगा। मैंने तय किया पाकिस्तान इसके लिए नाकाफी है।” भारत ने इसे मान्य नहीं किया। और यह तय हुआ कि दोनों देश इस तत्व का स्वीकार करें कि धार्मिक अल्पसंख्यकों को नागरिक न समझना सही नहीं है, उनका दर्जा भी अन्यो के बराबर का ही है।

पाकिस्तान ने हिंदुओं को भगाकर इस आश्वासन का विरोध किया। अतः जिन शर्तों पर पाकिस्तान बना था उन्हें ही स्वयं पाकिस्तान ने भंग किया था तो पाकिस्तान के हिंदू निवासियों के बारे में भारत को कुछ कहने का अधिकार नहीं है ह कैसे कहा जा सकता है?

सरदार पटेल और विधानचंद्र रॉय की सूचना मान ली गई होती तो पाकिस्तान से हिंदू शरणार्थियों का आना तुरंत बंद हो जाता। क्योंकि पाकिस्तान के हिंदुओं की तुलना में भारत के मुसलमानों की संख्या कहीं बहुत अधिक थी। वे यदि पाकिस्तान चले आयेंगे तो पाकिस्तान की कमर ही टूट जायेगी। सत्य से पाकिस्तान वाकिफ था।

यदि भारत के मुसलमान यह जान लेते कि भारत में रहनेवाले पाँच करोड़ मुसलमानों का पाकिस्तान जाना संभव नहीं है और उनके पाकिस्तान निर्मित में उनका कोई हित नहीं हुआ है। अब उन्हें भारत में ही रहकर हिंदुओं से मेल बढ़ाना होगा तो हिंदू-मुस्लिम एकता आसान हो जाती।

अब लाखों हिंदुओं को भगा देने के बाद भी भारत इस बारे में एक शब्द भी नहीं कहता है यह देखकर पाकिस्तान ने भारत में हिंदू शरणार्थियों के साथ मुसलमान घुसपैठियों को भेजना प्रारंभ कर दिया। इन घुसपैठियों की संख्या तीन करोड़ से अधिक

थी। पहले ही भारत पर जनसंख्या का बेहद भार था। अब भारत से ही शत्रुता भाव से बंधकर एक होनेवाले करोड़ों लोगों का भारत में होने का अर्थ घर की नींव में सुरंग लगाने जैसा ही है।

पं. नेहरू सदैव ऐसे भाव से ही व्यवहार कर रहे थे कि पाकिस्तान के हित की जिम्मेदारी उनकी है और भारत से उनका कोई लेना-देना नहीं है।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने पं. नेहरू को पत्र लिखकर यह सूचित किया था कि “अगर पाकिस्तान में हिंदुओं से किये गये बर्ताव की प्रतिक्रिया स्वरूप भारत के हिंदू कुछ व्यवहार करते हैं, तो आप उन्हें अपशब्द कहते हैं। आपके भाषणों को सारी दुनिया द्वारा सुना जाने के कारण दुनिया भर देश की बदनामी होती है। ऐसे प्रसंगों को टालने का प्रयत्न हो तो पाकिस्तान में हिंदू सुरक्षित रहेंगे। उनकी सुरक्षा की चिंता भारत सरकार करती है, यह भारतीय हिंदुओं को महसूस होना जरूरी है।”

### सरदार पटेल व डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

अब डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के इस पत्र में आपत्तिजनक बात कौन-सी है? सरदार पटेल और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की नीति के अनुसार पं. नेहरू का व्यवहार रहा होता तो मुसलमानों की सोच में परिवर्तन होने में अधिक वक्त न लगता। मुसलमानों को अपने धर्म-परिवर्तन से पहले की जाति और पूर्वज का स्मरण हुआ होता? और हिंदू-मुस्लिम समस्या समाप्त हो गई होती।

पं. नेहरू की दंगों के बारे में सोच की ओर ध्यान देना जरूरी है। पं. नेहरू के ही समय पच्चीस दंगों की पूछताछ की गई थी। उस पूछताछ की प्रतिलिपि कभी भी प्रकाशित नहीं की गई थी। परंतु हर दंगे के बाद पं. नेहरू राष्ट्रीय एकता पर प्रवचन देते रहे और सदैव हिंदुओं को दोषी करार देते रहे। मुस्लिमों की कोई गलती नहीं, कहकर उनकी अल्पसंख्यक होने पर बल देते रहे। पं. नेहरू द्वारा नियुक्त पूछताछ समिति का निष्कर्ष यदि ऐसा ही होता तो यह उम्मीद की जा सकती थी कि पं. नेहरू इस संदर्भ में हवाला देते।

पं. नेहरू के बाद के नेहरूवादी सरकार ने दंगों में पुलिसों की मार से घायल मुसलमानों को लाख-दर-लाख रुपये हरजाने के तौर पर देना प्रारंभ किया। आम आदमी यही सोचता है कि पुलिस की लाठी से घायल होने का अर्थ है कि वे भी दंगों में शामिल थे। परंतु पं. नेहरू और नेहरूवाद के अनुयायी सब असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे और है।

श्रीमति इंदिरा गांधी के कार्यकाल में अहमदाबाद में हुए दंगों पर श्री नंदन कागल ने इंडियन एक्सप्रेस नामक समाचार पत्र में विस्तृत लेख लिखा और दंगों का सारा दारोमदार मुसलमानों पर ही निर्भर बताया। फिर उसके बाद एक पूछताछ या जाँच समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। उसमें सारा दोष हिंदुओं के मत्थे मढ़ा गया। स्पष्ट है कि यह रिपोर्ट इंदिरा गांधी ने नंदन कागल के लेख के प्रतिक्रिया स्वरूप पश्चात्बुद्धि से लिखवाई।

पं. नेहरू का उपरोक्त व्यवहार को तुष्टिकरण नहीं कहा जा सकता यह एक ऐसा प्रचार था जिसका मकसद मात्र इतना ही था कि मुसलमान का ईसाई किसी भी अर्थ में हिंदू न होने के कारण उनसे अलहिदा हैं और अपना अलगाव बनाये रखें. पं. नेहरू कहते थे कि मुसलमान व ईसाईयों को चाहिए कि वे अपनी आयडेंटिटी या पहचान बनाये रखें. जो हिंदुओं में घुल मिल सकते हैं उनसे कहा जा रहा है कि आप अलग ही हो. ऐसा बार-बार कहने का अर्थ है आपसी फूट बढ़ाने के लिए बहकाना. यह तुष्टिकरण नहीं है.

पं. नेहरू केवल हिंदू संहिता ही नहीं, बीसवीं सदी के मुस्लिम पुराणवाद के भी जनक हैं. पाकिस्तान के जुल्फिकार अली भुट्टो तक के नेता पाकिस्तान में शरीयत लागू करने के खिलाफ थे. परंतु भारत में पं. नेहरू ने शरीयत को मान्यता दे दी थी, अब भला पाकिस्तान में मान्यता न दिलाना असंभव-सी बात थी. “काफिर देश में शरीयत का मान-सम्मान है और मुस्लिम देश में नहीं” मुल्ला-मौलवियों के इस आघात से बचना मुश्किल था. मुस्लिम दुनिया में जो पोथीवाद फैला है, वह भारत में नेहरूवाद का बलवा उठने के बाद की ही घटना है.

झगड़ों में न्याय-अन्याय का फैसला करनेवाले न्यायाधीश या झगड़नेवालों के बीच एका लाने की कोशिश करनेवाले मध्यस्थ हों, किसी भी पक्ष को यह बताते नहीं कि गलती पूरी तरह से उसकी है और उसके प्रतिवादी पूरी तरह से सही है. पं. नेहरू इसके सर्वथा विपरित व्यवहार कर रहे थे. अतः स्पष्ट है कि न्यायाधीश या मध्यस्थ की भूमिका कलह बढ़ाने की नहीं थी. पं. नेहरू ने मुसलमानों से कभी यह नहीं कहा कि वे हिंदुओं से मित्रता बनाने के लिए कौन-सा कदम उठाए? इससे क्या यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि पं. नेहरू का मकसद हिंदू-मुसलमानों का झगड़ा मिटाना नहीं था, उसे बढ़ाना मात्र था?

### पं. नेहरू और इस्त्रायल

पं. नेहरू का इस्लामी इस्वाद इस्त्रायल देश के प्रति उनकी नीति से साफ जाहिर होती है. मूलतः अरब 2000 वर्षों से जहाँ वसाहत बनाकर निवास कर रहे थे वहाँ से उन्हें खदेड़कर इस्त्रायल बसाया गया था. पं. नेहरू का आग्रह था कि अरब मुसलमान होने के कारण भारतीय मुसलमानों को भी चाहिए कि वे इस्त्रायल का विरोध करें. इसी समय इस अरब देश के प्रमुख फारुक ने भारत के खिलाफ निजाम के पक्ष का समर्थन किया. क्योंकि निजाम मुस्लिम था. पं. नेहरू पर इसका कोई असर न हुआ. वैंकि वे मानते थे कि कम्युनल हिंदुओं से घृणा करने का दुनिया के मुस्लिमों का अधिकार है. अमरिका, ब्रिटन, रूस तथा कुछ अरब देशों ने भी इस्त्रायल को मान्यता दी थी परंतु पं. नेहरू के ‘सेक्युलर’ भारत ने इस्त्रायल की मान्यता को नकार दिया. पं. नेहरू इस्त्रायल में आयोजित एक अफ्रो-एशियन परिषद के निमंत्रण का अस्वीकार कर देते हैं क्योंकि बुलावा अरबों ने नहीं भेजा था. चीन के आक्रमण के समय शस्त्रास्त्रों की तुरंत जरूरत था और इस्त्रायल इसकी पूर्ति

करने को तैयार था. किंतु पं. नेहरू ने यह सहायता नहीं ली क्योंकि इजिप्त का नासर उसके खिलाफ था. सारे मुस्लिम देश भारत के खिलाफ पाकिस्तान को हर तरह का सहारा दे रहे थे और जिनकी क्षमता भी वे सभी पाकिस्तान को हर तरह की मदद भी कर रहे थी. इस्त्रायल ने भारत को मदद करने का कारण यह था कि इस्त्रायल के अधिकांश शत्रु भारत के भी शत्रु थे. इस्त्रायल नन्हा-सा देश है, परंतु बहुत ही प्रगत है. अमरिका पर उसका काफी दबाव है. इस सारी स्थिति से भारत लाभ उठा सकता था. पं. नेहरू के अनुसार भारत के लिए क्या उपयोगी रहा यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं था. वे उपभोग और सेक्युलरिज्म को बढ़ावा कैसे मिले, यह महत्वपूर्ण था.

दुनिया में ज्यू लोगों की संख्या नाममात्र ही है. इसके विपरित दुनिया में एक सौ सात करोड़ मुसलमान हैं और जिन्हें दुनिया का नेता बनना है; तो मुसलमानों को नाराज करके उन्हें इस्त्रायल को खुश करना कदापि गँवारा न होगा.

इस सारी नीति का अर्थ भारतीय मुसलमानों की दृष्टि से यह होता है कि उनकी निष्ठा मूलतः उनकी मातृभूमि से जुड़ी न रहकर अंतरराष्ट्रीय इस्लाम से जुड़ी होनी चाहिए.

### अर्थपूर्ण आँकड़े

एस. गोपाल लिखते हैं कि गांधीजी को चाहिए कि वे अल्पसंख्यकों की रक्षा करें और उनके प्रति घृणा-भाव का त्याग करें तथा पं. नेहरू की इस नीति का समर्थन करें. परंतु सरदार पटेल और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का क्या यह कहना था कि भारत सरकार मुसलमानों की रक्षा न करे और उनसे प्रतिशोध लें?

वस्तुतः हिंदू-मुसलमानों से समान व्यवहार हो, यह शब्द प्रयोग ही गलत है. इसका अर्थ यह हो सकता है कि हिंदुओं को मूर्ति पूजा की छूट और मुसलमानों को नमाज पढ़ने की छूट समान नहीं है. दोनों को या तो मूर्तिपूजा की छूट हो या नमाज की. स्त्री-पुरुष समानता का अर्थ स्त्री-पुरुषों का पोशाख और स्वच्छता-गृह भिन्न-भिन्न न होना चाहिए कहने जैसा ही है.

समता के स्थान पर न्याय शब्द का प्रयोग अधिक सटीक है. हिंदू व मुसलमान द्वारा किये गये विघातक कृत्यों के कारण भिन्न हो सकते हैं. पाकिस्तान के प्रति प्रेम भाव ही उन्हें दंडनीय कार्य करने पर उकसा रहा होगा हिंदुओं में नहीं. इसके विपरित किसी स्त्री को सती होने पर मजबूर करना या किसी को अस्पृश्य कहकर मंदिर में जाने पर रोकना जैसे विघातक कार्य हिंदू ही कर सकता है. हिंदू व मुसलमान दोनों का सही न्याय करने का अर्थ होगा एक की पतिव्रता व वर्णश्रेष्ठत्व की कल्पना व दूसरे का पाकिस्तान प्रेम इन दोनों पर नियंत्रण रखना होगा.

हिंदुत्व में गद्दार बनने की प्रेरणा देनेवाले तत्त्व नहीं हैं. हिंदुओं के बागी बनने के कारण कुछ और हो सकते हैं, हिंदुत्व नहीं. इसके विपरित मुसलमानों को भारत की तुलना में अन्य देशों के प्रति अधिक प्रेम भाव रहने का कारण उनका मुस्लिमत्व है. क्योंकि कट्टर

इस्लाम मानता है कि दुनिया के दो भाग हैं— मुस्लिम भूमि और शत्रु-भूमि. अब यह मत पुरातन और मात्र पुस्तकीय नहीं रहा है. यदि ऐसे विचारों के अधीन जीने वाले मुसलमानों को पाकिस्तान भेजने से सारे मुस्लिम जनजाति से प्रतिशोध लेता है या नहीं. इसमें भारत सरकार को लेना-देना नहीं है.

जब माँग होती है कि 'सेक्युलरिज्म' की व्याख्या कीजिए' तब व्याख्या की गई कि मुसलमानों की देशनिष्ठा के प्रति संदेह व्यक्त करना सेक्युलरिज्म का विरोध है. अर्थात् मुसलमानों को सीझर की पत्नी की तरह संशयातीत मानना सेक्युलरिज्म की खासियत है. इंदिरा गांधी के मन में भी मुसलमानों के प्रति संदेह भाव था और उन्होंने यह कहा भी था कि बांग्ला देश के युद्ध के समय संवेदनक्षम स्थानों पर मुसलमानों की नियुक्ति न की जाय. जार्ज फर्नांडिस ने यह बात लोकसभा में व्यक्त की थी. मुसलमानों के मत से ही पाकिस्तान बना है इसे भूलाकर उनसे व्यवहार करें यह कहना अप्रामाणिकता होगी. परंतु 'पाकिस्तान जिंदाबाद' के नारे कौन लगाता है? मदरसे में अन्य धर्मों से ड्राह करने की सीख दी जाती है या नहीं, यदि इस बात पर नजर रखी जाती और ऐसा करनेवालों को सीमा पार कर दिया होता तो बाद के अनर्थ टल जाते. चार मदरसों पर डाका डालना हो तो चार पाठशालाओं पर भी डाका डाला जाय ऐसी सेक्युलरिज्म की व्याख्या केवल पं. नेहरू ही कर सकते हैं.

अहिंदुओं के प्रति खास प्रेमभाव बरता जाय. इस सीख के कारण नागाओं को ईसाई मानकर उनसे खास व्यवहार किया गया. सिक्खों के साथ भी यही हुआ अतः नाग लोगों का बागी व्यवहार चलता रहा और सिक्खों ने पंजाब में कुछ दिन कहर द्वाया.

दहशतवाद प्रतिबंधक कानून मुस्लिम विरोधी है. क्योंकि इस कानून के तहत केवल मुस्लिमों को पकड़ा जाता है. ऐसा सेक्युलरिस्ट जन चीखते रहते हैं. यह मानना मुश्किल है कि ये चीखनेवाले प्रामाणिक हैं. दहशतवाद सारी दुनिया में मुस्लिम दहशतवाद के नाम से पहचाना जाता है. इन दहशतवादियों को शस्त्रास्त्र व धन की राशि मुस्लिम देशों से ही आते हैं. वे सैनिकों के प्रतिष्ठानों पर आक्रमण करते हैं, कुछ सैनिकों को मार देते हैं, किसी भी हिंदू नागरिक को तो मारते ही हैं, काफिर मानकर ज्यादा से ज्यादा यात्रियों को मारते हैं, यही उनका एकमात्र लक्ष्य है. सारी दुनिया जानती है कि वे भारत में नहीं रहते उनके अड्डे मुस्लिम देशों में होते हैं. अतः उपरोक्त वर्णन से, मिलता-जुलता अपराध हो जाने पर पुलिस मुसलमानों को संशयित मान लेते हैं तो इसमें गलत क्या है? पकड़े गये अधिकांश अपराधी मुस्लिम ही होते हैं. परंतु कानून मुस्लिमों के खिलाफ है, कहना ईमानदार होना नहीं कहलाया जा सकता. सेक्युलरिस्ट काँय काँय करते रहे कि संजय दत्त मुसलमान है, अतः उसे पकड़ा है. उन पर लगे आरोप सिद्ध हो चुके थे. वे झूठ हैं, ऐसा सेक्युलरिस्ट क्यों मानकर चल रहे थे?

पं. नेहरू की मुस्लिम नीति एकता को बढ़ावा देनेवाली थी या मनमुटाव

बढ़ानेवाली थी, यह दंगों के आँकड़े ही बताते हैं. ब्रिटिशों के समय सालाना छब्बीस दंगे होते थे और पं. नेहरू के समय में यह संख्या नब्बे हो गई. यह एस. गोपाल के पं. नेहरू प्रशस्ति-पत्र में लिखा गया है.

□ □

## ॥ भहराये आसमान का थमना ॥

पं. नेहरू के सरपेंच में नेहरू भक्तों द्वारा खोंसा गया चौथा चाँद है— उन्होंने भहराये अंतरराष्ट्रीय आसमान को अपने ही माथे पर थाम लिया और अणुयुद्ध होने न दिया, दुनिया को बचाया. कई बार नेहरू भक्तों का भाव कुछ ऐसा व्यक्त होता है कि “पं. नेहरू दुनिया के नेता हैं अतः वे भारत के लिए क्या करते हैं यह सोचने के बजाय हमें यह सोचना होगा कि उन्होंने दुनिया के लिए क्या किया. जिस तरह से महात्मा गांधी का मूल्यमापन करते समय उन्होंने अपने परिवार के लिए क्या किया, यह न सोचे व अपने परिवार की दो पीढ़ियों के लिए व्यवस्था कर रखने वाले किसी व्यवहारी को श्रेष्ठ साबित करना गलत होगा और उनसे पं. नेहरू की तुलना करना भी बड़ी भारी भूल होगी. उसी तरह केवल राष्ट्र की बात सोचनेवाले सरदार पटेल आदि को पं. नेहरू से श्रेष्ठ बताना भी गलत ही है.” अब नेहरू भक्त यह भूल जाते हैं कि महात्मा गांधी, सरदार पटेल को यदि हम अव्यवहारी कहते हैं तो क्या पं. नेहरू ने अपने परिवार की अवहेलना की? नहीं. उनके बाद उनकी कन्या भारत की प्रधानमंत्री बने इसकी पूरी व्यवस्था कर रखी थी. इस बारे में उन्होंने अपने पिताश्री का आदर्श अपने सम्मुख रखा था, जिन्होंने महात्मा गांधी से उनके कांग्रेस के अध्यक्ष बनने के लिए मित्रता की थी. इसके विपरित महात्मा गांधी और सरदार पटेल जैसे अव्यवहारी व्यक्तियों की संतानों को राजनीति की सरहद पर भी कदम न रखने दिया था.

ऐसा होते हुए भी अगर पं. नेहरू ने दुनिया का यदि कुछ भला किया होगा तो उन्हें उनका श्रेय मिलना ही चाहिए.

एस. गोपाल लिखते हैं कि विन्स्टन चर्चिल द्वारा पं. नेहरू को 'The Light of Asia' 'एशिया का दीप' कहकर संबोधित किया था, यह पं. नेहरू की सर्वोच्च उपलब्धि है. चर्चिल ने पं. नेहरू को यह सम्मान क्यों बहाल किया होगा, इसका कारण स्पष्ट है. चर्चिल को साम्राज्य गँवाना पड़ा और अब ब्रिटन की प्रतिष्ठा दुनिया में कम हो जायेगी, ऐसी चर्चिल को आशंका थी. ब्रिटन के साम्राज्य में शामिल देशों की तुलना में आज भारत सबसे बड़ा देश था, अतः संविधान सभा का पहला प्रस्ताव था— भारत कहलाता है, अब ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतंत्र होकर सार्वभौम प्रजासत्ताक देश कहलायेगा. अब पं. नेहरू ने मूल प्रस्ताव में से स्वतंत्र शब्द हटा दिया. अर्थात् भारत को स्वतंत्र देश कहने की भी सुविधा उपलब्ध नहीं होगी. भारत ऐसा न करता, तो शायद अन्य देश भी ब्रिटिशों के उपनिवेश में न रहते. ब्रह्मदेश ने पहले ही ब्रिटिशों की अधीनता को अस्वीकार करके उनका स्वतंत्र स्थान घोषित कर दिया था. इस घटना के बारे में ब्रिटिश समाचार पत्रों ने लिखा था— Burma Cuts the painter. यहाँ पेंटर शब्द का अर्थ नाव को बांधकर रखनेवाली मोटी

रस्सी मानना है. उनका कहना था कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत आनेवाले देश ब्रिटिश सत्ता के आश्रित/शरणार्थी हैं. ब्रह्मदेश ने यह आश्रय ही तोड़ दिया था. अतः तट के बिना नाव कैसे बची रहेगी? साथ ही यह भी सूचित किया गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत देश ब्रिटिश साम्राज्य के बिना सुरक्षित नहीं रह पायेंगे. अगर ब्रह्मदेश की तरह ही भारत भी, यदि यह कहकर कि आपके किनारे का आश्रम हमें नहीं चाहिए, ब्रिटिश साम्राज्य से नाता ही तोड़ देता, तो ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़े शेष देश भी स्वतंत्र होने की संभावना प्रबल हो जाती थी. इस उपनिवेश से रिश्ता न तोड़ने का पं. नेहरू द्वारा व्यक्त कारण बिलकुल ही पोला था. भारत के बाहर ब्रिटिश साम्राज्य में लाखों भारतीय रहते हैं. उनकी स्थिति अत्यंत दयनीय हो जायेगी (भाषण – भारत सरकार). ब्रिटिशों के उपनिवेशों में ब्रह्मदेश के अलावा इतरत्र रहनेवाले ब्रह्मियों की स्थिति के दयनीय होने के समाचार पढ़ने को नहीं मिलें. 1929 में पं. नेहरू ने स्वयं ही कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव रखा था और कांग्रेस का ध्येय भी वही माना था. केवल पं. नेहरू ही नहीं, सारा देश अपने ध्येय को इतनी जल्दी भुला देगा यह बात बड़ी चिंताजनक है. पं. नेहरू के राज में अंग्रेजी भाषा और कुल मिलाकर अंग्रेजों की दासता की वृत्ति पली-पनपी. इस स्थिति से भला चर्चिल खुश न होंगे तो और कौन होगा? ऐसे कामों के लिए चर्चिल जैसे भारतद्वेषी द्वारा प्राप्त प्रशंसापत्र हमें शिरोधार्य लगता है, यह हमारे अधःपतन की परिसीमा है.

### पं. नेहरू व चौ-एन-लाय का ज्ञान

विन्स्टन चर्चिल ने जिस काम के लिए पं. नेहरू को 'एशिया का दीप' कहा था, उसी काम के लिए माओ-त्से-तुंग ने चीनी भाषा में जो कुछ कहा था उसका अनुवाद Today of imperialism, Running day of imperiation आदि अर्थों में किया गया.

एस. गोपाल कहते हैं कि पं. नेहरू ने यूनू सुकार्नों, हट्टा व शबीर आदि जनों को पैतृक उपदेश किया था. अन्य देशों में इस उपदेश के लिए कहा गया कि अण्डा सीखाये चूजे को चूँ-चूँ मत कर. एस. गोपाल यह भी कहते हैं कि पं. नेहरू की इच्छा थी कि वे ब्रह्मदेश के शासक और केरेन बगावतों के बीच बिचौलियों की तरह काम करेंगे. ये देश पं. नेहरू को अपना सलाहकार नहीं मानते थे और उन्होंने पं. नेहरू को बिचौलिया बनने की माँग भी नहीं की थी. ऐसी स्थिति में स्वयं ही जाकर 'मैं बिचौलिया बनता हूँ' कहने का अर्थ कुछ इस तरह से होगा. अपनी सुंदरता की ओर कभी भी न देखने वाली सुंदर स्त्री को कोई राह चलता रोमियो यह संदेश भेजता है कि 'मैं तुमसे ब्याह करने को तैयार हूँ.' पं. नेहरू के इस अगुआई का संबंधितों की ओर से कोई जवाब नहीं आया और स्पष्ट हुआ कि पं. नेहरू की स्वयंसेवी अगुआई व बिचौलिया बनने की ख्वाहिश की गति उपरोक्त रोड साइड रोमियो से भिन्न न थी. एस. गोपाल अब इस समस्या का पं. नेहरू ने क्या हल सोच रखा था इस बारे में सर्वथा मौन हैं. क्योंकि यहाँ भी पं. नेहरू का कर्तृत्व शून्य ही था.



जब एस. गोपाल यह कहते हैं कि ये सारी बातें पं. नेहरू के लिए गौरवास्पद हैं तो पता चलता है कि स्वयं एस. गोपाल की भी मूल्य-कल्पनाएँ कितनी विकृत हैं। पं. नेहरू प्रधानमंत्री हैं तो उनका बड़प्पन प्रधानमंत्री के रूप में किये गये उनके कार्यों से नापना होगा। अब पं. नेहरू को अगर बिचौलिया या दलाल ही बनना था तो उन्हें संयुक्त राष्ट्रों के महासचिव बनना चाहिए था।

पं. नेहरू की महत्वाकांक्षा केवल ब्रह्मी नेता व केरेन बगावतों के बीच बिचौलिया बनने की नहीं थी। उन्हें तो आधुनिक दुनिया के महाशक्तिशाली देश अमरिका व रूस के नाक में दम नकेल डालने की महत्वाकांक्षा ने दबोच रखा था। परंतु जहाँ ब्रह्मदेश ही पं. नेहरू की मध्यस्थी नकार रहा था वहाँ अमरिका व रूस भला कैसे राजी हो जाते? स्टालिन तो पं. नेहरू के पत्रों के जवाब भी नहीं देते थे।

ख्रिस्टोफर ईशरवुड लिखते हैं— “नेहरू बड़ी मौसी थी। कुश्चोव्ह तथा केनेडी को अपने झगड़ालू भतीजे मानकर उन्हें ‘न झगड़ने’ का उपदेश करते थे।”

एस. गोपाल जब इन वाक्यों का उपयोग अपने लेखों में करते हैं, तब उन्हें वे स्तुति-सुमन मान लेते हैं, जबकि वास्तव में यह एक बद्मजाक था। शायद वे इसे समझ ही नहीं पाये हैं।

एक बार चौ-एन-लाय ने सारा संयम एक ओर धर कर कह ही दिया कि पं. नेहरू जैसा उद्धत (गुस्ताख) नेता कोई दूसरा नहीं देखा। बाडुंग परिषद में स्वयं को परिषद का निमंत्रक व यजमान मानकर सबकी पहचान करा रहे थे। अतः परिषद के वास्तविक निमंत्रकों को यह बात अपमानास्पद लगी।

एस. गोपाल चौ-एन-लाय का निम्नलिखित पत्र पं. नेहरू की प्रशंसा रूप में प्रस्तुत करते हैं—

“आप जैसे उत्कृष्ट जनों (Excellency) को केवल एशिया ही नहीं, सारी दुनिया का ज्ञान है। इसे मैं केवल विनय के साथ नहीं कहता। क्योंकि आपने जितना ध्यान अंतरराष्ट्रीय घटनाओं की ओर दिया है उतना मैंने नहीं दिया है। हम हमारा देश और उसकी समस्याओं में ही उलझे हैं।”

एस. गोपाल इस पत्र को व्यंग्य-पत्र नहीं मानते। पं. नेहरू ने संसार का इतिहास पढ़ा था, लिखा था। अतः उन्हें कुबलाई खान के शासन काल में चीन में क्या क्या घटित हुआ होगा, वह निश्चित रूप में चौ-एन-लाय की औरंगजेब व शिवाजी संबंधी जानकारी से तो अधिक होगी ही। परंतु भारत के प्रधानमंत्री के नाते जो कुछ उन्हें जानना अत्यावश्यक हुआ करता था। उन सबकी अ, आ, इ, ई भी उन्हें ज्ञात थी, यह कहना या मानना कठिन ही है।

### दूसरों की अक्ल का पैमाना

भारत की दृष्टि से तिब्बत का महत्त्व क्या है? क्या ब्रिटिशों में तिब्बत में अपनी

सेना भेजकर वहाँ मजबूरी से अपने पैर जमाये थे? क्या चीन व रूस को तिब्बत से दूर रखने के लिए ब्रिटिश शासक सदैव सचेत थे? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के बजाय पं. नेहरू हमेशा यह सोचते रहे कि हम ब्रिटिशों के उत्तराधिकारी हैं अतः उन्होंने किये वादों से हम बंधे हुए हैं। प्रस्तुत वादे भारत को चीन व रूस के आक्रमणों से बचाने के लिए किये गये हैं अतः उनका महत्त्व जान लेना जरूरी है। वास्तव में जो व्यक्ति 1912 से तिब्बत के इतिहास को जानता है, वह यह भी जानता है कि दलाई लामा ब्रिटिशों के कार्य काल में चीन के खिलाफ अंग्रेजों की शरण लेने आये थे। क्योंकि तिब्बत को क्षति चीन से अवश्यंभावी है और ऐसी स्थिति तिब्बत सहायता की माँग लेकर भारत के पास ही आयेगा। उपरोक्त बातें किसी भी प्रबुद्ध प्रधानमंत्री की समझ से परे की नहीं हैं। परंतु पं. नेहरू इसे बिलकुल ही समझ नहीं पाये।

अपने संभाव्य शत्रुओं की परख करने के संदर्भ में, पं. नेहरू का ज्ञान तरस खाने योग्य है। आयसेन हावर ने पं. नेहरू को सुझाव दिया था कि वे पाकिस्तान से सहकार्य करें और अपनी सुरक्षा को मजबूत बनायें। परंतु पं. नेहरू ने यह पृष्ठकर कि ‘हमें किसके खिलाफ अपनी सुरक्षा करने की जरूरत है!’ सारी दुनिया में अपनी जगहँसाई कर ली।

चौ एन लाय जानते थे कि पं. नेहरू का संसार के इतिहास का ज्ञान उनसे अधिक है। अतः इसे मान लेने में विनय की कोई बात ही नहीं थी। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं था कि चौ एन लाय पं. नेहरू की तुलना में यह बात अधिक अच्छी तरह जानते थे कि किन अंतरराष्ट्रीय घटनाओं से उनके देश का हित जुड़ा हुआ है। अतः इस पत्र का शेष भाग अधिक व्यंग्य भरा है।

एक बार पं. नेहरू चीन यात्रा से लौटे थे तब कुडबुडाकर शिकायत कर रहे थे कि ‘माओ-त्से-तुंग ने मुझसे अपने मंत्री जैसा बर्ताव किया।’ यह शिकायत ही बड़ी अनोखी है। पं. नेहरू प्रधानमंत्री थे, पर थे तो मंत्री ही। इसके विपरित माओ चीन का सर्वेसर्वा था। अगर उन्होंने पं. नेहरू को अपने तुल्य मानकर व्यवहार किया होता, तो इसे राजनीति के शिष्ट व्यवहार की अवहेलना कहा जाता।

परंतु पं. नेहरू अपनी परदेस यात्रा के संदर्भ में यह चाहते थे कि अन्य देश उनका स्वागत केवल प्रधानमंत्री के हैसियत से न करें वरन् उन्हें जगत्क्रान्ति का अग्रदूत माना जाय। इसी कारण माल्कम मगरिज को नेहरू ‘घमंडी व निम्न स्तर’ के लगे। ह्यू गंस्केल ने कहा कि “नेहरू बहुत ही गुस्ताख हैं। कहीं भी जाते हैं तो वे यही मानते हैं कि वहाँ इकट्टा जन समुदाय उनकी अमृतवाणी ही सुनने के लिए उपस्थित हैं। उनका व्यवहार चिडचिडा व मित्रताहीन हैं।”

पं. नेहरू विदेश यात्रा से जो हासिल करना चाहते थे, उसे उन्होंने स्वयं ही विजयालक्ष्मी पंडित को लिखे पत्र में कहा है। वे लिखते हैं कि “मैं जब अमरिका गया था तो मेरा भव्य स्वागत हुआ था। परंतु वहाँ के समाचार-पत्रों को पढ़कर यह ज्ञात होता है कि

मेरे बाद आनेवाले पाकिस्तान के पंतप्रधान लियाकत अली के स्वागत की पूर्व तैयारी के तौर पर मेरा स्वागत किया गया था. ये अमरिकी जन बहुत ही अल्हड, नादान और मूर्ख हैं. उनकी नजरों में नेहरू, लियाकत अली और इराण के बादशाह सभी एक जैसे ही हैं.

पं. नेहरू यह जान चुके थे कि दुनिया में वे अपना स्थान जितना ऊँचा समझ रहे हैं, वैसा अमरिका की नजरों में बिलकुल भी नहीं है. परंतु इससे स्वयं की कल्पनाओं में सुधार लाने के बजाय वे अमरिकी जनों को ही मूर्ख कहने लगे थे और वे यह मानकर चल रहे थे कि अमरिका न तो न सही, पर तिसरी दुनिया में वे अपने आपको 'शांति का अग्रदूत' ही मान रहे थे. शांति पर दो-चार व्याख्यान दे दिये जाय तो दुनिया की नजरों में शांति का अग्रदूत कोई ऐरा-गैरा भी बन सकता है. परंतु स्वयं को बुद्धिमान समझने वाले पं. नेहरू इस बात की गहराई समझ नहीं पाये.

उपरोक्त पत्र से एक और बात स्पष्ट होती है कि पं. नेहरू दूसरों की बुद्धि का पैमाना बहुत तत्पर रहते हैं. वे अपनी बुद्धिमत्ता के बारे में अवास्तव कल्पना लेकर जी रहे थे. पं. नेहरू के दिलो-दिमाग में एक बात घुस ही नहीं रही थी कि जगप्रसिद्ध नेतागण उनकी वाणी व आचरण को मूर्खता के लक्षण मान रहे थे.

जॉन केनेडी और पं. नेहरू की नब्बे मिनटों की मुलाकात इसका जीता जागता उदाहरण है. इन नब्बे मिनटों में केनेडी ने कुछ भी नहीं कहा केवल पं. नेहरू ही व्याख्यान दिये जा रहे थे. जब पं. नेहरू का बोलना थमा, तो केनेडी ने कहा, 'Thank you' यह मुलाकात समाप्त की सूचना थी.

### अणुयुद्ध और पं. नेहरू

जब पत्रकारों में इस मुलाकात के बारे में पूछा तो पं. नेहरू ने कहा कि 'बातों से कुछ नहीं होता है, घटनाएँ ही बतायेंगी.' परंतु जब केनेडी से पत्रकारों ने पूछा तो उन्होंने कहा कि "मुझे लगा कि मैं भारत के प्रधानमंत्री से बातें नहीं कर रहा हूँ, वरन् चीन के दूत से बात कर रहा हूँ."

केनेडी की यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी थी. क्योंकि पूरे नब्बे मिनटों में पं. नेहरू भारत के बारे में कुछ न कहकर केवल चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने की बात पर मित्रतें कर रहे थे. चीन ने ऐसी कोई विनतिनुमा पत्र नहीं भेजा था और न ही चीन ने पं. नेहरू को अपनी शिफारस पत्र देकर भेजा था. यदि पं. नेहरू यूँ कहते कि चीन के सदस्य न बनाने पर भारत का ऐसा-ऐसा नुकसान होता, तो केनेडी शायद उस पर कुछ गौर कर सकते थे. ऐसा वक्तव्य संयुक्त राष्ट्र संघ की सभा में भारत का प्रतिनिधी द्वारा दिया जाय, तो कुछ ठीक भी था, क्योंकि वक्ता उस समय संयुक्त राष्ट्र के सदस्य के तौर से बोल रहा होता है, भारत का प्रधानमंत्री की हैसियत से नहीं.

'किसी से मिलने जाने पर पं. नेहरू यह मानकर चलते थे कि वह उनका भाषण सुनने के लिए आये हैं.' यह वाक्य ह्यू गास्केल का है. उनके ऐसा लिखने की पुष्टि उपरोक्त

उदाहरण से हो जाती है.

'पं. नेहरू संसार के नेता हैं' ऐसा शेखी भरा वाक्य चीन के लताड़ने पर भारत में कभी भी सुनाया नहीं गया. परंतु महाराष्ट्र में पां.वा. गाडगील कह रहे थे कि 'पं. नेहरू ने दुनिया को अणुयुद्ध से बचाया. अन्य प्रांतों में भी यह कहा जा रहा था.

'यदि पं. नेहरू न होते तो दुनिया अणुयुद्ध की आग की लपेट में आ जाती.' ऐसी विचित्र अफवाह फैलने का भला क्या कारण हो सकता है?

दुनिया 1962 में अणु युद्ध के कगार पर खड़ी थी. इसी वर्ष पं. नेहरू का सही चेहरा चीन ने पं. नेहरू व दुनिया को दिखा दिया था. दुनिया को बचाने का मान तो भूल ही जाइए, इस समय यदि चीन एक सप्ताह भी अपनी सेना लेकर आगे बढ़ता ही रहता तो पं. नेहरू को अपनी कुर्सी बचाना भी भारी पड़ सकता था. उस समय लोकसभा के सदस्यों में यह चर्चा चल रही थी कि तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन पं. नेहरू को पदच्युत करके स्वयं ही अमरिका से चीन के खिलाफ सुलह करने का निर्णय तो लिया था. परंतु स्वयं चीन की सेना अपना लक्ष्य - भारतीय सेना का संपूर्ण नाश करना - पूर्ण कर चुकी थी इसलिए उसने युद्ध विराम घोषित कर दिया था.

इसी दरम्यान रूस ने अपनी सीमा पर अण्वस्त्र तैयार रखीं थी. इस पर अमरिका ने गहरा आक्षेप उठाया और अणुयुद्ध की धमकी दे दी. रूस ने डाँट लगाई कि 'अपने भी हमारी सरहद पर अण्वस्त्र रखे हैं उन्हें हटाइए.' अमरिका ने इसे स्वीकार किया और दोनों ने सीमा पर से अपने-अपने अण्वस्त्रों को हटा दिया. अर्थात् अणुयुद्ध होने से रहने का कारण एक दूसरे के अण्वस्त्रों से उभरता भय था, शान्तिपाठ नहीं. सच तो यह है कि पं. नेहरू ने इस बार अपने शान्ति भजन का गायन किया ही नहीं था. वह काम तो दार्शनिक लेखक बट्रेण्ड रसेल ने किया था. परंतु अमरिका ने उन्हें यह कहकर समझाया कि 'शांतिगीत को रूस के समक्ष गायें.'

यह एक गप ही है कि पं. नेहरू के शांतिजाप से अणुयुद्ध टला.

इस अवसर पर यह सिद्ध हुआ कि अणुयुद्ध पर रोक लगानी होगी तो दूसरे देशों को भी अणु अस्त्रों से ही सज्जित होना होगा. जपान पर अणुबम गिराया गया क्योंकि जपान के पास अणुबम नहीं था. वह रूस पर नहीं गिराया गया क्योंकि अणुबम का जवाब अणुबम से ही देना रूस के लिए संभव था.

विचारशक्ति से संपूर्णतः शून्य बने भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग के लोग ही यह सोच रहे थे कि पं. नेहरू से ही दुनिया में शान्ति बनी रहेगी. एक आदमी सदैव हात ऊँचे ऊपर उठाकर चलता है. उससे यदि पूछा जाय कि 'आप ऐसे क्यों चल रहे हैं?' तो वह कहता है कि 'मेरे यूँ चलने से आसमान ढहनेवाला नहीं. पं. नेहरू व नेहरू भक्त इससे अलहदा नहीं हैं.

पं. नेहरू के कारण अणुयुद्ध से दुनिया का बचाव किया गया, यह सोच सर्वथा

असत्य है। इतना ही नहीं, जिनके कारण दूसरे महायुद्ध के बाद सबसे अधिक लड़ाइयाँ यदि संपन्न हुई हैं उनका नाम बताने की बारी आती है तो पं. नेहरू का ही नाम लेना होगा। यह बात खुले आम साफ थी कि कश्मीर का महाराजा भारत में शामिल होने के पक्ष में था। परंतु पं. नेहरू महाराज के संदर्भ में बातें करने के अवसर पर उन्हें गाली-गलौज के अलावा दूसरी कोई बात करते ही नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि महाराज को इस संदर्भ में निर्णय लेने में विलंब हुआ। इसी कारण जिना को कश्मीर में घुसपैठी सेना भेजने का अवसर मिल गया। महाराज के भारत में शामिल हो जाने पर भी पं. नेहरू ने कश्मीर पर पूरा कब्जा पाने के सेना के काम में रूकावटें पैदा की और आजाद कश्मीर का कौर पाकिस्तान निगलने के लिए दे दिया। इधर सारी दुनिया में बात का बतंगड बनाते हुए घोषित करते रहे कि कश्मीर का विलीनीकरण अंतिम नहीं है, कश्मीर एक विवादास्पद प्रदेश है। 1965 का युद्ध व आज तक चले आये आतंकी हमले का एकमात्र कारण पं. नेहरू की नीति ही है। नागालैण्ड में जनता के ईसाइकरण को बढ़ावा देकर नाग जनों को बगावत करने पर उकसाया। तिब्बत का अर्ध चीन के हाथों पर उँडेलकर चीन-भारत युद्ध को आमंत्रण दे दिया था। पं. नेहरू के कारण हुए युद्धों में मृत सैनिकों की कम से कम संख्या चालीस हजार रही है।

### कलह निर्माता

केवल युद्ध ही नहीं, हिंदू-मुसलमानों के बीच वैमनस्य व दंगों में आश्चर्यजनक रीति से वृद्धि नेहरू नीति के कारण ही हुई है। पं. नेहरू की नीति से पंजाब में खलिस्तानी आतंकवादियों को उत्तेजन मिला और पंजाब में हिंसा सत्र शुरू हुआ था। आज कार्यरत नक्षलवाद और तत्सम गुण्डागर्दी, उपद्रव का जन्म भी नेहरू नीति ही है। भाषिक प्रांतों की सार्वत्रिक व दीर्घकालीन माँग को दुत्कार कर हर जगह दंगों से उभरती असुरक्षा का निर्माण पं. नेहरू की नीति की वजह से ही था। दुनिया की शांति के साथ-साथ भारत की शांति को सबसे अधिक धोखा यदि किसी से था, तो वह एकमात्र व्यक्ति जवाहरलाल नेहरू ही थे।

पं. नेहरू स्वयं को सदैव परराष्ट्रीय राजनीति के तज्ञ मानते थे। इसका एक कारण यह था कि उनकी शिक्षा विदेश में हुई थी और वे बार-बार विदेशों की यात्रा करते थे। वहाँ वे क्या करते थे वहाँ के समाचार पत्रों में कभी भी छपकर नहीं आता था और उनकी आत्मकथा से भी इसका कोई संकेत ही मिलता है। 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में इस बारे में बहुत कम जानकारी दी गई है। पं. नेहरू लिखते हैं कि 'मुसलोनी ने मुझे उनसे मिलने का आमंत्रण दिया था पर मैंने ना कह दिया।' यह बताने का पं. नेहरू का भाव यह था कि ना कहकर उन्होंने कोई बहुत बड़ी गलती नहीं की है। पर साथ ही पं. नेहरू मुसलोनी के बुलावे का कारण नहीं बताते हैं और नकारने का कारण भी नहीं जताते।

महात्मा गांधी ने पं. नेहरू से कहा था कि "आप विदेशी राजनेताओं से दोस्ती

बढ़ाने का प्रयत्न न करें। क्योंकि ऐसा करने पर अंग्रेज यह सोचेंगे कि विदेशी राजनेताओं की सहायता से आप भारत में विद्रोह को बढ़ावा देना चाहते हैं और हम यदि शान्तिपूर्ण आंदोलन करते हैं तो उसे वो दबोच देंगे।' परंतु पं. नेहरू के मुसोलोनी से मिलने न जाने का कारण यह नहीं था। मुसोलोनी तब अंग्रेजों का शत्रु नहीं माना जा रहा था। इसके विपरित मुसोलोनी की तरह अंग्रेज भी स्वयं को कम्युनिज्म के शत्रु मानते थे, अतः मुसोलोनी से उनके दोस्ताना संबंध थे।

पं. नेहरू मुसोलोनी से नहीं मिले, क्योंकि वे विचारों से कम्युनिस्ट थे और मुसोलोनी का अन्तिम ध्येय था कम्युनिज्म का विनाश।

ऐसा होते हुए भी पं. नेहरू ने लेनिन व स्टालिन से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। यदि कोई भारतीय विद्यार्थी रूस चला जाता है तो पुलिस उसकी बारीकी से पूछताछ करती। अंग्रेज तो कम्युनिज्म के खिलाफ थे ही। इस कारण पं. नेहरू इस तरह की राजनीति की चाल चलते कि उनके मत्थे कुछ भी न पड़े। पं. नेहरू स्वप्न में भी नहीं सोचते थे कि बार-बार विदेश जाकर विदेशी राजनेताओं से संपर्क बनाये रखें। यूँ कहीं भी नजर नहीं आता कि विदेशों में पं. नेहरू वहाँ के नेताओं से मिलें हैं, अतः पं. नेहरू की बार-बार की विदेश यात्रा का उद्देश्य राजकीय हित नहीं था वरन् उन्हें भारत में रहना रास नहीं आता था और वे यूरोप जाने पर मायके में जाने का सुख अनुभव करते थे। यही कारण रहा होगा। इन यात्राओं में जो धन व्यय होता था उसे उन्होंने तो कमाया नहीं था। क्योंकि उनके पास कमाई का कोई स्रोत नहीं था। वह धन कांग्रेस का भी नहीं था, अन्यथा पक्ष में चर्चा अवश्य होती और कांग्रेस के वही खाते में लिखा होता।

एक बार समाचार पत्र में छपा था कि बिल्गा पं. नेहरू को उनके जन्मदिन पर वे जितनी आयु के हुए होंगे उतने हजार रुपये देते थे। इन पैसों के विनियोग के संदर्भ में बिल्गा ने कोई शर्त नहीं रखी थी। अतः शायद यही वह धन रहा होगा।

### अंतरराष्ट्रीय राजनीति का ज्ञान

पं. नेहरू के अंतरराष्ट्रीय राजनीति के ज्ञान का अर्थ कम्युनिस्ट पक्ष का अंतरराष्ट्रीय माहौल से जुड़ा अभिमत था। हर साल पं. नेहरू कांग्रेस के अधिवेशन में विदेश नीति के संदर्भ में प्रस्ताव रखते थे। इन प्रस्तावों का आशय मात्र इतना ही था कि कम्युनिस्ट रूस जिन्हें अपना मित्र मानता है, उन्हें सहायता की जाय और वह जिन्हें अपना शत्रु मानता है, उनका विरोध किया जाय।

स्पेन सरकार के खिलाफ जनरल फ्रैंको ने विद्रोह किया था। उसे हिटलर व मुसोलोनी की सहायता प्राप्त थी अतः जनरल फ्रैंको के खिलाफ लड़ने के लिए कुछ पुरोगामी स्वयंसेवक स्पेन की युद्धभूमि पर गये थे। उनमें नागपूर के बाळाजी हुद्दर थे। कांग्रेस का प्रस्ताव था कि स्पेन को सहायतार्थ गेहूँ की बोरियाँ भेजी जाय। इधर चीन पर जपान ने आक्रमण किया था अतः चीन की सहायता के लिए डॉक्टरों का एक दल भेजने



का प्रस्ताव पारित करके पं. नेहरू ने डॉ. कोटणीस व नागपुर के डॉ. चोलकर को चीन भेज दिया. यह कहना मुश्किल है कि इससे भारत का क्या हित हुआ होगा. भारत की बात तो छोड़ ही दीजिए स्पेन और चीन को दी गई मदद भी मात्र दिखावा ही था.

राज की बात यह नहीं थी कि चीन पर जपान की चढ़ाई को एक आक्रमण मानकर पं. नेहरू चीन की सहायतार्थ दौड़ पड़े. जब रूस ने फिनलैंड व लिथुआनिया आदि देशों पर चढ़ाई की तो पं. नेहरू ने उसे आक्रमण नहीं कहा. रूस का बहुत बड़ा हिस्सा झार राजा द्वारा जीता प्रदेश अरूसियों का था. फिर भी पं. नेहरू ने रूस को कभी साम्राज्यवादी नहीं कहा. पं. नेहरू यह सोचते थे कि कम्युनिस्टों को जीतना साम्राज्यवाद नहीं, विमोचन कहलाता है.

1942 में जब महात्मा गांधी ने ब्रिटिशों के खिलाफ देशव्यापी आंदोलन करने का दृढ़ निश्चय किया तब पं. नेहरू ने सलाह दी थी कि यदि यह आंदोलन हुआ तो ब्रिटन की ओर से लड़नेवाले रूस देश के हित पर आँच आयेगी. अतः यह आंदोलन न किया जाय.

अधिकांश कांग्रेस नेताओं का मत था कि कांग्रेस में विदेश नीति से संबंधित प्रस्ताव प्रस्तुत करना ही समर्थन योग्य नहीं है. कांग्रेस सार्वभौम सरकार न थी. वह एक संस्था थी जो 'सत्तारूढ़ सरकार हमारा देश छोड़कर चली जाय', की माँग लेकर आंदोलन कर रही थी. ऐसी संस्था भला विदेश नीति के बारे में सरकार को किस अधिकार से सलाह दे सकती है? अतः पं. नेहरू के प्रस्ताव को किसी तरह की चर्चा किये बिना ही अन्य कांग्रेस नेता तत्काल पारित कर देते थे और झंझट-झमेले को मिटा देते थे.

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पं. नेहरू ने तुरंत ही अपना अलिप्तता आंदोलन प्रारंभ कर दिया. आम लोग इस अलिप्तता या अलगाव का अर्थ अमरिका व रूस के पक्ष के देशों से अलिप्तता मान रहे थे. परंतु पं. नेहरू तो आम नहीं थे और उनकी अंग्रेजी भी आम जनता की तरह शब्द-कोशाधारित नहीं थी. जिस तरह उनके लिए सेक्युलरिज्म का अर्थ हिंदुओं से ड़ाह था, उसी तरह रूस के पक्ष से लिप्तता या जुड़ाव था. जब एक बार गिरिलाल जैन टाइम्स में लिखते हैं कि अलिप्तता का अर्थ रूस का साथ देना नहीं है, तब इस वाक्य का अभिप्रेत अर्थ रूस के पक्ष देशों से लिप्तता ही था और पं. नेहरू के ऐसे अनेकों उद्गार उदाहरण के तौर पर कई वाचकों द्वारा गिरिलाल जैन की बात को काटने की कोशिश की गई थी. पं. नेहरू के अनुसार अंतरराष्ट्रीय राजनीति में दो दल न होकर रूस और उनका उपग्रह एक ही दल हैं. क्योंकि मिनू मसानी के यह आँकड़ों के साथ साबित कर दिया था कि दूसरे दल के देश संयुक्त राष्ट्र में कभी भी थैली भर कर मतदान नहीं कर पाते थे. सुवेज़ कैनाल के संदर्भ में ब्रिटन ने इजराइल से हाथ मिलाकर इजिप्त से युद्ध किया था, तब अमरिका ने ब्रिटन का विरोध करते हुए रूस का साथ निभाया था. रूस के दल में ऐसे मत भेदों का कोई उदाहरण नहीं मिलता. इसीलिए अमरिका के अध्यक्ष अलिप्त राष्ट्रों को 'रूस

के मुक्किल देश' कहते थे. एक बार जब अलिप्त राष्ट्रों के सम्मेलन में श्रीलंका के कोटलवाल ने जब कहा कि, "उपनिवेशवाद की निंदा करते समय पूर्व यूरोप के देशों से की जा रही रूस की अकड़बाजी या जुल्म की निंदा की जाय." तो पं. नेहरू बहुत नाराज हुए थे. संयुक्त राष्ट्र में भारत का प्रतिनिधि सदैव रूस के पक्ष में मत देता था. अतः जगत्शान्ति प्रस्थापित करने में किस तरह की मदद हुई होगी और अणुशक्ति से घिर आये आसमान के बादलों को बरसने से कितनी सहजता से रोका गया था, यह बात केवल नेहरू भक्त ही जाने.

उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर चढ़ाई की, तब उत्तर कोरिया के खिलाफ सेना भेजने का संयुक्त राष्ट्र के निर्णय को भारत सरकार ने स्वीकृति दी थी. पर यह बात भारत की अलिप्तता को साबित नहीं करती.

### रूस से दोस्ती

इस बार संयुक्त राष्ट्र सभा पर रूस ने बहिष्कार करने की भूल की थी. अतः उत्तर कोरिया के खिलाफ सेना भेजने का प्रस्ताव पारित हो सका, अन्यथा इस प्रस्ताव को रूस नकाराधिकार का उपयोग करके नामंजूर कर सकता था. पं. नेहरू कम्युनिस्ट दल के सदस्य नहीं थे और उन्हें रूस के राजनेताओं के विचारों की प्राथमिक स्तर की जानकारी नहीं थी. वे नहीं जानते थे कि रूस व चीन की उत्तर कोरिया को सहमति या पुश्तपोशी है. यह बात तर्क के बल पर आसानी से समझी जा सकती थी, फिर भी अन्य अनेक बातों की तरह यह बात भी उनकी समझ से परे ही थी.

कुछ लोग यह कहते हैं कि रूस का साथ देने की नीति को अलिप्तता की नीति भले ही न कहा जाय परंतु इस पहलकदमी का लाभ भारत को अवश्य हुआ है. रूस ने गोवा व कश्मीर पर भारत के खिलाफ प्रस्तुत प्रस्ताव को अपने नकाराधिकार के तहत खारिज करवाये और 1971 के युद्ध में भारत की सहायता की.

1971 की लड़ाई के बारे में जब इंदिरा गांधी पर चर्चा होगी तब कहा जायेगा. यहाँ केवल इतना ही कहना जरूरी है कि यह युद्ध भारत का नहीं था, रूस द्वारा आयोजित था. ऐसा करने में रूस यह चाहता था कि पाकिस्तान अमरिका के व्यूह से बाहर निकले और उनका साथ दे. यहाँ भारत का इस्तेमाल केवल साधन की तरह किया गया था. पाकिस्तान ने भारत का छांब प्रदेश जीत लिया था. रूस के दबाव के कारण उसे भारत को पाकिस्तान के पास बने रहने देना पड़ा. कुछ भोले हिंदू पूछते हैं कि 'भारत ने पूर्व पाकिस्तान को जीत कर भी क्यों छोड़ दिया?' वे आसान-सी बात भूल जाते हैं कि रूस के समर्थन के बगैर भारत का जीतना संभव नहीं था.

कश्मीर के बारे में तो कुछ न कहना ही बेहतर होगा. पं. नेहरू के अलावा अन्य कोई भी यह नहीं कहता कि कश्मीर भारत का नहीं है. भारत में मिल जाने के महाराजा के अधिकार को पाकिस्तान ने भी मान लिया था. इसके अलावा अगर रूस यह मानकर

चलता था कि कश्मीर भारत का है, तो ताश्कंद में लाल बहादूर शास्त्री को आजाद कश्मीर से सेना हटाने के लिये मजबूर क्यों किया था? गोवा में खुले आम भारतीय सेना को भेजना कोई कूटनीति नहीं थी. अधिकांश देश स्थानीय विद्रोहियों की सहायता के नाम पर ऐसा कार्य करते ही हैं. सरदार पटेल ने जुनागढ़ का किस्सा इसी तरह निपटाया था. जिना ने कश्मीर हासिल करने का व्यूह रचा था. किंतु भारतीय सेना के हस्तक्षेप के कारण वह कारगर साबित नहीं हुआ.

पं. नेहरू ने इस रास्ते को न अपना कर खुले आम गोवा में सेना को घुसने दिया क्योंकि उन्हें मुंबई के चुनाव में कृष्ण मेमन को जीताना था. भारतीय सेना को गोवा में प्राप्त विजय का सेहरा रक्षामंत्री कृष्ण मेमन को मिला. स्थानिक विद्रोहियों को उत्तेजन देने पर मेमन को इतनी आसानी से लाभदायी नहीं होता.

कृष्ण मेमन के गोवा मुक्ति के संदर्भ में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में छपे अपने दो लेखों में पं. नेहरू का दुखद स्वरूप व्यक्त है. गोवा में जब भारतीय सेना पोर्तुगीजों को नेस्तनाबूद करने के पैतरे लेकर प्रवेश करने को थी तब पं. नेहरू के मन में पोर्तुगीजों के प्रति सहानुभूति जाग उठती है और आक्रमण किये बिना ही भारतीय सेना वापस लौट आती है. दूसरी तारीख पर भी ऐसा ही हुआ. कृष्ण मेमन के मन में संदेह जागा कि कोई तो है जो पोर्तुगीजों को चढ़ाई का दिन बतलाता है. अधिक सोचने पर संदेह का काँटा पं. नेहरू पर आकर ठहर जाता था. तब कृष्ण मेमन ने पं. नेहरू को बिना बताते तारीख तय कर दी और चौबीस घण्टों में गोवा पर कब्जा कर लिया गया.

ऐसा व्यवहार करने के पीछे भला पं. नेहरू का उद्देश्य क्या हो सकता है? पं. नेहरू का उद्देश्य था उनके प्रधानमंत्री पद को जागतिक स्तर पर मान्य किया जाय. वे यह जताना चाह रहे थे कि मुंबई के मूर्ख हिंदुओं में लोकप्रियता हासिल करने के लिए उन्हें कृष्ण मेमन को जीतवाना पड़ा. इस कलंक से उबरने के लिए उन्हें पोर्तुगीजों और दुनिया को यह आभास दिलाना चाहा कि वे तो शांति दूत हैं. मेमन जैसे बुरे लोग युद्ध करते हैं. जो कुछ हो रहा है, वह सब उनकी इच्छा के विरुद्ध है.

### पं. नेहरू और सैनिकी भेद

पं. नेहरू के व्यवहार का दूसरा कोई अर्थ निकाला नहीं जा सकता. परंतु ऐसा अर्थ निकाला जाय तो पं. नेहरू की सोच शक्ति के बारे में बिलकुल निकृष्टता से पूर्ण कल्पना करनी पड़ेगी. यूँ कहने पर शायद बातों पर विश्वास नहीं करेंगे और विश्वास कर भी लें तो लगेगा कि पं. नेहरू तो भारत के नाममात्र के प्रधानमंत्री हैं. इस बात को यदि पं. नेहरू समझ लें या न समझें पर उन्हें तो अपने देश के लिए लड़ गुजरने वाले अन्य नेताओं की बराबरी करने जैसी बदनामी अधिक दुःसह जान पड़ रही थी.

दुनिया में अपनी लोकप्रियता की खातिर पं. नेहरू भारत का किस हद तक नुकसान कर सकते थे, इसका दूसरा प्रमाण या समर्थन है अक्सर चीन की घटना. पं. नेहरू

जानते थे कि चीन ने अक्सर चीन को उनके कब्जे में ले लिया है. चीन को अक्सर चीन का उपयोग तिब्बत व कश्मीर से जुड़े उनके प्रदेशों को जोड़ने के लिए करना था. वहाँ चीनी मजदूर रास्ते बनवा रहे थे. दुनिया के समाचार-पत्रों में यह बात प्रकाशित हुई थी. तब ना. ग. गोरे ने लोकसभा में प्रश्न पूछा था कि भारत के प्रदेशों में चीनी लोग रास्ते कैसे बनवा सकते हैं? तब यह भेद खुला था. पर पं. नेहरू का उत्तर था— "अक्सर चीन की फिर क्यों करते हैं? वहाँ तो घास की पत्ती भी नहीं निकलती."

मानो अक्सर चीन पं. नेहरू की निजी संपत्ति थी. उससे मंत्रीमंडल या लोकसभा का कोई संबंध नहीं था. खेतीबारी के अलावा भला जमीन का और उपयोग भी क्या हो सकता है?

चीनियों ने अक्सर चीन ही नहीं, भारत का हजारों चौरस मील भूभाग बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया था. अक्सर चीन तो उनमें से एक है. पं. नेहरू इसे रोकने में असमर्थ थे, ऐसा कहकर उनका समर्थन नहीं किया जा सकता. खास कर तब जब अमरिका हर तरह से सहायता देने को तैयार थी. परंतु पं. नेहरू यह सहायता लेना नहीं चाहते थे. इसके दो कारण थे.—

1. पं. नेहरू के अनुसार कम्युनिस्ट राष्ट्रों का आक्रमण विमोचन होता है. तिब्बत के संदर्भ में एक नेहरू भक्त ने लोकसभा में स्पष्ट ही कहा कि चीन द्वारा पादाक्रांत प्रदेश मूलतः पूँजीवादी या सरमायेदारी से कम्युनिज्म की ओर यात्रा करने के लिए मुक्त किये गये प्रदेश हैं.
2. चीन उन्हें भारत का प्रदेश चीन के आँचल में डालने के लिए धन्यवाद देगा और कम्युनिस्टों के आंदोलन को इतिहास में उनका नाम अजरामर हो जायेगा. अकम्युनिस्टों की दुनिया में भी शांति पूजक उपलब्ध हैं.

पं. नेहरू का हिसाब-किताब कुछ यूँ था कि "पं. नेहरू ने जगत्शांति के लिए अपने देश के हित की परवाह नहीं की अतः उन्हें वे शांति दूत मानेंगे. दो-चार हिंदू ही नाराज होंगे. परंतु उन्हें चार बार लातों से लताड़ेंगे, तो भी वे उसे पं. नेहरू का अनुग्रह मानकर सह लेंगे."

इस हिसाब-किताब का केवल आखरी पद ही सच था.

1971 के युद्ध में यह बात सब जगह फैल चुकी थी कि अमरिका इस युद्ध में भारत के खिलाफ है. पर यह सच नहीं है. अमरिका चाह रही थी कि भारत पश्चिम पाकिस्तान को नष्ट न करे. पर इस मामले में अमरिका व रूस में कोई मतभेद न था. बांगला देश की स्थापना के लिए अमरिका का विरोध न था. ब्रिटेन ने खुलकर बांगला देश की स्थापना की प्रशंसा की थी. अमरिका का रवैया ब्रिटेन के समसमान ही था.

अमरिका ने इस युद्ध के अन्तिम दिनों में उनका एक जहाज पूर्व पाकिस्तान के तट पर भेजा था, ताकि पाकिस्तानी सैनिक भारतीय सेना के हाथ न लगे और उन्हें

पाकिस्तान ले जा सके. परंतु ये सैनिक समुद्र तट तक पहुँच ही नहीं पाये.

□□

## ॥ भारत की सुरक्षा के साथ खिलवाड़ ॥

ए. रूद्रा की संस्मरणों (Memoirs) में लिखा है कि सन् 1947 में रक्षा दलों के तीनों प्रमुख एक निवेदन लेकर पं. नेहरू के पास गये थे, जिसमें उन्होंने सूचित किया था कि भारत की सुरक्षा को किन-किन स्थितियों में खतरों का सामना करना होगा और उनसे निपटने के लिए कौन-कौन-से उपाय हो सकते हैं? इसे देख पं. नेहरू बेकाबू हो गये और कहने लगे,

“बेवकूफी! केवल बेवकूफी होगी! भारत को कोई खतरा हो ही नहीं सकता. भारत अहिंसावादी है. ऐसी योजनाएँ बनाने के बजाय रक्षा दलों को ही बरखास्त किया जाय. केवल पुलिस से काम चला लेंगे.”

पं. नेहरू के इन शब्दों पर देश उसी समय आपत्ति उठाता तो भारत की रक्षा के साथ भविष्य में संपन्न खिलवाड़ न किया जाता.

क्या पं. नेहरू वास्तव में अहिंसावादी थे? यदि थे, तो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों द्वारा झार के बच्चों-महिलाओं की अमानुष कत्ल और दुनिया में किसी भी शासक द्वारा इतने बड़े पैमाने पर नहीं किया, उतना लेनिन व स्टालिन द्वारा किया गया नरसंहार, किसी भी घटना की उन्होंने कभी भी निंदा क्यों नहीं की? जुनागढ़ व हैद्राबाद में सेना के स्थान पर सत्याग्रहियों को क्यों नहीं भेजा? सरदार पटेल ने सुना नहीं, यह उत्तर असंतुष्ट ही रखता है. क्योंकि पं. नेहरू ने सरदार पटेल को सेना की जगह सत्याग्रहियों को ले जाने का सुझाव कभी दिया ही नहीं था. जब सुझाया ही नहीं गया था, तो सरदार ने उनकी सुनी नहीं कहने का क्या मतलब हो सकता है?

पं. नेहरू के उपरोक्त आचरण का अर्थ साफ है. पं. नेहरू का अनुमान था कि “अपने ही सेनापतियों से बात कहने पर बात दूर तक फैल जायेगी और ऐसा होते ही इन सेनापतियों की धारणा बन जायेगी कि सारी दुनिया में अहिंसा का पाठ पढ़ानेवाला एकमेव और सम्राट अशोक से भी श्रेष्ठ शासनकर्ता के रूप में उनकी प्रतिमा निखर उठेगी.”

पं. नेहरू ने भारत के संभाव्य खतरे का अंदाज लेकर एक परिपूर्ण सुरक्षा योजना बनाने की कभी भी कोशिश नहीं की. इसका कारण यह नहीं था कि वे शांतिवादी थे. उन्होंने तो पूरा भरोसा दिया था कि “भारत को सैनिक आपत्ति का सामना करने का अवसर ही नहीं आयेगा.” उनके सिवाय अन्य कोई भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति नहीं समझता. उसमें भी खाकी वर्दी वालों को युद्ध के अलावा दूसरी भाषा आती ही नहीं है. उनको भला अंतरराष्ट्रीय राजनीति से क्या लेना-देना? यदि कुछ हुआ भी तो पाकिस्तान की सीमा पर छुट-पुट संकट मंडरायेगा. पाकिस्तान के पास न तो वायु दल है, न नौ सेना दल, उनके पास केवल 8

टैंक हैं। उनसे भयभीत होकर एक आध सुरक्षा-योजना बनाने की कोई भी जरूरत नहीं है। चीन बलवान बन सकता है, परंतु वह कम्युनिस्ट व पुरोगामी राष्ट्र है। ऐसे राष्ट्र किसी पर आक्रमण नहीं करते। कम्युनिस्टों के आक्रमण को 'पति द्वारा बलात्कार' जैसे शब्द प्रयोग जैसा कहा जायेगा।

पं. नेहरू की सोच यह थी कि उसके अलावा चीन यह जरूर ध्यान रखेगा कि हम कम्युनिस्टों के ही सहप्रवासी हैं। यदि चीन हमसे युद्ध करने का निश्चय कर भी लेता है और उसमें से विश्व-युद्ध उभर कर आयेगा, तो हम किसी न किसी पक्ष में रहेंगे ही। वह पक्ष हमारी पूरी मदद करेगा। फिर हमें अलग से तैयारी करने की जरूरत ही क्या है? पं. नेहरू ने अपने सत्रह वर्ष के कार्यकाल में रोज कई भाषण दिये हैं। इन सत्रह सालों में प्रतिदिन समाचार-पत्रों में पढ़नेवालों या आकाशवाणी से सुननेवालों में से किसी के भी मन में इस बारे में दुविधा नहीं होगी।

पं. नेहरू भारत के अविवाद्य नेता बनाये गये थे। थोड़ी बहुत गड़बड़ी से उनकी नेतागिरी पर कोई आँच आनेवाली नहीं थी।

पाकिस्तान इस समय सैनिकी शक्ति की दृष्टि से बेहद कमजोर था, एकाध सप्ताह उसे पूरी तरह से परास्त करने के लिए काफी था। ऐसा न होता तो सरदार पटेल के समय पूर्व पाकिस्तान की सीमा पर भारतीय सेना युद्ध के लिए सुसज्जित थी, तब पाकिस्तान का प्रधानमंत्री शान्ति की भीख माँगता हुआ दिल्ली न आता।

सभी पाकिस्तानी नेताओं पर धुन सवार थी कि जितनी जल्द हो सके उतनी शीघ्रता से उन्हें भारत की सेना के बराबर शक्तिमान होना ही होगा। क्योंकि उन्हें अपनी कमजोर स्थिति का अहसास था। पाकिस्तान निर्माण के तत्त्वज्ञान से प्रभावित मुसलमानों के लिए यह बात बड़ी शर्मिंदगी भरी थी कि वे किन्हीं काफिरों, वह भी खासकर हिंदुओं से युद्धभूमि पर पराजित हो जाय।

### पाकिस्तान की महान उपलब्धि

इस अवधि में यह स्पष्ट हुआ कि पाकिस्तान के नेतागणों की राजनीति की कुशलता और देशाभिमान का भाव पं. नेहरू की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ था। उन्होंने तय किया कि वे अमरिका के कम्युनिस्ट विरोधी व्यूह में प्रवेश करेंगे। इस व्यूह में प्रवेश पाते ही एक दमड़ी भी खर्च किये बिना पाकिस्तान को अद्यतन शस्त्रास्त्रों की पूर्ति होने लगेगी और केवल पाँच वर्षों में ही पाकिस्तान भारत की बराबरी करने लगा।

इस अवधि में काकासाहेब गाडगील से मेरी चर्चा हुई थी। तब उन्होंने कहा था कि "पाकिस्तान के नेताओं की दृष्टि अदूरदर्शी है। भारत से बराबरी करने की धुन पर सवार होकर उन्होंने रूस जैसे प्रबल राष्ट्र से दुश्मनी मोल ली है। इसकी कीमत उन्हें चुकानी होगी।"

परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ। रूस ने भी ताश्कंद और सिमला में हुए भेंट-मिलाप में पाकिस्तान का ही साथ दिया था। 1980 में रूस के नेताओं ने भारत द्वारा पाकिस्तान

को नष्ट करने की योजना बनाई थी। पर इसमें संदेह नहीं था कि अमरिका व चीन मिलकर इसे असफल बना देते। इसी कारण प्रधानमंत्री मुरारजी देसाई ने रूस का साथ नहीं दिया।

पं. नेहरू इस बात को गहराई से समझ ही नहीं पाये थे कि पाकिस्तान कम्युनिस्ट विरोधकों के पक्ष में होकर भी चीन जैसे कम्युनिस्ट देश को अपना मित्र समझ रहा था और सहप्रवासी भारत को शत्रु मान रहा था। कम्युनिज्म से पहले संसार में ईसाई धर्म और इस्लाम राष्ट्रवाद के विरोधक अंतरराष्ट्रीय दो विचारधाराएँ प्रचलित थीं। परंतु दोनों ही राष्ट्रवाद को समाप्त नहीं कर पाये। अरबों से इस्लाम का स्वीकार करनेवाले तुर्कियों ने स्वयं ही अरबों के देशों को अपने अधीन कर लिया। आगे चलकर इस्लामी तुर्कों के खिलाफ इस्लामी अरबों ने अपनी स्वतंत्रता के लिए युद्ध किया। ईसाई राष्ट्रों ने आपस में विश्व स्तर पर युद्ध किये। यह सब बताने की आवश्यकता ही नहीं है। ईसाई धर्म और इस्लामी मजहब की तुलना में कम्युनिज्म का अंतरराष्ट्रीय स्वरूप दिखावटी ही था। स्टालिन ने उसे कब का शव-स्वरूप बना दिया था और राष्ट्रवाद के बलबूते पर रूस को मजबूत बनाया था। जब जर्मनी ने आक्रमण किया तो स्टालिन ने यह कहकर ललकारा कि 'पितृभूमि की रक्षा के लिए लड़ो।' उसने 'कम्युनिज्म के लिए लड़ो' नहीं कहा था। इतिहास पढ़कर भी पं. नेहरू के भेजे में बात नहीं आयी थी।

यदि सचमुच तिसरा महायुद्ध हो जाता तो भारत की नेहरू प्रणित तटस्थता/अलिप्तता उनके ही काम न आती। पाकिस्तान को बचाने के लिए चीन कभी भी भारत पर धावा बोल सकता था, हमला कर सकता था। कभी भी चीन के लिए भारत के सरजोर बनने की संभावना को देखते हुए चीन ने हमेशा के लिए अपना लक्ष्य बनाये रखा था कि भारत को सरजोर न बनने दिया जाय।

यदि रूस अमरिका से टकरा जाता तो चीन कम्युनिस्ट होकर भी युद्ध में रूस की ओर से लड़ने की संभावना थी ही नहीं।

भारतीय नेताओं की अपेक्षा पाकिस्तानी नेता अधिक चाणाक्ष थे, यह निम्न लिखित घटनाओं से स्पष्ट होता है।

भारत के पास पाकिस्तान से आठ गुना ज्यादा जनसंख्या व अन्य साधन उपलब्ध होते हुए भी पाकिस्तान भारत से बराबरी के स्तर पर आकर युद्ध करने की सामर्थ्य पा गया था और उसने अणुबम भी भारत से पहले बनाया। यह पाकिस्तान की बहुत बड़ी उपलब्धि थी। भारत की कोई भी उपलब्धि अब तक इतनी बड़ी नहीं थी।

भारत ने पाकिस्तान पर हमला बोला या चीन ने भारत पर आक्रमण किया, तो विश्व युद्ध घटित होगा जैसी पं. नेहरू की कल्पनाएँ नितांत भोंडी थी। यह सब तभी संभव है, जब तुरंत फैसला न होवे और युद्ध चलता रहे। यदि हैद्राबाद की पुलिस की कार्यवाही का खात्मा पाँच दिनों में न होता तो इस घटना से भी अंतरराष्ट्रीय मामला पनप सकता था। चीन ने सात दिनों में भारतीय सेना को पूरी तरह से परास्त कर दिया था। इसलिए चीनी

आक्रमण से विश्व संघर्ष उद्भूत नहीं हुआ था। यदि बलप्रयोग करना ही हो, तो इतने बड़े पैमाने पर किया जाना चाहिए, जिससे तुरंत सफलता मिले और दुनिया उसमें दखलअंदाजी नहीं कर पाये। जिन झगड़ों से शान्ति भंग नहीं होती उनकी ओर संयुक्त राष्ट्र देखता भी नहीं है।

पं. नेहरू ने यह नहीं जाना था कि पाकिस्तान का भारत के बराबर हो जाना भारत के लिए हमेशा का सरदर्द रहेगा और इसी कारण पं. नेहरू ने कोई कदम नहीं उठाए।

### सभागृह में थिमैय्या व रणभूमि पर पं. नेहरू की फजीहत

नेहरू भक्त कुलदीप नायर कहते हैं कि “चीन से हुए युद्ध में फजीहत/दुर्गति के लिए सैनिक जिम्मेदार हैं, पं. नेहरू नहीं।” यह शब्द ईमानदारी से कहे गये होंगे तो बहुत बड़ा आश्चर्य ही है। लोकशाही सरकार की यह जिम्मेदारी होती है कि वह अपने संभाव्य शत्रुओं को पहचानकर उनसे अपनी रक्षा की व्यवस्था करे। संबंधों में दरार पड़ना, हमारे अंतरराष्ट्रीय नीति पर निर्भर होता है। इसे सेना तय नहीं करती। साथ ही संभाव्य शत्रु के बलस्थानों की खोज के विविध साधन सेना के पास तो होते ही नहीं हैं। वे केवल सरकार के अधिकार में ही होते हैं। सरकार प्रथम जानकारी सेना को देती है, फिर उपाय के लिए आवश्यक शस्त्रास्त्र कौन-से होंगे, यह सेना से पूछना होता है। इस बिंदु से आगे सेना की जिम्मेदारी शुरू होती है।

पं. नेहरू तो यह मानकर चल रहे थे कि उन्हें सेना की आवश्यकता ही नहीं है। एस. गोपाल लिखते हैं कि “सन् 1962 में सेनापतियों द्वारा कई बार यह सूचित किया था कि ‘आवश्यक शस्त्रास्त्रों की भयावह कमी है।’ परंतु निकट भविष्य में युद्ध की संभावना ही नहीं है यह मानकर पं. नेहरू इस तथ्य की अवहेलना/उपेक्षा करते रहे।” सेनापति त्रय को आपत्ति का अंदेशा था, किंतु पं. नेहरू को नहीं।

इस बात का मेरा अनुभव प्रत्यक्ष ही है। रक्षा विज्ञान प्रयोगशाला के उद्घाटन के अवसर पर पं. नेहरू का भाषण था। रक्षामंत्री कृष्ण मेनन, सेनापति थिमैय्या उपस्थित थे। सबसे पहले सेनापति थिमैय्या जी ने कहा—

“सेना की जिम्मेदारी देश की सुरक्षा की अवश्य है किंतु चाहे जैसे आक्रमण का सामना करने की तैयारी किसी के लिए भी संभव नहीं है। सामना करने की तैयारी का तत्त्व या अर्थ है अपने संभाव्य शत्रु का सामना करने योग्य प्रबल होना। परंतु उसके लिए अपने संभाव्य शत्रु को पहचानना जरूरी है।” थिमैय्या का दिशा-निर्देश बिल्कुल स्पष्ट था। वे कह रहे थे कि “हमें चीन की तरफ से संकट है और चीन से टक्कर देने योग्य सामर्थ्य हमारे पास होना चाहिए। हमारे राजनेता इसे साफ ढंग से समझ लें और सेना की तैयारी में मददगार साबित हों।”

इसके बाद रक्षामंत्री कृष्ण मेनन उठे और कहने लगे कि “सेनापति जी की बातें सुनकर मुझे मेरे बचपन की घटना याद आ रही है। हमारी पाठशाला के इर्दगिर्द बहुत से

झाड़-झंक्खाड़ थे। उसे हम जंगल कहते थे। हमने गुरुजी से अनेक बार पूछा कि ‘हम इस जंगल में घूमने जाते हैं पर मुझे बड़ा डर लगा रहता है कि रास्ते में कोई सिंह सामने आ खड़ा हुआ तो?’ गुरुजी मेरे प्रश्न पर सिर्फ हँसते ही रहे। एक बार मैंने रोवासाँ होकर पूछा कि ‘आप सिंह के बारे में कुछ नहीं बता रहे हैं। लगता है कि हमें घूमना छोड़ देना होगा।’ तब गुरुजी ने कहा कि ‘घूमना मत छोड़ो। यदि सिंह आ भी गया तो क्या? चिंता क्यों करते हो? तुम्हें कुछ नहीं करना है। जो कुछ भी करना है वह सिंह ही करेगा।’

पं. नेहरू से सुन रहे थे। चीनी सिंह निश्चित ही झपट पड़ेगा यह बात पाठशाला के निकट की झाड़ियों में छिपे सिंह से मिलने जैसी ही थी। और चीनी झपट पड़ेंगे तब आई बला को बर्दाश्त कर लो। बंदूक ले जाने का प्रयास व्यर्थ है। किसी गरीब विद्यार्थी के पालक की आधी आमदनी के बराबर उस बंदूक की कीमत और देखभाल का खर्च होता है। उसके इस्तेमाल का एक भी प्रसंग आनेवाला नहीं है।

सभी श्रोतागण थिमैय्या की फजीहत पर हँस रहे थे। परंतु बहुत कम लोग जान रहे थे कि नियति थिमैय्या नहीं, नेहरू-मेनन की जोड़ी पर हँसने को है।

एक बात साफ है कि अपने कर्तव्य से चुकने वाले नाम रक्षामंत्री व प्रधानमंत्री के थे, सेनापति के नहीं। उपरोक्त प्रसंग पं. नेहरू के समक्ष ही घटित हुआ था। यहाँ थिमैय्या ने जो कुछ कहा था, उसे पं. नेहरू व कृष्ण मेनन के पास कई बार निश्चित रूप से कहा होगा ही। सेनापति थोरात ने कहा था कि “उन्होंने चीन को थामने की एक योजना कृष्ण मेनन को दी थी, परंतु वह पं. नेहरू के सामने रखी ही नहीं गई।” शायद सेनापति थोरात की यह भोली सोच रही होगी। कृष्ण मेनन तो पं. नेहरू के ही विचार बोल रहे थे। जो मेनन के खिलाफ थे, वे इसे जानते थे। परंतु पं. नेहरू की ओर ऊँगली उठाने का साहस उनमें नहीं था। सिंह को बलि चढ़ाना पुख्ता नहीं था या बन नहीं पड़ता था अतः बलि के लिए चुने गये बकरे का नाम था मेनन।

### पं. नेहरू की रक्षा के लिए चीन की दौड़

पं. नेहरू ने कई बार यह साफ शब्दों में कहा है कि “मेनन जो कुछ कहते हैं, बोलते हैं उसे मेरा पूरा समर्थन होता है। मेनन की आलोचना मेरी आलोचना होगी।”

सन् 1962 में जब भारत चीन की सेना से पूर्व की ओर लड़ने में जुटा हुआ था तब पाकिस्तान की सीमा पर एक भी सैनिक मौजूद नहीं था। पाकिस्तान चाहता तो दिल्ली तक अपना साम्राज्य फैला सकता था। परंतु अमरिका ने पाकिस्तान को ‘खबरदार’ की धमकी देकर रोक रखा था।

जब भारत इतने बड़े संकट से घिरा हुआ था, तब कृष्ण मेनन को पद से हटाने की माँग होने लगी, तब पं. नेहरू ने कहा था कि ‘मुझे हटाने के बाद ही कृष्ण मेनन को हटाया जायेगा।’ तब स्थिति की गंभीरता को देखते हुए महावीर त्यागी ने कहा था कि ‘यदि ऐसा है तो आपको भी हटाने की बात सोचनी होगी।’



चीन ने भारतीय सेना का नाश करने का लक्ष्य हासिल करते ही युद्ध विराम घोषित कर दिया. अतः पं. नेहरू बच गये.

मूलतः पं. नेहरू को बचाना भी चीनी युद्ध विराम में छिपी नीति का हिस्सा था. संपूर्ण रक्षा मंत्रालय में एक बात फैल चुकी थी कि राष्ट्रपति राधाकृष्णन, पं. नेहरू को पदच्युत करके चीन के खिलाफ अमरिका से सुलह करने की सोच रहे थे. अमरिका से ऐसी सुलह हो जाती, तो दलाई लामा अपनी फिर्याद लेकर अमरिका के पास चले जाते. अमरिका का दोस्त, चांग काई शेख चीन पर ही अपना अधिकार बता रहा था. अमरिका से यह सुलह हो जाती, तो अमरिका ने तिब्बत पर चीन का तथाकथित सार्वभौमत्व, चीन की कम्युनिस्ट क्रान्ति की वैधता आदि सारे मुद्दे सामने रख दिये होते. अमरिका तो बहुत पहले से ही यह सोच रही थी कि चीन से भारत की रक्षा होनी चाहिए. अतः आयसेन हॉवर ने अयूब खान से चर्चा करके एक संयुक्त रक्षा व्यवस्था की योजना बनाने की सूचना पं. नेहरू को दी थी. तब 'किससे अपनी रक्षा करनी होगी?' जैसा सवाल कर पं. नेहरू हँसी का पात्र बन गये थे. पं. नेहरू ने 1957 में लोकसभा को यह बता दिया था कि '1957 में चीन से सामना करने की नौबत ही नहीं आने की.' यह साक्ष्य है पं. नेहरू की परराष्ट्रीय राजनीति की पहचान की.

भारतीय सेना को जरूरत भी केवल शस्त्रों की. भारत व चांग काई शेख की सेना तथा अमरिका से प्राप्त शस्त्रास्त्र इन सबके सामने चीनी कम्युनिस्ट पल भर भी टिक नहीं सकते थे. युद्ध विराम करके भारत का सबसे बड़ा विरोधक और चीन का दोस्त, पं. नेहरू को चीन ने बचा लिया और भारत के समक्ष अपनी श्रेष्ठता भी बनाए रखी.

चीन भी यह जानता था कि भारत की सीमा पर और अधिक आगे बढ़ने पर अपने बचाव के लिए पं. नेहरू अमरिका से मदद की माँग करेंगे ही. चीनी नेता इस बात को समझ रहे थे कि पं. नेहरू को इस बात की सूचना दी जाय कि वे ऐसा कुछ नहीं करेंगे जिससे उनके पद पर कोई आघात पहुँचे. अतः उन्होंने टाइम्स के संपादक नानपोरिया का चुनाव किया. नानपोरिया ने चीनी युद्ध विराम के एक सप्ताह पूर्व ही 'चीनी जल्द ही युद्ध विराम करेंगे' का भाव व्यक्त करने वाला एक लेख लिखा. ऐसी बात तो थी ही नहीं कि पं. नेहरू की नजरों से प्रस्तुत लेख छूट जाय. क्योंकि प्रतिदिन पं. नेहरू टाइम्स पढ़ते ही थे. नानपोरिया से उनके गहरा परिचय था. राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन और अमरिका के राष्ट्रपति दोनों ने बेशक इसकी पूर्व कल्पना की होगी. अतः चीनी युद्ध विराम होने से पहले ही अमरिका से चीन के खिलाफ भारत द्वारा सुलह होने की संभावना समाप्त हो गई थी.

परंतु नानपोरिया को चीन से कोई सूचना प्राप्त हुई थी, ऐसा मानने की आवश्यकता है क्योंकि नानपोरिया के पहले और बाद में चीन के संदर्भ में बतायी गयी आगामी बातों में से कुछ भी सच नहीं हुआ था. अतः स्पष्ट है कि नानपोरिया बहुत बड़े

भविष्यद्रष्टा नहीं थे.

### जानबूझकर भारत की बलि

परिस्थिति पूरी तरह से अनुकूल होते हुए भी भारत की तबाही का बेहतरीन उदाहरण है— चीनियों द्वारा भारत की फजीहत. आयसेन हॉवर जानते थे कि कम्युनिस्टों के खिलाफ रचे व्यूह में शामिल होना पं. नेहरू के तत्त्वों में शामिल नहीं था. अतः उन्होंने पं. नेहरू को सूचना दी थी कि वे पाकिस्तान से मिलकर संयुक्त रक्षा व्यवस्था की योजना बनाएँ. उन्होंने यह भी सुन रखा था कि पं. नेहरू अखंड भारतवादी हैं, भारत व पाकिस्तान दोनों को भारतीय उपखंड की चिंता होने के कारण बाहर की शक्तियों के कदम इस भूमि पर जमने नहीं देंगे. आयसेन हॉवर यह मान रहे थे कि इस विचार को पं. नेहरू भी पसंद करेंगे. आयसेन हॉवर की दूसरी सूचना यह भी थी कि बिना किसी शर्त के अमरिका शस्त्रों से सहायता करेगा. अमरिका का मकसद यह था कि किसी भी तरह से उसे चीन पर प्रतिबंध लगाना था.

बेचारा आयसेन हॉवर! उसे क्या मालूम था कि पाकिस्तान व भारत का संयुक्त भारत और उसकी बाहरी शक्तियों से सुरक्षा जैसी राष्ट्रवादी बातों को पं. नेहरू के अंतरराष्ट्रीय सोच में कोई स्थान नहीं था. दुनिया का नेता कहलाने के लालच में, वे चीन का भी भला करने चले थे. अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत नामक एकमात्र पूँजी बची थी.

पं. नेहरू तथा महात्मा गांधी या अन्य नेताओं में अंतर इतना ही है कि अन्य नेतागण इतिहास के गड़े मुँदें बन गए हैं और आज तक भारत का सारा कारोबार नेहरूवाद पर ही चलता आया है. रक्षा के संबंध में यह अविवाद्य रूप से सत्य है. चीन के खिलाफ सेना की तैयारी की बात पर थिमैय्या पर लोग हँस रहे थे. आज जब रक्षा मंत्री जॉर्ज फर्नांडिस स्वयं कहते हैं कि 'चीन हमारा शत्रु है' तो उनके मुँह पर ताले लगाने पड़े. क्योंकि हमारे ही देश ने जिस प्रदेश पर वह अपना अधिकार जता रहा है और उसे स्थापित करने के लिए वह आक्रमण भी कर रहा है, ऐसा वह जब दावे के साथ कह रहा है, तो उसे शत्रु कहना इस देश में अपराध माना जाता है. पं. नेहरू के समय ही लोकसभा ने यह प्रतिज्ञा ली थी कि हमारा जो भी प्रदेश चीन के अधीन है, उसे मुक्त किया जायेगा. उस प्रतिज्ञा की याद दिलाने वाला भी आज पागल करार कर दिया जाता है. हमारी सेना की तैयारी जैसे-तैसे पाकिस्तान के बराबरी की है. ऐसी हालात में 'चीन का क्या?' पूछा जाने पर कहा जाता है कि 'चीन से तुलना न करें.' तुलना क्यों न करें? चीन की सत्ता का उदय हाल ही में अर्थात् 1949 में हमारी आज की सत्ता से दोन वर्षों के बाद हुआ है. पहले चीन की शक्ति हमसे कम थी. केवल दस वर्षों में अपनी ताकत को अनेक गुना बढ़ाकर चीन ने हमारी संपूर्ण सेना को खत्म कर दिया और हमारी 88060 वर्ग किलोमीटर भूमि को छीन लिया. चीन का यह दावा न्याय्य था या नहीं? यदि न्याय्य है तो अधिकार जताया गया परंतु 1962 के युद्ध में हासिल न किया गया बड़ा-सा प्रदेश भारत में ही है. उसे वह हासिल

1962 के युद्ध में हासिल न किया गया बड़ा-सा प्रदेश भारत में ही है। उसे वह हासिल करने की कोशिश करेगा या नहीं? उसमें तो इतनी ताकत जरूर है और ऐसा वह नहीं करेगा, यह मान भी लें तो 1962 में हमारे 20000 सैनिकों को काट डालने की जरूरत ही क्या थी? चीन का कहना है कि 'भारत ने ही हम पर पहले आक्रमण किया था। हमने भारत की एक इंच जमीन भी नहीं ली थी।' इन सारी बातों से हमारा राष्ट्र क्या यह मत प्रदर्शित करता है कि पं. नेहरू ने सामर्थ्य न होते हुए भी चीन से छेड़खानी की और अब यदि छेड़खानी न की जाय तो भला चीन से हमें कैसी आपत्ति हो सकती है? यदि सरकार ऐसा नहीं सोच रही हो तो चीन पर प्रतिबंध लगाने की दृष्टि से हमने कोई सकारात्मक कदम नहीं उठाए, अब इसका मतलब क्या हो सकता है?

शेष क्षेत्रों की तरह ही भारत में सेना की सामर्थ्य के संदर्भ में भी परावलंबी बने रहने की नीति का अनुसरण किया जाता है। कहा जाता है कि पं. नेहरू ने भारत में विज्ञान का संवर्धन किया, परंतु भारत आज भी टैंकों के लिए आवश्यक ऊर्जक की निर्मित स्वयं नहीं कर सकता। हमारा विजयंता टैंक बेकार साबित हुआ और अर्जुन टैंक के लिए जर्मनी से ऊर्जक खरीदने पड़े। हमारा तकाजा देखते हुए जर्मनी ऊर्जकों की कीमतों में वृद्धि किये जा रही है।

हम दूसरों से शस्त्रास्त्र खरीदते हैं, शायद रूस से। रूस के हथियार अमरिका के हथियारों से निकृष्ट हैं। पाकिस्तान के अधिकांश हथियार अमरिका के हैं। अर्थात् जब हम यह दावे के साथ कहते हैं कि हथियारों के मामले में हम पाकिस्तान के बराबर हैं, तो क्या हम यह भूल जाते हैं कि हमारे हथियार पाकिस्तान के हथियारों से निकृष्ट हैं। हमारा सैनिक ए.के.47 बंदूक को नागा विद्रोहियों के पास पहली बार देखता है। अर्थात् हमारे हथियार बगावतखोरों के हथियारों जितनी भी सक्षम नहीं हैं। साथ ही खरीदे गये हथियार व उनकी देखभाल के सामान व गोला-बारूद के लिए भी दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। कारगील में भी तोफ का उपयोग करने की नौबत आयी थी तो उन तोफों के लिए गोला-बारूद न होने के कारण हमें यूरोप की ओर दौड़ लगानी पड़ी। हर युद्ध में हमारे गोला-बारूद का भंडार एक-दो सप्ताह में समाप्त हो जाता है। यह परनिर्भरता यदि रोकी न जा सकेगी, तो पीटने की हमारी जो परंपरा स्थापित हुई है वह कभी टूटेगी नहीं। (ज. दौलतसिंह, इंडियन एक्सप्रेस, 09.01.2005).

चीनी सेना के समक्ष भारतीय सेना की तबाही से भारत देश में खलभली मच गई। परंतु उसका केन्द्र बिंदु पं. नेहरू न थे वरन् 'अजापुत्रं बलिं दद्याद् देवो दुर्बल घातकः' इस न्याय के अनुसार रक्षामंत्री मेनन पर छीटें उड़ाये गये। कांग्रेस ने प्रस्ताव रखा कि मेनन को हटाकर उनके पद पर महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री यशवन्तराव चव्हाण की नियुक्ति की जाय। अब पं. नेहरू कहने लगे कि 'मेनन को हटायेंगे तो मुझे भी हटा दीजिए।' इस पर मंत्रीमंडल के एक सदस्य महावीर त्यागी बोल पड़े कि 'इस पर भी सोच लेंगे।' पं. नेहरू को ऐसे उत्तर

की आशा न थी। वे क्रोधित हुए, परंतु अब त्यागी से लड़-भिड़ने से कुछ हासिल होना नहीं है यह जानकर उन्होंने इस निर्णय को सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया। आगे चलकर जो कुछ हुआ था उसकी किंचित कल्पना प्रधान द्वारा लिखित चव्हाण की स्मृतियों को पढ़ने से आ जाती है। दिल्ली आते ही यशवन्तराव चव्हाण पं. नेहरू से मिलने गये और उनका आशीर्वाद चाहा। तब पं. नेहरू ने कहा कि 'मेरे आशीर्वाद को मानकर मत चलिए।' इसे सुनते ही यशवन्तराव चव्हाण सकपका गये। पं. नेहरू से मिलने के बाद वे मुरारजी देसाई से मिलने गये। क्योंकि उन्हीं के बदौलत वे महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री बने थे। मुरारजी देसाई की बातों से यशवन्तराव चव्हाण को लगा कि देसाई ने इस घटनाओं का अंदाजा पहले ही लगा लिया था। यशवन्तराव चव्हाण यह जान चुके थे कि पं. नेहरू सिर्फ बोलकर खामोश नहीं रहेंगे। यूँ कागज पर रक्षामंत्री यशवन्तराव चव्हाण ही थे परंतु सुरक्षा से संबंधित कोई भी महत्वपूर्ण काम उन्हें सौंपा नहीं जाता था। आगे चलकर १९६५ में पाकिस्तान से, जो युद्ध हुआ, उसके सूत्र चव्हाण के ही हाथों में थे। एक वर्ष में यशवन्तराव चव्हाण ने भारतीय सेना को सशक्त बनाया और प्रधानमंत्री लाल बहादूर शास्त्री को यह विश्वास दिलाया कि भारत पाकिस्तान को आसानी से पराजित करेगा। सब दूर उसी बात की चर्चा हो रही थी। परंतु सच्चाई यह थी कि चीनियों से पुनः परास्त होने के बावजूद भी भारतीय सेना के सशक्तिकरण के कोई प्रयास नहीं किये गये थे। समाचार पत्रों में कार्यरत लोगों में भी ऐसी गँवार सोच पनपी थी कि १९६५ के युद्ध में भारत ने पाकिस्तान को हराया। ऐसी स्थिति में सच्चाई पाठको-वाचकों के सम्मुख रखना लाजमी है।

जब यह युद्ध चल रहा था तब मैं रोज टाइम्स ऑफ इंडिया व पाकिस्तान का समाचारपत्र 'डॉन' पढ़ता था। साथ ही भारत व पाकिस्तान दोनों देशों की आकाशवाणी भी सुनता था। बीबीसी सुनने का समय सुविधाजनक नहीं था, फिर भी हमारे ही एक सहकारी अधिकारी रोज बीबीसी सुनकर आते और सारी बातें सुना जाते थे। उन सब के आधार पर १९६५ के युद्ध का चित्र कुछ यूँ आँका जा सकता है—

भारत की पैदल सेना की टुकड़ी पहले ही दिन लाहोर की सीमा पर पहुँची। इनकी सुरक्षा हेतु पीछे से टैंक या बख्तरबंद गाड़ियाँ चली जा रही थी। किंतु रास्ते में इचोगिल कनॉल के पार करते ही रास्ते के दोनों ओर बिठाए पिल बाक्ससेस में से गोलियाँ और आसमान से बम बरसाये जाने लगे थे। अब इस तकलफ से निपटकर भारतीय टैंक लाहोर की सीमा पर पहुँची पैदल सेना की टुकड़ी की रक्षा नहीं कर पायी। उनका कत्ल कर दिया गया था और अधिक खून-खराबा होने से रोकने के हेतु उनके सेनापति ब्रिगेडियर निरंजन प्रसाद वापस आ गये। उनके निर्णय को गलत साबित करते हुए सैनिक न्यायालय ने उन्हें पदच्युत कर दिया। आगे चलकर रक्षामंत्री यशवन्तराव चव्हाण ने लोकसभा को सूचित किया कि मृत सैनिकों के रिक्त स्थानों की पूर्ति नयी भरती करके कर दी गई है। इससे पता चलता है कि युद्ध में खेत आये जवानों की संख्या बहुत अधिक थी।

इसके बाद पाकिस्तान ने ही भारत पर खेमकरण की राह से चढ़ाई की. खेमकरण को काबीज किया और ब्रियास पुल पार करके दिल्ली पर आक्रमण की तैयारी करने लगा. इस स्थिति में जनरल चौधरी सकपका गये और संपूर्ण पंजाब खाली कर देने की बात करने लगे. यह बात 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित लाहौर क्षेत्र के तत्कालीन भारतीय सेनापति जनरल हरबक्ष के एक लेख में कहा गया है.

सौभाग्य से असल उत्तर में पाकिस्तान के टैंक खेतों में फँस गये और पाकिस्तानी सेना पराभूत हुई. इस पराजय से दिल्ली बच गई. किंतु खेमकरण पाकिस्तान के ही कब्जे में रहा. जल्द ही दोनों के गोला-बारूद खत्म हो गये और युद्ध थम गया. भारत ने प्रथम शस्त्रन्यास घोषित किया. परंतु भारतीय आकाशवाणी पर वार्ता में "पाकिस्तानी सेना राजस्थान में....." इतना ही कहा गया और अगले ही शब्द पर वार्ता ही बन्द कर दी गयी. आगे चलकर युद्ध समाप्ति के कुछ ही दिनों बाद राजस्थान व पंजाब में शस्त्र डाल देने की घटना के बाद पाकिस्तान द्वारा हस्तगत प्रदेश वापस पाने के लिए समाचारपत्र 'तरुण भारत' में यह शिकायत प्रकाशित हुई कि भारत द्वारा भेजी गयी सेना का पाकिस्तान में कत्ल कर दिया गया. एक अवश्य साफ है कि इस समय तक खेमकरण के व्यतिरिक्त पाकिस्तान पंजाब व राजस्थान का कुछ भाग अपने कब्जे में इचोगिल कर्नॉल के पास का कुछ प्रदेश था.

इस युद्ध में ऐसा नहीं है कि केवल भारत ने ही पाकिस्तान का कुछ प्रदेश अपने अधीन कर लिया या वरन् निर्विवाद सत्य यह है कि पाकिस्तान ने भारत का बहुत बड़ा प्रदेश हथिया लिया था. यदि यह सत्य न होता तो भारतीय प्रदेशों को पाकिस्तान की मुट्ठी से छुड़वाने के लिए प्रधानमंत्री शास्त्रीजी और रक्षामंत्री चव्हाण को ताश्कंद जाने की जरूरत ही नहीं थी.

ताश्कंद जाने से पूर्व लाल बहादूर शास्त्रीजी कह रहे थे कि हम पाकिस्तान के प्रदेशों को वापस लौटाने को तैयार हैं; परंतु हाजीपीर नहीं लौटायेंगे, क्योंकि वह कश्मीर का हिस्सा है व कश्मीर भारत का है. परंतु ताश्कंद में रूस ने शास्त्रीजी को यदि दिला दिया कि पं. नेहरू के अनुसार कश्मीर विवादित क्षेत्र है और उसका हल पाने के लिए उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ से विनति की थी. परंतु शास्त्रीजी यदि हाजीपीर वापस लौटाना नहीं चाहते तो संयुक्त राष्ट्र संघ इस संदर्भ में उचित कार्यवाही करेगी और रूस उसका समर्थन करेगा.

अब शास्त्रीजी के समक्ष भारतीयों को मुँह दिखाने का संकट आन पड़ा. इस चिंता से वे मुक्त नहीं हो पाये और दिल का दौरा पड़ने के कारण उनका देहान्त हो गया.

उपरोक्त वृत्तान्त से यह स्पष्ट है कि १९६२ के पराजय के बाद भी पं. नेहरू ने देश की सुरक्षा व्यवस्था में सुधार लाने के कोई भी प्रयत्न यशवन्तराव चव्हाण को करने नहीं दिये और कश्मीर के प्रति उनकी भूमिका के कारण सैनिकों द्वारा जान पर खेलकर हासिल किया हाजीपीर भी भारत को गँवाना पड़ा.



□□

## ॥ पं. नेहरू द्वारा बरबस ओढ़ी गई चीनी आफत ॥

“कुरुकटकासि पाहाता तो उत्तर बाळ फार गडबडला ।

स्वपरबळाबळ नेणुनि बालिश बहु बायकात बडबडला ॥”

—मोरोपंत

स्वैर अनुवाद—

“देख कुरु सेना नन्हा-सा उत्तर बहुत घबराया ।

सोच निज पर बलदुर्बलता, अंतपूर में बालिश-सा बडबडाया ॥”

‘पं. नेहरू संसार के शांति दूत हैं’ यह आरती भारत के जखमों पर नमक छिड़कने जैसी उक्ति है. स्वराज्य की स्थापना से ही भारत को युद्ध का सामना करना पड़ा. इन सारे युद्धों को टाला जा सकता था, वे केवल पं. नेहरू की नीति से उद्भूत थे. कश्मीर के संदर्भ में, कश्मीर के प्रकरण में ही चर्चा की गयी है. परसत्ताओं से बरबस ओढ़ी गई आफतें और भविष्यकाल में सदा के लिए शर्म से सिर झुकना, चीन से युद्ध करने के लिए मजबूर करना, आदि सभी नेहरू नीति का ही फलित था. यह युद्ध पं. नेहरू द्वारा ‘आ बैल, मुझे मार’ कहने की तरह था. इसके अलावा नागा, खालिस्तान आदि प्रदेशों में हजारों हिंदुओं के कत्ल व नक्षलवादियों के उत्पात के लिए पं. नेहरू ही जिम्मेदार थे तथा यह सब अभी तक थमा नहीं हैं. पं. नेहरू के बाद भी पाकिस्तान से हुए दो युद्ध और अब जो जारी है वह आतंकवाद पं. नेहरू का ही उपहार हैं. स्वराज्य प्राप्ति के बाद गोवा-मुक्ति केवल एक ही युद्ध ऐसा था जिसे भारत ने जीता था. किसी तरह का नुकसान न होते हुए यह एक लाभदायी युद्ध रहा था. बाकी सारे युद्धों में भारत पराजित ही हुआ है. ऐसा माना जाता है कि 1971 का बांगला देश अपवाद है. पर यह मानना कुछ हद तक सही नहीं है, इसे इंदिरा गांधी प्रकरण में स्पष्ट किया जायेगा.

पं. नेहरू ने चीन की झोली में तिब्बत डाल देने के कारण चीन से युद्ध हुआ. अतः स्वराज्य स्थापना के समय भारत व चीन के तिब्बत में क्या अधिकार थे, जान लेना जरूरी है. (आधार : Advance History of India, R.C. Mujumdar)

भारत सरकार के अधिकारों की वैधानिक नींव में ब्रिटिश लोकसभा के भारतीय स्वतंत्रता का कानून है. इस कानून के तहत भारत को ब्रिटिश राज्य के भारत के व्हाइसराय को अधिकार प्राप्त थे. इसमें केवल पाकिस्तान में शामिल प्रदेशों पर के अधिकार शामिल नहीं है. अर्थात् तिब्बत पर व्हाइसराय और पं. नेहरू सरकार को समान अधिकार हासिल थे. इन अधिकारों को जानने के लिए तिब्बत व ब्रिटिशों के आपसी संबंधों का इतिहास जानना होगा.

ब्रिटिशों के समय में तिब्बत पर दलाई लामा का शासन था, चीन का नहीं.

1903 में भारत की ब्रिटिश सरकार को भनक पड़ी कि तिब्बत का मुख्यमंत्री रूस से सलाह करना चाहता है, तब ब्रिटिश सरकार ने यंग हस्बण्ड के नेतृत्व में तिब्बत में सेना भेजी, जिसने सन् 1904 में ल्हासा में प्रवेश किया। ऐसी स्थिति में तिब्बत ने यकीन दिलाया कि वह रूस से संबंध नहीं रखेगा। इस समय तिब्बत की भारत के ब्रिटिश सरकार से हुई संधि के अनुसार भारत को ग्यांटसी, गार्टाक व यातुंग में उपनिवेश बसाकर/बाजारहाट या मॉल स्थापित करने तथा तिब्बत को भारत से दूरध्वनि पर संपर्क बनाये रखने और उनकी सुरक्षा हेतु सेना बनाये रखने का अधिकार प्राप्त हुआ था। ग्यांस्टी में भारत के व्यापार प्रतिनिधि की नियुक्ति हुई थी।

इसी दरम्यान चीन ने ब्रिटेन से समझौता किया और ब्रिटिशों ने वचन दिया कि वे तिब्बत पर हुए कब्जे को नहीं मानेंगे या उसके अंदरूनी मामलों में दखलअंदाजी नहीं करेंगे। अर्थात् तिब्बत चीनी सेना की दहशत में नहीं था वरन् ब्रिटिश सैनिकों से प्रभावित था और अंग्रेज चाहे जब तिब्बत पर कब्जा कर सकते थे।

रूस चाहता था कि तिब्बत में अंग्रेजों की सेना को प्रवेश न मिले। अतः उन्होंने 1907 में भारत की अंग्रेज सरकार से सुलह करके 'रूस तिब्बत पर कब्जा नहीं करेगा, साथ ही अंग्रेज सरकार भी उसे अपने अधीन नहीं करेगी' आदि बातें कबूल की थी। भारतीयों की सेना को छोड़कर किसी भी देश की सेना तिब्बत में मौजूद नहीं थी।

चीन को यह स्थिति नहीं भायी और 1910 में उसने तिब्बत पर हमला किया और तिब्बत को अपने अधीन कर लिया। तब दलाई लामा ही भारत की शरण में आये थे जैसे भविष्य में पं. नेहरू के काल में आये थे। 1911 में चीन में क्रान्ति हुई, तब तिब्बती जनता ने चीन के खिलाफ विद्रोह किया और चीनियों को तिब्बत से बाहर धकेला।

अब चीन तिब्बत पर पुनः हमला कर सकता है और तिब्बत में अस्थिरता उत्पन्न हो जायेगी, ऐसा कुछ सोच कर व्हाइसरॉय ने चीन व तिब्बत के प्रतिनिधियों को 1913 में सिमला में बुलाया और उनसे संधि की।

### तिब्बत की स्वायत्तता

1913 की सुलह के अनुसार चीन ने यह कबूल किया कि तिब्बत में अपनी सेना नहीं घुसेड़ता और तिब्बत के अंदरूनी मामलों में दखलअंदाजी/हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसके विपरित भारत की सेना तिब्बत में ही थी। 'अधिक सेना भेजने की मनाही' जैसा कोई बंधन भारतीयों पर नहीं था। अर्थात् सच बात यह थी कि तिब्बत पर भारत का अधिकार एक सत्य था और तिब्बत पर चीन का अधिकार एक झूठ था।

1949 में तिब्बत ने चीनी प्रतिनिधि से उनका बोरिया-बिस्तर बांधकर तिब्बत से कूच करने को कहा था। इसके बाद तिब्बत में चीन के अस्तित्व की पहचान के कोई चिह्न नजर नहीं आये।

इसी समय तिब्बत और ईशान्य भारत की सीमा बतलाने वाली मॅक्मोहन रेखा आँकी गई थी। डॉ. चक्रवर्ती कहते हैं कि चीन ने इसे मान्यता दी थी। (India-China Relations) परंतु चीन बार-बार इसे अमान्य करने की बात भी करता रहा। सिमला परिषद के बारे में चीन द्वारा प्रयुक्त शब्द हैं— "आंतरिक व बाहरी तिब्बत की सीमा को छोड़कर इस परिषद के निर्णयों से चीन सहमत है।" इस वाक्य से यह कदापि निश्चित नहीं हो सकता कि चीन ने मॅक्मोहन रेखा को स्वीकृति दी थी।

1950 में चीन ने भारत को खुलेआम पत्र लिखकर सूचित किया कि उसे ब्रिटिशों से की गई सुलह मान्य नहीं है। तिब्बत चीन का ही एक हिस्सा है और उसे हासिल करने के लिए चीन सेना भेज रहा है। भारत को उसने अन्तिमोक्त दिया कि वह अपनी सेना वहाँ से हटा ले। भारत ने चुपचाप अपनी सेना हटा ली। उसने तब यह नहीं कहा कि 1913 की सुलह के अनुसार, यह कदम तिब्बत की स्वायत्तता को नष्ट करने की अंतरराष्ट्रीय सुलहनामे को भंग करने जैसा है। भारत भी चीन की तरह ही 'चीन का तिब्बत' कहकर तिब्बत का वर्णन कर रहा था। तिब्बत यदि चीन का ही एक हिस्सा है तो उसे स्वायत्तता प्रदान करने वाली सुलह अवैध साबित हो जाती है। अब भारत इस सुलहनामे में तय सीमाओं को गवाह मानकर भला क्या सुझाना चाहेगा? हमेशा यह कहा जाता है कि 'चीन ने दगा किया।' परंतु चीन ने भारत को सूचना दी थी कि वह अपनी सेना तिब्बत में भेज रहा है और वह तिब्बत की स्वायत्तता को अस्वीकार करता है तथा 1913 का सुलहनामा भी उसे मंजूर नहीं है। ऐसी स्थिति में हम कैसे कह सकते हैं कि चीन ने धोखाधड़ी की?

इस समय सरदार पटेल ने पं. नेहरू को पत्र में लिख भेजा कि, "जल्द ही चीन अंग्रेज सरकार के भारत के साथ संपन्न सारे समझौते को ताक पर रख देगा। तिब्बत की सीमा निश्चित नहीं है और इस सीमा पर तिब्बती व चीनी लोगों से अपनापा रखनेवाली जनता रहती है। अब चीन से संबंध खराब होने के लिए और कौन-सा कारण चाहिए?"

पं. नेहरू ने इस खत की अवहेलना की। फिर 1954 में पं. नेहरू ने 1913 के सुलहनामे से भारत को प्राप्त सारे अधिकारों को चीन के चरणों पर अर्पित कर डाले। अतः 'सीमा पर का कोई एक प्रदेश भारत का है' यह कहने के लिए भी नींव की कोई ईंट कानूनन शेष नहीं बची।

यह सब करने में पं. नेहरू का क्या उद्देश्य था? क्या वे यह जान नहीं पा रहे थे कि ऐसा करने पर भारत की ही हानि होगी। अगर 'ना' में जवाब दिया जाय तो यह समझ जाना होगा कि पं. नेहरू निरे अपरिपक्व थे। परंतु उनका लेखा-जोखा तो कुछ यूँ था कि भारत का नुकसान होता हो तो क्या? उनकी दुनिया में लौकिक तो बढ़ेगा!

पं. नेहरू जल्द ही समझ गये थे कि चीन उनके परोपकार की अवमानना कर रहा था। और वे कुड़मुड़ा गये थे कि 'चीन को हमारी दोस्ती को तिनके के समान (low evaluation of our friendship) लगती है।' परंतु यह मानकर चलना भी सर्वथा गलत

है कि आप जिससे दोस्ती करना चाहते हैं, उसे भी यह दोस्ती मंजूर है. रोजमर्रा के अनुभव भी यही बताते हैं. राजनीति के संदर्भ में भारती ने कहा ही है— ‘अनर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहादेन न विद्विषाः दरः’ अर्थात् जो कुछ भी सहन कर लेता है ऐसे शत्रु से भला कैसा भय? ऐसा मित्र भी भला किस काम का? चीन ने भारत के बारे में यह सोच ही रखा था कि यदि पं. नेहरू का भारत मित्र बनता है तो उसके गले का अड़गोड़ा ही बनेगा और शत्रु भी बन जाता है तो तिलचट्टे की तरह आसानी से झटके में दूर फेंक दिया जा सकता है. वह अधिक तंग नहीं करेगा. यह सारी बातें बाद की घटनाओं द्वारा सच साबित हुई थी. पं. नेहरू ने इससे कोई सीख नहीं सीखी. क्योंकि चीन भारत को लूट भी लेता है तो पं. नेहरू को कोई दुख होना नहीं था. चीन लूट भी ले तो क्या चीन के इतिहास में उनका नाम तो चीन का शुभचिंतक की तरह ही जाना जायेगा और उन्हें यह आशा भी थी कि शेष दुनिया तो यही मानेगी कि वे जग शांति के लिए अपने देश भारत की बलि चढ़ानेवाला एक महापुरुष हैं. चीन द्वारा लताड़े जाने के बाद भी एक घोषित भाषण में पं. नेहरू ने कहा था कि चीन से युद्ध होने के कारण दुनिया में भारत का सर ऊँचा उठा है और चीन नतमस्तक हुआ है!! इस न्याय से असखरी पेशवा भी कह सकता था कि उसके वसई के शरणागति से पेशवाई की नाक ऊँची हो गई है और अंग्रेजों की नीचे.

### अकारण उद्भूत प्रश्न

जब चीन ने तिब्बत में उसकी सेना भेजने का निर्णय पक्का किया, तब क्या वह ऐसा सोच रहा था कि भारत किसी तरह का विरोध प्रदर्शित न करते हुए उसे पूरा सहकार्य देगा? ऐसी उम्मीद रखने की संभाव्यता नजर नहीं आती है. क्योंकि भारत के मंत्रिमंडल के सदस्यों ने कभी सोचा भी नहीं था कि पं. नेहरू ऐसा कुछ व्यवहार करेंगे. परंतु चीन जानता था कि तिब्बत पर कब्जा करने का मोल उसे चुकाना ही पड़ेगा. यह सब क्रमागत रूप से होना था. पहली ही पादान पर सारा चित्र स्पष्ट दिखलाई देनेवाला नहीं था. पहले अंगूठा, फिर हाथ और अन्त में गर्दन इस क्रम से वह सब कुछ दबोच लेना चाहता था. पं. नेहरू ने चीनियों का काम आसान कर दिया, उन्होंने उंगलियाँ ही क्यों, भारत की गर्दन ही चीन की दोहरी नीति में फँसा दी थी.

पं. नेहरू के व्यवहार की प्रशंसा करने वाले सैकड़ों भारतीय थे और हैं. पं. नेहरू ने स्वयं ही चीनी सेना के प्रतिनिधियों को भारत के प्रमुख रक्षा प्रतिष्ठानों से अवगत करा दिया था. ऐसा एम.जे. अकबर बड़े अभिमान के साथ कहते हैं. (Nehru, the Making of India) दुनिया के बारे में पं. नेहरू का अनुमान पूरी तरह से गलत था, फिर भी जिन भारतीयों के प्रति उनके मन में हीन भाव था वही उनकी पूजा करते रहे. पं. नेहरू भारत के शत्रुओं से जैसा व्यवहार कर रहे थे, वैसे ही भारतीयों का आचरण पं. नेहरू के प्रति था.

सारी दुनिया तिब्बत पर हुए चीन के व्यवहार की निंदा कर रहा था. दलाई लामा

चाह रहे थे कि ब्रिटिश कालीन भारत की स्थिति ही बनी रहे, भारतीय सेना तिब्बत में आये और वह चीन से भारत की रक्षा करे. पं. नेहरू ने लोकसभा में यह कहा था कि ‘तिब्बत में भारत के अधिकार दूसरे देश पर साम्राज्यवादी अधिकारों के समान थे.’ इस पर नाथ पै ने स्पष्ट रूप से पूछा था कि “यदि भारत के अधिकार साम्राज्यवादी कहलाये जायेंगे तो चीन ने सेना को तिब्बत के प्रदेशों में घुसेड़ कर जो-जो कृत्य किये, क्या उन्हें तिब्बती राष्ट्रवादी अधिकार कहा जायेगा?” तब दूसरे एक नेहरू भक्त ने लोकसभा में कहा कि ‘चीन द्वारा तिब्बत की स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिए तिब्बत के पास स्वतंत्रता थी ही कहाँ?’ इन नेहरू भक्तों की नजर में लाल चौक में लाखों विद्यार्थियों पर बुलडोजर चलानेवाले राजनेताओं के नियंत्रण में रहनेवाले चीन में अधिक स्वतंत्रता थी.

“क्या तिब्बती जनता ने चीन से कहा था कि दलाई लामा से हमें मुक्त करें?” कानून की बातें एक तरफ रख कर भी नेहरू आसानी से यह कह सकते थे कि ‘तिब्बत के लोग चीनी नहीं हैं, उन्हें आपका शासन नहीं चाहिए. यदि संदेह हो तो तिब्बत में जनमत लिया जा सकता है.’ कानून की भाषा में तो भारत की स्वतंत्रता का आंदोलन भी गैरकानूनी ही था. तब भारत में कानून लागू था, वह ब्रिटिशों का था. परंतु जो पं. नेहरू कह रहे थे कि ‘शेख अब्दुल्ला कश्मीरी जनता का प्रतिनिधि है और उनके द्वारा कश्मीर की भारत में विलयन की सहमति दिये बगैर मैं कश्मीर का स्वीकार नहीं करूँगा’, क्या उन्हें तिब्बत की जनता की सुरक्षा के लिए पुकारी गई दलाई लामा की चीख सुनकर, तिब्बत की जनता का स्मरण नहीं हुआ. पं. नेहरू की टेक यही थी कि जिन उच्च तत्त्वों से भारत का नुकसान हो रहा है उन्हीं उच्च तत्त्वों की घोषणा करते ही रहना है और भारत के हित में स्थापित उच्च तत्त्वों के आ धमकने पर वे दुनिया के हित की बात करते और भारत के हित को त्याग देने पर बल देते रहे. राष्ट्र हित को बलि चढ़ाने में ही पं. नेहरू खुद की अंतरराष्ट्रीय महत्ता नजर आती थी. ऐसा करने से दुम हिलाने वाले हिंदुओं के प्रति पं. नेहरू के मन छिपी तुच्छता की भावना गुदगुदायी जाती थी.

पं. नेहरू इतने अभागी थे कि पं. नेहरू की हिंदुओं के प्रति जो डाह की भावना थी वही भावना कम्युनिस्ट राष्ट्र तथा मुस्लिम समाज की उनके प्रति थी. उनका अनुनय शूर्पणखा द्वारा राम से किये गये अनुनय के समान था.

यह बार-बार सुनाया जाता है कि “पं. नेहरू ने युद्धों को बार-बार टाल कर देश की आर्थिक उन्नति करने का प्रयत्न किया है. परंतु भारत को दुर्बल जानकर चीन व पाकिस्तान ने इस बात का लाभ उठाया. सेना की शक्ति कमजोर होने के कारण चीन के समक्ष उनकी एक न चली. जो हुआ उससे पं. नेहरू की देशभक्ति को दाँव पर लगाना सही नहीं है.”

### भारत के लिए सब कुछ अनुकूल था

उपरोक्त कथन का हर शब्द झूठा है. तिब्बत के संदर्भ में कहें तो रूस के साथ



दुनिया के सारे देश चीन के खिलाफ थे. चीन ने रूस से माँग की थी कि रूस-चीन की सीमाओं का पुनर्निर्धारण हो और रूस की सरहद पर दोनों देशों में कुछ झकझक भी हुई थी. रूस तिब्बत पर चीन की सत्ता के बजाय भारत की सत्ता के पक्ष में था. तिब्बत में भारत की सत्ता ब्रिटिशों के समय से थी. उसे ही आधार मानकर स्वतंत्र भारत चीन के आक्रमण को रोक सकता था. रूस भी यह अच्छी तरह से जानता था कि जब प्रबल ब्रिटिश शासन काल में तिब्बत उन्हें दगा नहीं दे सका, तो दुर्बल भारत के प्रति संदेह कैसा? शायद रूस यह सोच रहा होगा कि चीन के शक्तिशाली बनते ही वह तिब्बत का दुर्ग के समान उपयोग करते हुए वहाँ अपनी शक्ति का पड़ाव डालेगा और अमरिका रूस को त्रस्त करेगा. चीन को कम्युनिस्ट देश होने के नाते शत्रु ही मानता था. कोरिया में चीन से उनकी लड़ाई जारी ही थी. वर्तमान चीनी सरकार का शत्रु चांग काई शेख अमरिका का मित्र था. यदि भारत दलाई लामा के साथ बना रहता तो अमरिका अपनी पूरी ताकत के साथ भारत की सहायता अवश्य करती.

लंदन के 'इकॉनॉमिक्स टाइम्स' ने इसी दरम्यान लिखा था—

“1912 से तिब्बत चीन से पूरी तरह अलग या स्वतंत्र ही था. अतः सारी दुनिया तिब्बत की स्वतंत्रता को मान्यता अवश्य देगी. यदि भारत तिब्बत की स्वतंत्रता को स्वीकृति देता है तो ब्रिटन और अमरिका भी उसकी पुष्टि करेंगे.”

चीन 1962 में जितना अधिक शक्तिशाली था उतना 1950 में नहीं था. जब यांग्स्टी पार करके अक्टूबर 7, 1950 में तिब्बत में चीन ने प्रवेश किया था, तब उसने कोरिया के युद्ध में भी कदम धर दिया था. इसी दरम्यान जनरल मॅकआर्थर चीन पर पाबंदी लगाने की योजना बना रहे थे. यदि भारत ने इस समय चीन के विरोध किया होता तो मॅकआर्थर और भारत दोनों की सेनाओं से उसे युद्ध करना पड़ता. 1950 में भारतीय सेना 1962 जितनी कमजोर नहीं थी. इसके व्यतिरिक्त चांग काई शेख भी मॅकआर्थर की सहायता से चीन की भूमि पर आक्रमण करने की सोच में था.

पल भर के लिए यह मानकर चलें कि अमरिका से सहायता लेकर भी चीन के समक्ष अपना निबाह करने की सामर्थ्य भारत के पास नहीं थी, तो तिब्बत पर चीन के अधिकार की स्वीकृति जताकर भी कुछ भी हासिल नहीं होता था. इधर चीन द्वारा तिब्बत पर कब्जा कर लेने के बाद भी तिब्बत पर चीन की सार्वभौमिकता स्वीकार कर लेने के कारण ब्रिटिशों द्वारा निश्चित तिब्बत की सीमा बहुत पहले ही जिस तरह से गैर कानूनी हो गई था वैसी न होती. इसके अलावा दलाई लामा भारत से नहीं, अमरिका की सहायता से तिब्बत का सरकार स्थापित करके चीन से युद्ध जारी ही रखता.

इस बात में कोई दम नहीं है कि सेना की दुर्बलता के कारण पं. नेहरू लाचार थे. तिब्बत का उदक चीन के हाथों पर उंडेलने का निर्णय, पं. नेहरू ने ले ही लिया था. फिर भी गिरिजाशंकर वाजपेयी और के. पी. मेनन जैसे परराष्ट्र विभाग के अनुभव संपन्न

अधिकारियों ने पं. नेहरू को सलाह दी थी कि 'ऐसा कुछ करने से पहले कम से कम तिब्बत के वर्तमान सीमाओं की मंजूरी चीन से हासिल कर लें, अन्यथा चीन से सीमा-विवाद के झमेले में फँस जायेंगे.' इस पर पं. नेहरू का जवाब था कि 'हमारी तिब्बत की सीमाओं पर निकट भविष्य में कोई भी दगाबाजी संभव नहीं है.' पं. नेहरू यह मानकर चल रहे थे कि ब्रिटिशों ने आँकी सीमा रेखा लाँधी ही नहीं जा सकती. वे इस बात को भूल गये थे कि सीमा रेखा का उल्लंघन न होने देने के लिए उन्हें भी ब्रिटिशों सा बर्ताव करना होगा.

चीन ने जल्द ही कुछ नक्शे प्रकाशित करके 1,320,90 कि.मी. के प्रदेश को चीन का घोषित कर दिया. जब भारत ने इसका विरोध किया, तब चीन का जवाब टालमटोल करने जैसा था. परंतु इस जवाब में भी भारत व चीन की सीमाओं को व्यवस्थित किये जाने की मनीषा झलक रही थी. 1959 में चीन ने तिब्बत में विशाल सेना को भेजकर भय का तांडव निर्माण करना प्रारंभ किया. तब दलाई लामा अपने कुछ अनुयायियों के सहारे भारत की शरण में आये.

### आगे बढ़ो

चीन का यह आक्रमण यकायक नहीं था. चीन ने उनकी आकाशवाणी पर कई बार साफ-साफ कहा था कि वे तिब्बत को खत्म करेंगे. इस बारे में भारत ने कहा था कि हम इस कार्य का विरोध किसी भी तरह से सेना की सहायता से तो बिलकुल ही नहीं, नहीं करेंगे. शायद इतना ही कहना शेष रह गया था कि आओ, चीनियों आओ, तिब्बत तो आपका ही है, अब वहाँ 'आपका स्वागत है' यूँ कहनेवाले हम भला होते ही कौन है? इतना कुछ होकर भी भारत में सब तरफ यही कहा जा रहा था कि चीनियों ने विश्वासघात किया.

मुझे लगता है कि इस विश्वासघात का संबंध तिब्बत पर आक्रमण से नहीं है वरन् चीनियों ने 30000 सैनिकों द्वारा भारतीय फौज पर आक्रमण करने से है. इतने बड़े पैमाने पर आक्रमण होने की संभावना पं. नेहरू या सेना अधिकारियों में से किसी ने नहीं की थी. अतः इसे विश्वासघात कहना होगा? इसका अर्थ यह हुआ कि यदि इस आक्रमण की जानकारी अर्थात् चीन की सेना, उनके हथियार, आक्रमण का दिन, समय तथा स्थान सब कुछ बताकर चीन आक्रमण करता तो उसे वे विश्वासघात नहीं कहते.

चीन द्वारा व्याप्त तिब्बत में दलाई लामा तिब्बत नहीं जाना चाहते थे. यदि पं. नेहरू दलाई लामा को भारत में ही रखकर तिब्बत में निर्वासित सरकार स्थापित करवायी होती और संयुक्त राष्ट्र में उसकी फियरिद दर्ज करा दी होती तो चीन पर अच्छी तरह से पाबंदी लग जाती. परंतु पं. नेहरू ने उन्हें तिब्बत जाने पर मजबूर किया. यह बताया कि 'चीनी आपसे अच्छा सुलूक करेंगे.' वल्लाह! क्या सोच है? पं. नेहरू यह सोच रहे थे कि उन्हें लताड़ने वाले चीनी उनकी बात मानकर दलाई लामा से अच्छा व्यवहार करेंगे. चीनियों से इतनी चपतें खा लेने के बाद भी पं. नेहरू यह समझ ही नहीं पाये थे कि उनका 'करिश्मा व जागतिक छवि' दोनों बातें उनके व कुछ अंग्रेजदाँ भारतीयों के स्वप्न की स्थिति मात्र है.

बेचारे दलाई लामा! तिब्बत वापस लौट गये. परंतु चीनियों ने पं. नेहरू के 'करिश्मे' की परवाह किये बिना दलाई लामा को तंग करना प्रारंभ कर दिया. तब उन्होंने अपनी फरियाद पं. नेहरू के पास भेजी. पं. नेहरू ने उन्हें आश्वासन दिलाया कि 'मैं स्वयं तिब्बत आता हूँ और आप और चीन में दोस्ती करवा देता हूँ.'

पं. नेहरू का तिब्बत जाने का इरादा घोषित होते ही, चीन ने घोषित कर दिया कि "तिब्बत में किसे प्रवेश दिया जाय यह तय करने का अधिकार हमारा है. पं. नेहरू को तिब्बत में आने के लिए हम अनुमति नहीं देंगे और चीन में आकर चीन के अंदरूनी मामलों में दखलअंदाजी करने का उद्देश्य घोषित करना भी चीन का अपमान है." इसे पढ़कर पं. नेहरू चीन के बजाय सिक्कीम जा आये और अपनी तसल्ली कर आये.

सिमला करार के तहत तिब्बत ने जिन सीमा रेखाओं को स्वीकृति दी थी, उन सभी स्थानों पर ब्रिटिशों ने अपनी फौज नहीं रखी थी और इस भूमि पर निश्चित रूप से सीमा-रेखा दर्शानेवाले चिन्ह भी मौजूद नहीं थे. चीनी सेना वहाँ न आने पाय, ऐसा सोचकर भारत ने सीमा पर चौकियाँ बिठाने का निर्णय लिया. नक्शे पर आँकी गई सीमा के निकट चौकियाँ लगाना उचित नहीं था. इससे फौजी आक्रमण का नजारा उपस्थित हो जाता. अतः पं. नेहरू व कृष्ण मेनन ने तय किया कि चौकियाँ कुछ दूर पर खड़ी हों और फिर धीरे-धीरे आगे सीमा की ओर बढ़ें. इसका नामकरण 'Forward Policy' 'आगे बढ़ो की योजना' नामकरण किया. इस योजना के कारण 1958 में भारत की चौकियाँ जिन स्थानों पर थीं, उससे काफी आगे की ओर 1962 में वे आ गईं. इसे चीनी दुनिया के समक्ष आक्रमण का सबूत की तरह पेश किया जा सकता था. उन्होंने भी अपनी चौकियों को आगे बढ़ाना शुरू कर दिया. अतः भारतीय सैनिक और चीनी सैनिकों में अनबन होने लगी. दो राष्ट्रों की सेना में ऐसी अनबन युद्ध की नांदी कहलाती है. इसी कारण दो बड़े राष्ट्रों की सीमाएँ एक दूसरे से सटी न रहे अतः बीच में आघात ग्राहक जैसे नन्हे देशों का होना पसंद किया जाता है. इसी वजह से रूस व चीन की सरहदें ब्रिटिशों की सीमाओं से जा न मिले, इसलिए तिब्बत को आघातग्राही की तरह रखा था. पं. नेहरू इन विचारों को 'पुराणपंथी व बीसवीं सदी में अप्रासंगिक' कहकर उनकी खिल्ली उड़ाते थे. पं. नेहरू ने जिस किसी बात को मजाक में उड़ा दिया था, वह हर बात भारत के लिए आफत बन गई थी. परंतु पं. नेहरू सही सलामत रहे.

#### जवान : बलि का बकरा

मॅक्सवेल नामक प्रसिद्ध पत्रकार से बातें करते समय सभी चीनी नेता पं. नेहरू की निंदा कर रहे थे. इन नेताओं का पं. नेहरू के प्रति आक्रोश उभरने का एक खास कारण भी था. जब भी चीनी नेता सीमा निर्धारण के लिए कुछ संविदा रखते थे तो पं. नेहरू कहते थे कि 'आपने पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किये हैं अतः पंचशील समझौते के अनुसार बात कीजिए.' यहाँ यह सूचित कर देना आवश्यक है कि पंचशील समझौते में प्रत्यक्ष रूप

से आचरण के लिए मार्गदर्शक बनने योग्य कोई बात शामिल नहीं थी. उसमें 'कोई किसी से भी न झगड़े, मिलजुलकर रहें' जैसे नानी के वचनों की भरमार है. अब सीमा प्रश्न संबंधी कोई ठोस सुझाव उससे सुलझने को नहीं था. अतः चीनियों को लगा कि पं. नेहरू उन्हें मूर्ख समझ कर सीमा प्रश्न पर चर्चा करने की बात टालने के लिए निरर्थक नैतिक प्रवचन सुना रहे हैं. नीति-नियम सीखानेवाला भला किसे पसंद आयेगा? जो अपना कछोटा सम्हाल नहीं सकता वह किसी बलवान को नीति की बात समझाये, यह दृश्य अत्याधिक चिढ़ उत्पन्न कराता है.

अब तक एशिया में सब ओर पं. नेहरू को 'नकली अंग्रेज' और 'अंग्रेजी साम्राज्य का दलाल' ही कहा जा रहा था. उस समय के चीन, जपान आदि एशिया के अधिकांश प्रदेशों में भारत की स्वतंत्रता को एक झूठ ही माना जा रहा था. भारत के पिछले पचास वर्षों के आचरण से यह समझ शब्दशः सही साबित हुई है. दिन-ब-दिन हालात चीन के अनुकूल व भारत के लिए प्रतिकूल बनते जा रहे थे. अतः यह स्थिति जितने अधिक दिनों तक बनी रहेगी, तब तक भारत का अधिकाधिक नुकसान होगा और इस दृष्टि से भारत की सीमा के प्रश्न का हल निकालना उतना ही मुश्किल होता जायेगा.

भारत में बार-बार यह प्रचार किया जा रहा था कि चीनी भारत की सीमा का उल्लंघन कर रहे हैं. परिणामतः हमारी चौकियों पर वे धावा बोल रहे हैं. इस प्रचार का एक स्वर यह भी था कि ऐसी स्थिति के बावजूद भारत संयम बरत रहा है. इन समाचारों को सुनने के बाद यह संभव ही नहीं था कि भारतीय जनता क्षुब्ध न हो और लोकसभा में उनके प्रतिनिधि इस क्षुब्धता को वाणी न दे. पं. नेहरू ने भारतीय सेना की शस्त्र शक्ति को खस्सी कर रखा था. उसमें पाकिस्तान को ही रोकने की सामर्थ्य नहीं थी, फिर चीन तो दूर की कौड़ी थी. इस विदारक सत्य से भारतीय ही जनता तो क्या, लोकसभा के सदस्य भी अपरिचित ही थे. अतः वे तकाजा करते रहे कि चीनियों को सबक सीखाना चाहिए. चीनियों के खिलाफ कदम उठाने की माँग इतनी प्रबल थी कि पं. नेहरू जान गये थे कि इस माँग को स्वीकार करते हुए भी यदि वे कोई कदम नहीं उठाते, तो प्रधानमंत्री की कुर्सी उनकी नहीं रहेगी. तमाम समाचार-पत्र सरकार से कह रहे थे कि 'तलवार को म्यान से बाहर निकालो.' बेचारे क्या जानते थे कि पं. नेहरू ने म्यान से तलवार तो कब की निकाल फेंक दी थी. फिलहाल जो तलवार उनके पास है वह मात्र दिखावे की है.

पं. नेहरू में यदि अल्प-सी भी ईमानदारी होती, तो वे जनता में विश्वास पैदा करके उन्हें समझा सकते थे कि हमारा लक्ष्य शांति हासिल करना है. अतः हमने चीन से सामना करने योग्य सेना की शक्ति में वृद्धि नहीं की, इस वृत्ति में परिवर्तन लाना जरूरी है. परंतु इस काम में विलंब लगेगा ही. तब तक हमें टीस सहनी ही पड़ेगी. किंतु पं. नेहरू में इतनी ईमानदारी थी ही नहीं. उन्होंने जनता को आश्वासन दे दिया कि 'चीनियों के खिलाफ कार्यवाही की जायेगी' और जब भारतीय चौकियों पर चीनियों का दबाव बढ़ता

ही गया, तब पं. नेहरू ने अपना कुप्रसिद्ध आदेश सेना को दिया कि 'चीनियों को उखाड़ फेंक दो.' हमारे कार्यालय में कर्नल के पद पर न होते हुए भी कई अधिकारियों ने यह समाचार सुनकर सवाल किया कि 'चीनियों से लड़ने के लिए अब कौन-सी फौज बची है?'

शायद पं. नेहरू जानते थे कि चीनियों की प्रबल सेना पर डिक्लीजन की तादाद में आक्रमण करने का अर्थ होगा, सारी सेना को कत्ल के प्रसंग का सामना करना और यदि पं. नेहरू नहीं जानते हो तो इस बात की सूचना सेना ने उन्हें दी ही होगी. परंतु पं. नेहरू की नजरों में उनकी अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के समक्ष जवानों के प्राणों का मोल बहुत ही सस्ता था.

सितंबर 1962 में आज के अरुणाचल प्रदेश के सेना प्रमुख उमराव सिंह को पं. नेहरू का शर्मनाक हुकुम प्राप्त हुआ था. पं. नेहरू ने विदेश जाते हुए हवाई अड्डे पर आते ही समाचार-पत्रों के प्रतिनिधियों को सूचित किया कि उन्होंने उपरोक्त आदेश दे दिया है. अब माहौल बन गया था. लग रहा था— *आसेतुपर्वत उचंबळला स्वदेश । वीराकृति धरित टाकुनि दीन वेष ॥* (स्वैर अनुवाद – *आसेतुपर्वत उमड़ पड़ा स्वदेश । धरा वीराकृति तज दीन भेष ॥*) पं. नेहरू हमेशा की तरह संसार की चिंता करने के लिए भारत के बाहर चले गये.

उमराव सिंग ने कह दिया था कि "चीनी सेना से मुकाबला करने योग्य सेना में बल नहीं है. इसके लिए कम से कम छह महिने की अवधि लगेगी और इन-इन शस्त्रों की आवश्यकता है."

#### पं. नेहरू के पसंदीदा सेनापति

उमराव सिंह ने जो भी कहा इसे जनता व लोकसभा नहीं जानती थी. जनता भारतीय सैनिकों की वीरगाथाएँ सुनने को उत्सुक थी.

पं. नेहरू ने उमराव सिंह को पदच्युत कर दिया और उनके पसंदीदा सेनापति बी.एम. कौल को नियुक्त किया. कौल की यह पदोन्नति ज्येष्ठ अधिकारियों को दूर करते हुए करायी थी. वे पं. नेहरू के रिश्तेदार थे. तत्कालीन सेनाधिकारियों का कथन है कि उनकी पदोन्नति के अनुमोदन हेतु पं. नेहरू ने लोकसभा के समक्ष झूठे दस्तावेज प्रस्तुत किये थे.

पं. नेहरू जानते थे कि कौल चीनियों के समक्ष डटे नहीं रह पायेंगे. कौल ने शब्दशः रणभूमि से जो दौड़ लगायी वह सीधे दिल्ली पहुँचकर ही रूके. कारण बताया अपनी बीमारी का. मानो रणभूमि के निकट सेना के अस्पताल थे ही नहीं.

पं. नेहरू इस बात का अंदाजा नहीं लगा पाये थे कि 'चीनियों को खदेड़ो' कहने पर चीनी उनके इस अपमानपरक शब्दों को सुनकर क्रोधित होंगे और उनकी सुरक्षा हेतु नहीं वरन् हमें सीख सिखाने के हेतु कुछ न कुछ सख्त कदम उठायेंगे ही. पं. नेहरू खयाली पुलाव पका रहे थे कि 'आरंभ में हम चीनियों को पीछे हटायेंगे. उनकी बड़ी सेना को हम पर टूट पड़ने में वक्त लगेगा ही. उनके आने के बाद, जो करना होगा देख लेंगे.'

पं. नेहरू उन बातों में भी स्वयं को जानकार मान लेते थे, जो क्षेत्र उन्हें सर्वथा अपरिचित हुआ करता था. ऐसे क्षेत्रों में से एक क्षेत्र था युद्ध. एक बार लोकसभा में प्रा. एन. जी. रंगा ने उन्हें सेना की समस्याओं के संदर्भ में कड़े शब्दों में सवाल किये तब पं. नेहरू ने चिढ़कर कहा कि 'I wonder how much Prof. Ranga knows about war' अर्थात् 'पता नहीं प्रा. रंगा युद्ध के बारे में कितना जानते हैं?' इस पर उन्होंने पं. नेहरू को दिल पर चोट पहुँचाता हुआ उत्तर दिया— 'As much as the Prime Minister does.' अर्थात् 'प्रधानमंत्री जी जितना जानते होंगे.' इस पर पं. नेहरू ने अपनी ही शिफारस करते हुए कहा— 'Then you know a good deal' अर्थात् 'तो आप बहुत जानते हैं!'

पं. नेहरू ने इतिहास के अनेक ग्रंथों का पठन किया था और अपने बारे में यह अभिमत दृढ़ता से बना लिया था कि युद्ध संबंधी अधिकांश समझ/विवेक उनके पास है. सच तो यह है कि इतिहास के ग्रंथों में ऐतिहासिक युद्धों में प्रयुक्त शस्त्रास्त्र, सैनिकों की संख्या, वीरता का स्तर, दोनों दलों की युद्ध-पद्धतियाँ और युद्ध के लिए उपयोग में लायी जानेवाली साधन-सामग्री-संपत्ति आदि के बारे में बहुत कम जानकारी दी जाती है. यह सब जानने के लिए खास सैनिकों के लिए लिखे गये युद्ध का इतिहास को पढ़ना आवश्यक है. पं. नेहरू ने कभी ऐसे पुस्तकों का पठन किया ही नहीं था. यह बात उनके हजार पृष्ठों में लिखित लेखन-साहित्य से जरूर स्पष्ट होती है. और इस बारे में भी मत-भिन्नता नहीं होगी कि उन्होंने रणभूमि देखी ही नहीं थी. इस पृष्ठभूमि पर जब देश के समक्ष एक विशाल आपत्ति मुँह बायें खड़ी थी तब पं. नेहरू 'चंगेज खान दुनिया का सबसे बड़ा सेनापति था' इस बात को सिद्ध करने में लोकसभा का बहुत सारा समय व्यर्थ गवाँ रहे थे. परंतु लोकसभा के किसी भी सदस्य ने 'चीन के आक्रमण के संदर्भ में कुछ कहें' कहकर उन्हें टोका नहीं था.

पं. नेहरू के चंगेज खान प्रशस्ति-पत्र से यह साफ जाहिर होता है कि चंगेज खान द्वारा जीते गये प्रदेश की विस्तृतता को आधार मानकर पं. नेहरू ने उसे महान घषित किया था. यह किसी निर्णय तक पहुँचने का बहुत ही सीधा-सादा मार्ग है. जब किसी सेनापति को श्रेष्ठ करार देते हैं तब उसके प्रतिस्पर्धी या शत्रु की सामर्थ्य की मात्रा या श्रेणी को ध्यान में रखना निहायत जरूरी है. आम तौर पर शस्त्रास्त्रों की श्रेष्ठता, सैनिकों की संख्या और अन्य साधनों की बहुतायत आदि साधन-स्थितियों की सहायता से युद्ध जीते जाते हैं. जाने-माने, जानकार सैनिक इतिहासकारों ने छत्रपति शिवाजी तथा पेशवा बाजीराव को, इस नियम का अपवाद ही माना है. इन दोनों ही योद्धाओं के पास शत्रु की तुलना में बहुत कम साधन-सामग्री थी. पेशवा बाजीराव के सेनापतित्व का अध्ययन करनेवालों में ज. मांतगामेरी का नाम भी शामिल है. पं. नेहरू इन बातों से अनभिज्ञ थे और अपने ही देश में उपलब्ध प्रतिभा के सदुपयोग से देश का उत्कर्ष होवे ऐसी उनकी सोच की दिशा भी न थी.

भारतीय समाचार-पत्र तथा मजुमदार जैसे इतिहासकार भी यही कहते हैं कि चीन

ने उनकी अक्षौहिनी सेना द्वारा ही भारत पर चढ़ाई की. परंतु इस आक्रमण से पहले ही भारत की चौथी सर्वश्रेष्ठ, चौथी अक्षौहिनी सेना के चीनी चौकियों पर किये गये हमलों की चर्चा भी नहीं करते. चीन को इसी बात का इंतजार था. मुजुमदार लिखते हैं, चीनियों ने तीस हजार सैनिकों के साथ हमला किया. कुछ वृत्तांत बताते हैं कि यह संख्या दस हजार तक ही सीमित थी.

### सात महाराष्ट्र गँवाये

पं. नेहरू ने लोकसभा में बताया कि चीनी सेना का सागर भारतीय सेना पर उमड़ पड़ा है. यह बिलकुल झूठा वक्तव्य है. मुजुमदार द्वारा बतायी गई सैनिक संख्या भी भारतीय आघाती सेना से अधिक नहीं थी. भारतीय सेना की दुर्गत का कारण चीनी सैनिकों की संख्या नहीं थी वरन् भारतीयों के पास अत्याधुनिक बंदूकों का न होना था. चीनियों के पास की ए.के.47 में एक चाँप या खटके में अनेक गोलियाँ बरसाने की क्षमता थी जबकि भारतीय सैनिकों को हर चाँप पर एक गोली दागनी होती थी. ऐसे 303 पुरानी बंदूकों से भारतीय लड़ रहे थे. उन्होंने इस नन्हे-से यंत्र-नलिका का पहला दर्शन नागा विद्रोहियों के पास किया था. आधुनिकता, विज्ञान का जाप करनेवाले पं. नेहरू की सेना में, न कोई आधुनिकता थी और न किसी तरह का विज्ञान शामिल था. इसी युद्ध में भारत के बीस हजार जवानों का कत्ल हुआ था. 'तरुण भारत' समाचार-पत्र की खबर यह थी कि लगभग पूरी सेना नष्ट हो गई थी. 'मराठी विश्वकोश' में एक हजार तीन सौ मृत और एक हजार छह सौ के लापता होने की बात दर्ज है. जिनके शव बरामद नहीं हुए या शत्रुओं के हाथ लगने की खबर नहीं मिली थी, उन्हें लापता घोषित की दिया गया था. पर शत्रुओं के हाथ लगे भी जीवित होते तो आज तक वापस आ गये होते. अतः उनका भी समावेश मृतकों में ही किया जाना चाहिए था. अर्थात् मृतकों की कुल संख्या अब दो हजार नौ सौ हुई. इसके अलावा सेना की सभी सामान-सामग्री चीनियों के हाथ आ गई थी. चीनी खिझा रहे थे कि 'आपके शस्त्र वापस चाहते हो तो हम तैयार हैं, आकर ले जाय.' इसका अर्थ यह हुआ कि 'मराठी विश्वकोश' के अनुसार दो हजार नौ सौ सैनिकों को गँवा देने पर पूरी अक्षौहिणी सेना नष्ट हो गई!

इतनी बड़ी संख्या में जवानों के कत्ल होने की वजह क्या हो सकती है? क्या हम कहीं चूक गए थे? हाँ, आम तौर पर जमीन की थल सेना की सहायता के लिए आकाश में उन पर विमानों का छत्र धरा जाता है. परंतु पं. नेहरू ने भारतीय सैनिकों को यह छत्र मिलने ही नहीं दिया. क्योंकि वे सोच रहे थे कि ऐसा किया जाने पर चीन के हवाई जहाज हमारे शहरों पर धावा बोलेंगे. पं. नेहरू की युद्ध संबंधी अनभिज्ञता का यह जीवंत उदाहरण है. आक्रमण करनेवाली सेना प्रथम स्थानीय सेना को पराभूत करती है. इस काम को छोड़कर सैंकड़ों मील दूर बसे शहरों पर हमला करके बम व पेट्रोल का अपव्यय करने का निर्णय कोई भी सेनापति नहीं लेता. शत्रु के सैंकड़ों मील दूर शहर में बसे नागरिकों तथा वहाँ के शस्त्रास्त्रों के कारखानों को ध्वस्त करने से सामने खड़ी सेना को पराभूत करने में कोई

सहायता नहीं मिलेगी. इन कारखानों से शस्त्रास्त्र सैनिकों तक पहुँचने में छह महिनो की अवधि लगती है. पं. नेहरू जिन मामलों में स्वयं कुछ नहीं समझ पाते उन क्षेत्रों के तज्ञों की राय को नामंजूर करके अपनी ही जिद पूरी करते थे.

भारतीय दिमाग भारत की सुरक्षा की अपेक्षा पं. नेहरू की सुरक्षा के प्रति अधिक आस्थावान था. अतः 'मराठी विश्वकोश' में भारत ने हवाई जहाजों का उपयोग क्यों नहीं किया? इस बारे में कोई कारण नहीं दिया गया है. वरन् यह कहा गया है कि चीन ने भी हवाई जहाज का उपयोग नहीं किया था. पं. नेहरू ने सेना को हवाई जहाजों का उपयोग नहीं करने दिया परिणामतः जवानों को आकाशीय कवच प्राप्त नहीं हो पाया. यह कवच मिल जाता तो कत्ल का परिणाम बहुत ही कम हो जाता था. यह भावना कई सेनाधिकारियों ने समाचार-पत्रों द्वारा व्यक्त की थी. 'मराठी विश्वकोश' में इस बात को छिपाने की कोशिश की है. चीन द्वारा हवाई जहाजों का उपयोग न किये जाने का कारण लष्कर के कामों में अज्ञ नेताओं का हस्तक्षेप नहीं था. इसका संभवनीय कारण यह हो सकता है कि तिब्बत के पर्वतीय प्रदेशों में युद्धभूमि के निकट कोई हवाई अड्डा न था. यह सब कुछ होते हुए भी भारत द्वारा हवाई जहाजों का उपयोग न करने का कारण चीन द्वारा हवाई जहाजों का उपयोग न किया जाना नहीं हो सकता. साधारण युद्ध नीति कहती है कि शत्रु की दिक्कतों का लाभ उठाया जाना चाहिए. परंतु विश्वकोश की जबान यह कहने को तैयार नहीं है कि पं. नेहरू की मर्जी की खातिर हजारों जवानों को प्राण गँवाने पड़े. पं. नेहरू की तथाकथित उदात्त छबि देश के हित की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण जो थी!

इससे भी क्रोधित करनेवाला वाक्य है— 'स्वातंत्र्योत्तर काल में, जितने भी युद्ध हुए हैं, उनमें चीनी युद्ध क्षुद्र ही था.'

भला जिस युद्ध में, विश्वकोश में वर्णित भारत की बयालीस हजार किलोमीटर भू भाग शत्रु के दामन में चला जाता है उसे क्षुद्र कैसे कहें?

सवाल केवल प्राणहानि का नहीं है. इस युद्ध के कारण हम भारतीयों का मनोबल इतना पस्त हो चुका था कि 'चीन हमारा शत्रु है' कहनेवाले रक्षामंत्री को खामोश कर दिया गया था. तिब्बत के संदर्भ में, चीन का आक्रामक स्वरूप होते हुए भी भारत पर आक्रामक होने की चिप्पी चिपकाई गई. साथ ही पूरी दुनिया के समक्ष उसकी बदनामी, यह कहकर की गई कि भारत बलशाली न होते हुए भी बखेड़ा खड़ा करनेवाला और सामर्थ्य से ही नहीं, नीतिमत्ता से शून्य ऐसा देश है. इस तरह से युद्ध को मामूली-सी बात कहने पर, इस देश की बौद्धिक और नैतिक, दोनों स्तरों पर दिवालिया निकल चुकने की सूचना ही मिलती है. पं. नेहरू के व्यवहार से इतनी भी जमीन बची नहीं थी कि जिस पर खड़े होकर हम कह सकें कि 'जब हम केवल आत्मरक्षा हेतु लड़ रहे थे तब चीनियों ने हम पर आक्रमण किया.' सारी दुनिया ने चीनियों के इस दावे को सत्य मान लिया कि चीनी सेना केवल आत्मरक्षार्थ लड़ रही थी. मॅक्स्वेल इस पत्रकार ने 'India's China war' (भारत द्वारा चीन पर लादा



गया युद्ध) यह पुस्तक लिखकर विस्तार से यह बात कह दी है कि किस तरह से भारत ही आक्रमणकारी था, उसमें प्रमुख बहस का बिंदु था सीमा-प्रश्न. उनके अनुसार 1913 का प्रस्ताव रद्द कर दिया जाने के कारण भारत का सीमा संबंधी आग्रह (यह विशेष सीमा भारत की है) ही गलत था और साथ ही सीमाओं के संदर्भ में पुनर्विचार करने हेतु चीन की माँग को पं. नेहरू अनेकों बार दृढ़ता से चुके थे.

अब अगर चीनियों की पुनर्विचार की माँग को हामी भर दी जाती तो कई शतकों से चीन के अधीन न रहनेवाला 1,32,090 चौरस कि.मी. भू-भाग चीनियों को सौंपना होगा. महाराष्ट्र का क्षेत्रफल 3,07,762 कि.मी. है अर्थात् महाराष्ट्र के भू-भाग से तिगुना से कुछ अधिक जमीन पर चीन अपना हक घोषित कर रहा था.

तिब्बत का क्षेत्रफल बीस लाख चौरस किलोमीटर से अधिक था. यह सारा का सारा प्रदेश चीनियों को पं. नेहरू ने सहज भाव से निगलने दिया ही था. अतः चीनी यदि यह सोचते हों कि पं. नेहरू 1,32,090 वर्ग कि.मी. के लिए आनाकानी नहीं करेंगे, तो भला इसे गलत कहकर दोष देने का अर्थ क्या होगा?

पं. नेहरू का हिसाब-किताब यँ था—

१. तिब्बत को दान में देने पर चीन हम पर खुश हो जायेंगे और उन्हें आशिया का नेता बनने की बात का अनुमोदन करेंगे.
२. तिब्बत में चीनियों की सेना भारत पर आक्रमण करने के लिए तैनात नहीं की गई थी वरन् तिब्बत की सुरक्षा के लिए रखी गई थी. हम तिब्बत पर धावा नहीं बोलेंगे तो इस चीनी सेना का उपयोग हम पर आक्रमण करने के लिए नहीं किया जायेगा.
३. चीनी चौकियों पर किये गये हमलों को चीन, चीन की सेना पर किया गया आक्रमण नहीं कहेगा.
४. यदि ऐसा समझ भी लें, तो, वे एक साथ तीस हजार सैनिकों के साथ झपट नहीं पड़ेंगे.

नेहरू भक्त इन सब बातों को भुलाकर युद्ध-शास्त्र, अंतरराष्ट्रीय राजनीति और मानवीय मनोवृत्ति आदि के बारे में पं. नेहरू क्या जानते थे? क्या इस बारे में कुछ कहने का साहस कोई कर सकता है?

पं. नेहरू ने सेना के गुप्तचर विभाग में इतनी लापरवाही फैला रखी थी कि जब चीनियों पर आक्रमण करने की बात निश्चित हुई थी, तब जनरल सेन ने सीमा पर तैनात चीनी लष्कर की संख्या 600 बताया थी. उसी समय वह वास्तव में 10,000 थी, यह बात भी सामने आयी है (तरुण भारत, 13.06.1999).

1962 में अरुणाचल की टण्ड का सामना करने के लिए भारतीय सेना के पास कंबल तक नहीं थे. कुछ महिनोँ पूर्व ही रक्षामंत्री कृष्ण मेनन कह रहे थे कि सैनिक कारखानों

में कुछ भी काम नहीं है क्योंकि सेना का साहित्य काफी तादाद में भंडार में जमा है. इसलिए सेना के कारखानों में गैरसैनिकी माल का उत्पादन किया जाय. ऐसे गैरसैनिकी माल में काफी तैयार करने का पात्र भी शामिल था. इसे अंगरेजी नाम दिया गया— Indian Coffee Percolating Machine. इस समय मुरारजी देसाई वित्तमंत्री थे. उनसे पूछा गया कि 'ऐसे कामों के लिए आपने स्वीकृति भला दी ही कैसे?' तो उन्होंने कहा कि 'आय.सी.पी.एम. को मैं आय.सी.बी.एम. जैसा मिसाइल या शस्त्र समझ बैठा था!'

### क्षात्रधर्म की होली

आज जिस भारतीय सेना को मजाक का विषय बना दिया गया है, वह सत्रह वर्ष पूर्व दुनिया के किसी भी सेना का सामना करने में समर्थ था. सेना का यह अधःपतन भारत के प्रधानमंत्री के व्यतिरिक्त और कौन कर सकता है? इसी के तो हाथों भारतीय जनता ने कर्तु कर्तुमन्यथा कर्तु के तुल्य शक्ति सौंपी थी.

1962 में भारतीय सेना उनकी एक अक्षौहिणी (डिवीजन) सेना सुरक्षित रखकर पीछे हट भी नहीं पायी. सेना के नाम पर तो कुछ भी शेष न रहा, उसकी प्रहार सामर्थ्य ही खत्म कर दी गई थी. पं. नेहरू ने सेना की सामर्थ्य को कमजोर बनाने का कार्य केवल प्रहार संबंधी ही नहीं था, उसके क्षात्रधर्म में भी क्षीणता उत्पन्न कर दी थी. सारी साधन-संपत्ति अनुकूल होते हुए भी, देश के सैनिकों की कुशलता का खस्सीकरण करनेवाला प्रधानमंत्री और कम से कम युद्ध-सामग्री होकर भी, दुनिया के सबसे बड़ी सेना का दो वर्ष तक पूरी ताकत के साथ सामना करनेवाला तात्या टोपे, इनकी तुलना करके भला क्या हासिल करना था? यहाँ, तात्या टोपे को हीन ठहराने में शायद कहीं वक्ता को ज्ञान व विवेक का स्तर ही पता चल सकता है. ऐसे वक्ता को भारत के रक्षामंत्री के बंगले पर तात्या टोपे पर कुछ कहने के लिए आमंत्रित करने की बात, उस राष्ट्र-पुरुष के लिए अपमानास्पद तो है ही. इसे तत्कालीन आयोजकों का दैवदुर्विलास भी कहा जा सकता है!"

पं. नेहरू के काल में सेना में क्षात्रधर्म को प्रज्वलित किये जाने के लिए क्या कदम उठाये थे? कान्हेट में या सदृश्य शिक्षा प्राप्त व्यक्ति को सेनाधिकारी की नौकरी मिलना आसान होता था. इस शिक्षा का उद्देश्य ही यह था कि 'हम भारतीय हैं', कहने में बच्चों को लज्जा महसूस होवे. सेना में प्रवेश पाने पर भी वहाँ के अधिकारियों के आवास-गृहों में, भोजन-कक्ष में, जो समाज-जीवन अपनाया गया था वहाँ भारतीय जीवन-पद्धति को शर्मसार माना गया था. भोजन से लेकर संगीत तक में अंग्रेजों का मर्कटानुकरण ही था. सेना में 'कालू' शब्द का प्रयोग अपशब्द के तौर पर किया जाता था. इस अपशब्द का इस्तेमाल करते समय कहनेवाला व्यक्ति यह भूल जाता था कि वह भी तो काला ही है क्योंकि अंग्रेज उन्हें ऐसा ही कहते थे. ऐसी मनोवृत्ति को पनपाने वाली सेना में भला तात्या टोपे कैसे उत्पन्न हो सकेगा?

सेना में यह जीवन अंग्रेजों के समय से चला आ रहा था, फिर प्रश्न पूछा जाना



स्वाभाविक है कि अंग्रेजों की सेना की ऐसी फ़जीहत क्यों नहीं हुई?

ऐसा पूछते समय यह भूल जाते हैं कि अंग्रेजों की तरह बर्ताव करना और भारतीयों ने उनका मर्कटानुकरण करना दोनों बातें एक जैसी नहीं हैं। अंग्रेजों के समय भारतीय सेना का नेतृत्व अंग्रेज अधिकारी कर रहे थे। भारतीय अधिकारियों को प्राप्त पद बहुत ही निम्नतर हुआ करते थे। स्वराज्य प्राप्ति के बाद सैनिक-शिक्षा में आमूलाग्र परिवर्तन लाना बहुत ही आवश्यक था। पं. नेहरू ने ऐसा कुछ भी नहीं किया। उन्होंने केवल सेना में ही नहीं, सारे देश में राष्ट्रीयता की भावना का खस्सीकरण कर दिया।

तेजपूर के लोगों को, चीनी आक्रमण का सामना करने के लिए कटिबद्ध करने के बजाय पं. नेहरू ने, उन्हें जो 'विदाई' दी थी, उससे यह स्पष्ट होता है कि पं. नेहरू ने यह तय कर लिया था कि केवल अरूणाचल प्रदेश ही नहीं, एक के बाद एक सारा भारत ही चीनियों को सौंप दिया जाय।

### पं. नेहरू निर्मित संकट

जब चीन से लड़ाई जारी थी तब पाकिस्तान की सरहद पर भारत का एक भी पहरेदार नहीं था। यदि अमरिका द्वारा पाकिस्तान पर रोक नहीं लगाई गई होती, तो, चीन के पेट में भारत जाने से पहले पाकिस्तान ही उसे निगल लेता।

भारत की चाहे कितनी भी हानि ही क्यों न हो, पं. नेहरू को अपनी करनी पर कभी भी पछतावा नहीं होता था। चीनियों के आ धमकने पर भारत को एक-एक तिपाही की जरूरत थी। इसी समय कांगो में संयुक्त राष्ट्र के काम को पूरा करने हेतु अन्य किसी भी देश द्वारा सैनिक सहायता नहीं भेजी गई थी, उतनी सेना पं. नेहरू ने भेज दी। और पं. नेहरू बड़ी निर्लज्जता के साथ अपने इस कृत्य का समर्थन करते हुए कहा कि 'घर में चाहे कितनी ही तकलीफ़ें क्यों न हो, दुनिया की तकलीफ़ अधिक महत्वपूर्ण होती है।

इस लोकसभा में किसी ने आक्षेप नहीं उठाया।

कुछ लोग आलोचना करते हैं कि चीन के मामले में पूरी फ़जीहत होने पर भी पं. नेहरू ने त्यागपत्र नहीं दिया। परंतु यह आलोचना भी सही नहीं है। क्योंकि पं. नेहरू को हटाने का काम लोकसभा के सदस्यों का है। यदि उन्होंने पं. नेहरू को हटाने की बात उठाई ही नहीं हो, तो पं. नेहरू भला त्यागपत्र क्यों पेश करें?

पं. नेहरू ने जो अक्षौहिनी सेना भेजी थी, वह शस्त्रास्त्रों से पूरी तरह लैस नहीं थी। अतः चीन आसानी से उसे पराजित कर सकती थी। उसे पूरी तरह से नेस्तनाबूद करने की जरूरत ही नहीं थी। ऐसी स्थिति में चीन से पूछा गया कि 'चीन ने इतना विशाल विध्वंसक प्रहार क्यों किया? तो चीनी नेताओं जो कुछ कहा था, वह भांडारनायके द्वारा दिल्ली में दिये गये प्रतिवृत्त में शामिल है। वह इस प्रकार है—

“भारत ने उनकी सर्वोत्कृष्ट सेना अवश्य भेजी थी, फिर भी हमें उससे अधिक दगाबाजी का भय नहीं था। क्योंकि एक घूँसा खाकर भी वह सेना भाग जाती। परंतु हमें

भारत की मगरूरी पर क्रोध आ रहा था। भारत का व्यवहार यह जताने का था कि वे दुनिया के नेता हैं और सभी का अधिक्षेप करता हुआ अपने बड़प्पन का दिखावा कर रहा था, अब हमें यह हमेशा के लिए साबित कर दिखाना था कि यह दम कितना पोला है”

पं. नेहरू का स्वयं को दुनिया का नेता मानकर व्यवहार करना, अन्य देश के नेताओं को अत्यंत अपमानजनक जान पड़ रहा था। चौ-एन-लाय ने एक बार स्पष्ट ही कहा था कि 'नेहरू जैसा उद्धत व्यक्ति मैंने कभी देखा ही नहीं था।'

इस पराभव के बाद, अन्य देश ऐसे नेता को जिस तरह की सजा सुनाते हैं, वैसे सजा भारत ने नहीं दी, फिर भी चीन ने पं. नेहरू के बड़प्पन के गुब्बारे को फोड़कर भारत पर एक तरह से उपकार ही किया है। क्योंकि इस घटना के बाद किसी भी नेहरू भक्त में यह कहने का साहस नहीं रहा कि 'पं. नेहरू दुनिया के नेता हैं।' यूँ तो वे नेहरू के प्रशंसा-स्तोत्रों को गाने से चुके नहीं थे पर उनकी बातों से विश्वास का दमखम जा चुका था, अब बची थी मात्र सीनाजोरी! यदि इस तरह से भ्रम न टूटता, तो नेहरूवाद की जड़ें भारत में कितनी गहराई तक जा पहुँचती, इसका अंदाजा लगाना भी मुश्किल है।

पं. नेहरू के स्थान पर दूसरा कोई भी प्रधानमंत्री होता तो चीनी आपत्ति आती ही नहीं। क्योंकि उस समय के किसी भी नेता की मानसिकता ऐसी न थी कि वह ब्रिटिशों से उत्तराधिकार में प्राप्त सत्ता को खुद ही चलकर चीनियों के कदमों में अर्पित कर देता।

□ □

## ॥ कश्मीर का रिसता फोड़ा ॥

1947 में ब्रिटिशों के चले जाने पर रियासत का प्रश्न मुँह बाये खड़ा था. छोटे-बड़े रियासतों की कुल संख्या तीन सौ से अधिक थी. वे ब्रिटिशों के जाते ही कानूनन सार्वभौम हो गई थी. ब्रिटिश राजनेताओं ने इच्छा प्रदर्शित की थी कि वे स्वतंत्र न रहकर भारत या पाकिस्तान में से किसी एक देश में मिल जायँ. तदनुसार ब्रिटिशों के प्रतिनिधि माऊंटबेटन रियासतदारों पर दबाव डाले जा रहे थे. विभाजन का आधार हिंदू-मुसलमान तत्त्वानुसार था. अतः माऊंटबेटन महाराजा को बता रहे थे कि वे पाकिस्तान में शामिल हो जायँ. परंतु महाराजा का मन पाकिस्तान जाने को मान नहीं रहा था. भारत में शामिल होने का निर्णय महाराजा ले भी चुके होते परंतु पं. नेहरू महाराजा के लिए सदैव अपशब्दों का ही प्रयोग करते थे. क्योंकि शेख अब्दुल्ला को महाराजा ने कैदी बना लिया था. भला किस रियासत में विद्रोह करनेवाले को बंदी नहीं बनाया जाता? परंतु महाराजा का हिंदू होना ही सबसे बड़ा गुनाह था. अतः स्वयं महाराजा ही भारत में शामिल होने का निर्णय पक्का नहीं कर पा रहे थे.

ऐसी स्थिति में महात्मा गांधी कश्मीर जाते हैं और महाराजा से भेंट-वार्ता करते हैं. समाचार-पत्रों में छपकर आया कि महात्मा गांधी ने महाराजा से भारत में शामिल होने के बारे में पूछा था! इसके बाद पाकिस्तान ने कश्मीर में 'कबीलेवालों' को भेजना प्रारंभ किया. तब महाराजा ने यह कहकर पाकिस्तान को सूचित किया कि 'यदि आप इस तरह से तकलीफ देना बंद नहीं करेंगे तो हम पड़ोसी राष्ट्र से मदद माँगेंगे.' परंतु पाकिस्तान अपनी हरकतों से बाज नहीं आये और कबीलों के आने से आक्रमण का स्वरूप धारण कर लिया. कबीलेवाले बारामुल्ला तक आ धमके. बारामुल्ला पर कब्जा करके उन्होंने लूट-खसोट करना प्रारंभ कर दिया. तब महाराजा ने मेहेरचंद महाजन को मदद की माँग प्रस्तुत करने के लिए दिल्ली भेजा.

मेहेरचंद महाजन दिल्ली आये, पं. नेहरू से मिले और उन्होंने कहा कि लूटेरे रियासत में घुस रहे हैं. उन्होंने बारामुल्ला पर कब्जा कर लिया है और उनके खून-खराबा, बलात्कार, लूटमार ने कश्मीर को त्रस्त कर दिया है. उसे तत्काल रोकने के लिए भारतीय सेना भेजी जाय अन्यथा कश्मीर का सर्वनाश हो जायेगा. एक आध दिन में लूटेरे श्रीनगर भी हासिल कर लेंगे और फिर कश्मीर को बचा पाना असंभव हो जायेगा.

इस पर पं. नेहरू ने कहा, "कोई जल्दबाजी नहीं है, श्रीनगर चला जायेगा तो उसे फिर हासिल कर लेंगे." मेहेरचंद महाजन ने कहा कि "आपके लिए जल्दबाजी न हो किंतु कश्मीर के तो जान के लाले पड़े हैं. कश्मीर को बचाना ही होगा. आप सेना नहीं भेजते

तो फिलहाल जिना जी दिल्ली में ही हैं. मैं उनके पास जाकर कश्मीर को पाकिस्तान में शामिल करवा देता हूँ. महाराजा ने मुझे ऐसे अधिकार दिये हैं."

इस अन्तिमेल्यम के साथ मेहेरचंद महाजन चले आये. समाचार-पत्रों ने यह भी लिखा कि पं. नेहरू ने उन्हें 'Get Out' कहा था.

मेहेरचंद महाजन के बाहर आते ही पास के कमरे में शेख अब्दुल्ला बैठे थे. वे डरते हुए भीतर गये और पं. नेहरू से कहने लगे, "महाराजा को तुरंत वापस बुला लीजिए. यह आप क्या कर रहे हैं! कश्मीर को जिना के अधीन करने का अर्थ होगा हमारी कश्मीर में चल रही सारी उठापटक का महजरनामा करवाना." कश्मीर के पाकिस्तान में शामिल होने पर शेख अब्दुल्ला को भागना ही पड़ता. यदि नहीं भागेगा तो फाँसी पर चढ़ जाता. यह स्थिति संदेह से परे थी.

महाजन को वापस बुलवाकर पं. नेहरू ने कहा, 'कश्मीर में सेना को भेजने का निर्णय लेना इतना आसान नहीं है. सरदार पटेल से बात करता हूँ.' और सरदार पटेल को बुलाया, उन्होंने राय दी कि 'तुरंत सेना भेज दीजिए' तब पं. नेहरू ने कहा कि 'महात्मा गांधीजी से पूछ लेते हैं.' गांधीजी से पूछा गया. गांधीजी ने पटेल के अभिमत का अनुमोदन किया.

इसी समय पं. नेहरू ने अपने एक भाषण में कहा कि "कश्मीर में जनमत पाना जरूरी है. महाराजा के अधिकार को अंतिम नहीं माना जाय और जनमत द्वारा मान्यता मिले बिना भारत का कश्मीर पर अधिकार वैध साबित नहीं होता." (Oxford Mail) पाकिस्तान और अन्य किसी भी देश का यह विचार नहीं था. यह केवल पं. नेहरू की ही सोच थी.

संयुक्त राष्ट्र में कलम 35 के अनुसार 'झगड़ों का शांतिपूर्ण निपटारा' शीर्षक से भारत की फरियाद दर्ज की गई थी, न कि कलम 7 के अनुसार 'आक्रमणकृत्य' के शीर्षक से. भारत के प्रतिनिधि ने कश्मीर में शांति प्रस्थापित होते ही जनमत लेने का वचन संयुक्त राष्ट्र संघ को दे दिया था. इस तरह से तो शत्रु के हिमायती बनकर पं. नेहरू स्वयं शत्रु की चाहत के अनुरूप, परंतु खुले आम मांग न करते हुए अनिष्ट स्थितियों का निर्माण कर रहे थे.

भारतीय सेना ने श्रीनगर और बारामुल्ला पर कब्जा कर लिया. शेष कश्मीर को हासिल करने से पहले ही कश्मीर में बर्फ गिरने लगी. भारतीय सेना के रास्तों पर रूकावटें पैदा होने लगीं. परंतु पाकिस्तान के रास्ते साफ थे. परिणामतः पाकिस्तान शेष कश्मीर पर अड्डा जमाने लगा. उधर भारत को बर्फ पिघलने का इंतजार करते हुए हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना पड़ा.

फिर भी प्रश्न केवल दो-तीन महिनो का ही था. पाकिस्तान को कश्मीर से खदेड़ना सहज संभव था. फिर भी पं. नेहरू इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गये. आगे चलकर लोकसभा में पं. नेहरू ने यह कबूल किया कि उन्होंने यह सब माऊंटबेटन दम्पति

से प्रभावित होकर किया। ऐसे में उन्होंने गांधीजी की भी अवज्ञा की।

गोपाल स्वामी अयंगर ने भारत की स्थिति बयान की, “कश्मीर भारत में शामिल हो चुका है। पाकिस्तान ने उस पर आक्रमण किया है। भारत की सीधी-सी फियार्द है कि संयुक्त राष्ट्र इसे रोके।”

इस पर पाकिस्तान के जाफरउल्ला ने बड़ा लम्बा चौड़ा भाषण दिया। कहा कि, “पाकिस्तान ने आक्रमण नहीं किया। यह सच है कि कश्मीर में लड़नेवाले पाकिस्तान के ही निवासी हैं। परंतु भारत से अपने धर्मबंधु कश्मीरी मुसलमानों का बचाव करने के लिए वे स्वतः प्रेरित होकर ही कश्मीर जा रहे हैं। पाकिस्तान उन्हें शस्त्र या अन्य किसी तरह की सहायता नहीं कर रहा है। इतना ही है कि पाकिस्तान उन्हें रोकना नहीं चाहता। रोके भी तो क्यों कर?” ऐसा कहते समय जाफरमुल्ला ने भारत के मुसलमानों पर हो रहे अत्याचारों का, हर शब्द-वाक्य में पं. नेहरू के भाषणों का आधार लेकर, भयावह चित्र प्रस्तुत किया। ऐसे देश के पंजे में मुसलमान आ जाय ऐसा भला कौन सोच सकता है?

पाकिस्तान ने आक्रमण किया, कहकर भारत शोक प्रदर्शित कर रहा था। परंतु भारत ने जुनागढ़ में क्या किया या पाकिस्तान में जुनागढ़ के शामिल होने बाबत भारत ने कोई परवाह की थी? भारत कश्मीर के मुसलमानों को भारत में शामिल होने की इच्छा व्यक्त कर रहा है। जुनागढ़ के हिंदू तो पाकिस्तान में समा गये हैं, फिर वह शोरगुल क्यों मचा रहा है?

पं. नेहरू के ही भाषण से कुछ वाक्य उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करने के कारण गोपाल स्वामी अयंगर कोई जवाब नहीं दे सके। संयुक्त राष्ट्र ने यह जरूरी नहीं समझा कि कश्मीर में फौज भेजकर पाकिस्तानी छापामारों को टरका दिया जाय। उन्होंने भारत के कहे अनुसार कश्मीर में जनमत लेने का प्रस्ताव पारित कर दिया।

तभी से दुनिया कश्मीर के संदर्भ में भारत को ही दोषी मानती रही है। दूसरा कोई क्या कर सकता है? जनमत की माँग भारत की ही थी!

एक और बात पाकिस्तान ने सामने नहीं रखी किंतु संयुक्त राष्ट्र की नजरों से यह बात निश्चित रूप से छिप नहीं सकती थी। यह बात बड़ी विचित्र-सी है कि जिनके पास हवाई जहाज, तोपें एवं टैंक नहीं हैं, ऐसे केवल छापामारों का बंदोबस्त करने के लिए भारत संयुक्त राष्ट्र की ओर दौड़ लगाता है। यदि भारत संयुक्त राष्ट्र द्वारा अपेक्षित जनमत कश्मीर में चाहता है, तो उसे केवल इतनी ही बिनति करनी होगी कि संयुक्त राष्ट्र अपना निरीक्षक भेजे। इसके लिए पाकिस्तान के खिलाफ शिकायत दर्ज कराने की क्या जरूरत थी?

इन सारी बातों से एक बात स्पष्ट है कि ‘कश्मीर स्वयं ही भारत की झोली में आ गिरा था, फिर भी पं. नेहरू कश्मीर में जनमत ले रहे थे। यदि कोई दूसरा कोई नेता होता तो वह न्याय से शर्म करता और बात का बतंगड़ न बनाता। परंतु संयुक्त राष्ट्र संघ में शिकायत करने में पं. नेहरू का मकसद यही था कि वे राई का पहाड़ बनावे।

वापस आकर गोपाल स्वामी ने सरदार पटेल से कहा कि वे कुछ नहीं कर पाये अतः इस्तीफा दे देंगे। इस पर गृहमंत्री सरदार पटेल ने कहा, “उसमें भला आपका क्या दोष? आप क्यों इस्तीफा देंगे? मेरी बदनसीबी यह है कि जिस व्यक्ति को वास्तव में इस्तीफा देना चाहिए, उससे इस्तीफे की माँग करने का अधिकार मुझे नहीं है।”

अंत में संयुक्त राष्ट्र संघ ने कश्मीर में जनमत लेने को कहा। यह भारत की ही माँग थी। भारत की माँग तो यह भी थी कि वह लूटेरे भेजने के संदर्भ में पाकिस्तान की निंदा करे और लूटेरों को खदेड़ने में भारत को वह मदद करे। परंतु इस बारे में संयुक्त राष्ट्र खामोश ही था। कुछ कहने की जरूरत ही नहीं थी। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित ‘युद्ध-विराम करें’ के प्रस्ताव को पाकिस्तान ने मान लिया था और कश्मीर में लड़ाई रूक गयी थी।

यदि लूटेरे पाकिस्तान ने भेजे ही नहीं होते, तो संयुक्त राष्ट्र संघ उन्हें लड़ाई रोकने को क्यों कहता? संयुक्त राष्ट्र संघ ने पाकिस्तान की दलील मान ली थी कि यदि पाकिस्तान ने लूटेरों को नहीं भेजा होता, तब भी कश्मीर में जनमत के बल पर निर्णय होने का आश्वासन संयुक्त राष्ट्र से मिलते ही, वे स्वयं ही थम जायेंगे।

जो यह मानकर चलते हैं कि ‘पं. नेहरू ने गलतियाँ की, उनके भाषण से भारत के खिलाफ प्रस्ताव पारित होने का दुःख तो हुआ ही होगा.’ वे पं. नेहरू को पहचान ही नहीं पाये यदि पं. नेहरू यह मानकर चलते हो कि ऐसे भाषणों से भारत का माथा गर्व से ऊँचा होगा, तो कहना होगा कि उनकी बुद्धिमत्ता आम मनुष्य से भी कितनी निचले दर्जे की रही होगी। सच बात यह है कि पं. नेहरू को भारत की बदनामी का दुःख नहीं था। उनका दिमाग तो भरा हुआ था इन बातों से— भारत की बदनामी होती हो तो होवे, पर पं. नेहरू विश्वदर्शी हैं। वे केवल भारत के नेता न होकर, विश्व के नेता हैं। उनके भाषण उनकी इस छबि को अधिक प्रकाशमान करेंगे।

यह भी शीघ्र ही साबित हो गया। पं. नेहरू ने ही 370 कलम पारित किया ही इसलिए था कि कश्मीर भारत में कभी भी एकरूप न होवे। इस कानून के तहत भारत के नागरिकों को कश्मीर में बस्ती बसाने और वहाँ संपत्ति खरीदने का अधिकार नहीं था। कश्मीर के नागरिक भारत में स्वतंत्रता से घूम फिर सकते हैं, बस सकते हैं, संपत्ति खरीद सकते हैं। भारत के कानून को कश्मीर की विधानसभा द्वारा पारित हुए बिना कश्मीर में लागू नहीं हो सकते थे।

ऐसे कानून को जारी करने के पीछे भला पं. नेहरू का उद्देश्य क्या रहा होगा? कोई मुस्लिम प्रदेश मुस्लिम ही रहे, हिंदुओं के आने पर उनकी संख्या में कमी न आये, ऐसा कुछ मुसलमान सोचेंगे और इस रूप में यह कलम मुसलमानों का प्रिय होगा। अब इस डर से, आज के सारे ‘सेक्युलर’ पक्ष इस कलम को बरखास्त कराने के खिलाफ हैं।

यदि पं. नेहरू को अपने निर्णय से इतना लगाव था तो उन्होंने संयुक्त राष्ट्र के

कानून के अनुसार कश्मीर में युद्ध-विराम के बाद पूरी शान्ति छायी होने के बाद भी जनमत क्यों नहीं लिया? पं. नेहरू की तत्त्वनिष्ठा पर अब कौन-सी आँच आ रही थी?

इस सवाल का जवाब भी आसानी से मिल जाता है, जब हम उपरोक्त इतिहास से यह पता चल जाता है कि पं. नेहरू कश्मीर में सेना भेजने के लिए किस तरह से तैयार हुए थे. पं. नेहरू कश्मीर में सेना भेजने को राजी होने के पीछे कारण था, शेख अब्दुल्ला के हितों की रक्षा करना. पं. नेहरू के दो उद्देश्य परस्पर विरोधी थे. एक ओर, वे जनमत माँग कर दुनिया को खुश करना चाह रहे थे, तो दूसरी ओर, जनमत न लेकर शेख अब्दुल्ला को खुश रखना चाहते थे. इस बात में कोई संदेह नहीं था कि जनमत लिया जाने पर कश्मीर पाकिस्तान में चला जाता. संयुक्त राष्ट्र और खासकर ब्रिटन यह नहीं चाहता था कि जनमत में स्वतंत्र कश्मीर का पर्याय रखा जाय. जब पूर्व सीमा प्रान्तों के मतों का आकलन किया गया, तब स्वतंत्र पख्तूनिस्तान का पर्याय मतदारों के लिए खुला रखा जाय, इस प्रस्ताव को अंग्रेजों ने स्वीकृति नहीं दी थी. क्योंकि उनकी नीति थी कि भारत के विभाजन दो से अधिक टुकड़ों में न हो. ऐसी स्थिति में कश्मीर में जनमत लेने का अर्थ था, शेख अब्दुल्ला को कश्मीर के तख्त देने बजाय फ्राँसी के फंदे में लटकाया जाय.

अब केवल शेख अब्दुल्ला को खुश करने के लिए पं. नेहरू कश्मीर में जनमत लेने की उनकी ही सूचना को रद्द कर सकते हैं. शेख अब्दुल्ला का महत्त्व भला इन सबसे बड़ा कैसे हो गया था?

एक कल्पना पं. नेहरू को बड़ी तसल्ली दिलाती रहती थी कि एक बात तयशुदा थी कि कश्मीर के मुसलमानों का नेता उनका अनुयायी है. इसका मतलब यह है कि कश्मीर के मुसलमान भी उनके ही अनुयायी हैं. वे अपने अनुभव से जान चुके थे कि भारत के मुसलमान उन्हें अधिक महत्त्व नहीं देते. पं. नेहरू ने अपने गले में एक तख्ती लटका दी थी जिस पर लिखा था— 'मुस्लिम अनुयायी चाहिए.'

जिन अर्थों में पं. नेहरू शेख अब्दुल्ला को अपना अनुयायी मान रहे थे, उस अर्थ में शेख अब्दुल्ला पं. नेहरू के अनुयायी नहीं थे. क्योंकि आगे चलकर उन्होंने ही पं. नेहरू को ऐसी फटकार सुनायी थी कि पं. नेहरू उनकी गिरफ्तारी करने के लिए मजबूर हो गये.

कश्मीर में शान्तिपूर्ण वातावरण नजर आते ही, पं. नेहरू के गृहमंत्री गोविंद वल्लभ पंत ने अपने भाषण में घोषणा की कि कश्मीर में जनमत नहीं लिया जायेगा. इसका कारण यह बताया गया कि पाकिस्तान कश्मीर से अपनी सेना को पूरी तरह से हटा ले इस प्रतिबंध का पालन नहीं किया था. इस शर्त के साथ यह भी लिखा गया था कि पाकिस्तान इस बात की गारंटी दे कि जनमत में उनके द्वारा भेजे गए लुटेरे हस्तक्षेप न करें. समाचार पत्रों में यही लिखा गया ता कि "ऐसी स्थिति निर्माण करने में पाकिस्तान सहकार्य नहीं कर रहा, अतः कश्मीर में जनमत नहीं लिया जाएगा.

बेशक पाकिस्तान खामोश नहीं रहा. उसने संयुक्त राष्ट्र संघ के पास तकाजा लगाया और एक प्रस्ताव पारित करवा लिया, जिसमें कहा गया था कि भारत के सारे मुद्दों को नकार कर कश्मीर में संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी सेना भेजकर जनमत हासिल करें. इस अवसर पर कृष्ण मेनन ने दो दिन लगातार, बिना रूके भाषण दिया था. भारत में इस भाषण की बड़ी प्रशंसा हुई, किंतु संयुक्त राष्ट्र संघ में किसी ने भी यह स्वीकार नहीं किया कि लम्बे भाषण का अर्थ योग्य बात प्रस्तुत करना होता है. मेनन को उनका भाषण रोकने के लिए कहना पड़ा. सभी राष्ट्रों द्वारा प्रस्ताव स्वीकार होने के आसार नजर आते ही रूस ने अपने नकाराधिकार का प्रयोग करते हुए प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया.

कुछ लोगों को पं. नेहरू के इरादों को 'देशविघातक' कहना पसंद नहीं था. कहा जाता है कि पं. नेहरू की श्रद्धा स्वयं निर्णय के तत्त्व पर थी और तदनुसार कश्मीर के लोगों का भविष्य तय होना चाहिए, यह सोचकर ही उन्होंने यह सारा प्रयास किया था. परंतु ऐसा कुछ करने वालों के पास इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं था कि पं. नेहरू ने जनमत लेने पर रोक क्यों लगाई थी?

यदि पं. नेहरू के लिए स्वयं निर्णय इतना महत्त्वपूर्ण था तो तिब्बत के समय यह तत्त्वनिष्ठा कहाँ सो गई थी? तिब्बत के भविष्य को तय करते समय जनमत लेने की बात क्यों नहीं उठायी गयी थी? उस समय अंग्रेजों द्वारा पौराणिक मिथकों की तरह प्रचलित चीन की सार्वभौमिकता ही पं. नेहरू को अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों प्रतीत हो रही थी? तिब्बत प्राचीन हिंदु संस्कृति से जुड़ा देश है और उस पर चीन जैसे कम्युनिस्ट देश की नजर गड़ी हुई है. ऐसी स्थिति में तिब्बत का वस्त्रहरण होने में हिंदुओं का भी वस्त्रहरण होगा और एक कम्युनिस्ट राष्ट्र के हित की रक्षा में पं. नेहरू सहायक भी बने रहेंगे. ऐसे दोहरे सत्कर्म को पूरा करने की बात को, पं. नेहरू ने अपने जीवन के कर्मों को खाद डालने जैसा मान लिया था. तिब्बत से भारत के संबंध पौराणिक कथा में वर्णित कैलाश व मानसरोवर जैसे ही हैं कहकर स्वयं पं. नेहरू लोकसभा में भारत की खिल्ली उड़ाते रहे हैं. मैंने स्वयं कई बार यह अनुभव किया है कि हिंदुओं पर मर्माघात करना व तदनुसार बोलने में, पं. नेहरू को अमानुष आनंद आता था.

पं. नेहरू के व्यक्तित्व को भूलकर कश्मीर का भारत में होने की जिद की न्यायता का सटीक विचार होना बहुत ही आवश्यक है. इस बात के दो पक्ष हैं— एक – वैधानिक, दूसरा – नैतिक.

वैधानिक पक्ष बहुत ही साफ है. स्वतंत्र भारत का कानून ब्रिटिश लोकसभा द्वारा पारित भारतीय स्वतंत्रता का आधार है. इस कानून के तहत भारतीय रियासतों के राजाओं को तीन पर्याय उपलब्ध हुए थे— भारत व पाकिस्तान में से किसी एक देश में शामिल होने या स्वतंत्र बने रहें. कश्मीर के महाराजा ने भारत में शामिल होना पसंद किया था. तदनुसार बिना किसी संदेह के कानून की स्वीकृति थी कि कश्मीर भारत का है.

परंतु इस कानून को भारत के प्रधानमंत्री के भाषणों के संदर्भों में समझा जाना चाहिए. भारत के प्रधानमंत्री द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ को जो वचन दिये थे, उनका पालन करने की जिम्मेदारी भारत की है. इसे यदि वैधानिकता के साथ जोड़कर देखा जाय, तो भारत की ओर से कुछ कहने के लिए शेष नहीं रह जाता. क्योंकि कश्मीर में जनमत लेने की माँग भारत ने ही संयुक्त राष्ट्र संघ से की थी और अब भारत जनमत न लेने के बहाने ढूँढ रहा था. महाराज की कृति द्वारा जो कानून पूरी तरह से भारत का था, पं. नेहरू के निर्णय ने उसे भारत के विरोध में खड़ा कर दिया.

कानून की दृष्टि से कश्मीर को स्वयं निर्णय लेने का अधिकार नहीं है. न्यायमूर्ति छागला के मतानुसार स्वयं निर्णय का अधिकार केवल देश को ही प्राप्त है, देश के हिस्सों (प्रदेशों) को नहीं. कश्मीर कब स्वतंत्र देश था? वह हमेशा से ही भारत का एक हिस्सा ही रहा है. अंग्रेजों के आने से पहले वह रणजितसिंह के राज्य शामिल था और उससे पूर्व मुगलों के राज्य में. उनसे भी पहले वह कुशाणों के राज्य में शामिल था. 'राजतरंगिणी' में लिखा गया है कि भारतीय युद्ध में भारतीय सम्राटपद किसे प्राप्त हो? इस प्रश्न को लेकर कश्मीर के राजे लड़ रहे थे. कश्मीर भारत का हिस्सा होने के कारण ही कश्मीर के राजा भारत की सार्वभौमिकता के प्रश्न से जुड़े थे.

पं. नेहरू सदैव सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का मजाक उड़ाते थे. कैलास-मानसरोवर की भी उन्होंने खिल्ली उड़ाई है. इस पार्श्वभूमि पर विल्हण-कल्हण, आनंदवर्धन तथा अभिनव गुप्त आदि का कश्मीर अ भारतीय हो ही नहीं सकता. इस कथ्य की भी वे खिल्ली उड़ाएँगे, यह अपेक्षित था.

यदि स्वयं निर्णय का अधिकार अनिर्बंध रखा जाय, तो कश्मीर को अभंग क्यों माना जाय? जम्मू व लड़ाख को स्वतंत्र क्यों न माना जाय? इसके व्यतिरिक्त जनमत एक बार ही क्यों लिया जाय? जब आज की पीढ़ी आगामी सारी पीढ़ियों का भविष्य निश्चित करती हो, तब क्या इसे स्वयं निर्णय कहा जा सकता है? पंचवार्षिक चुनावों की तरह पंचवार्षिक जनमत क्यों न हो?

कश्मीर पर भारत के अधिकार की बात साफ होते ही अब पाकिस्तान का कश्मीर पर क्या अधिकार हो सकता है, इसे जानना जरूरी है. कश्मीर में मुसलमानों की संख्या अधिक होने के कारण यदि पाकिस्तान चाहता है कि कश्मीर पाकिस्तान में हो, तो कश्मीर पर अधिकार जताने के इस कारण को उसने कहीं भी व्यक्त नहीं किया है. पाकिस्तान कश्मीर पर अपना अधिकार जता ही नहीं रहा. ऐसे कोई संभावना नजर नहीं आ रही थी कि अगर भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष इस प्रश्न को न ले जाता तो पाकिस्तान उसे प्रस्तुत करता. पाकिस्तान का सारा दारोमदार कश्मीर के भविष्य के हेतु उस जनमत लेने की स्वीकृति पर था, जिसे लेने में पं. नेहरू अब आनाकानी कर रहे थे, टाल रहे थे. पाकिस्तान का यह कहना सर्वथैव सत्य है.

अब भारत में यह कहा जा रहा है कि कश्मीर के भविष्य के लिए जनमत लेने का आश्वासन का संबंध कश्मीर की जनता से है, पाकिस्तान की नहीं. अब यदि प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाया ही नहीं जाता तो बात बिल्कुल सही है. परंतु पं. नेहरू के संयुक्त राष्ट्र संघ में जाने का अर्थ ही यह होता है कि जनमत का वचन कश्मीर की जनता नहीं, संयुक्त राष्ट्र संघ को दिया गया था. अतः जब पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्र संघ के पास भारत कश्मीर में जनमत लेने के अपने वचन का पालन करे, यह जिद करता है तो यह आग्रह सदैव वैध ही है. क्योंकि पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य देश है.

कश्मीर प्रश्न कोयले की कालिख की तरह ही हो गया था.

कश्मीर में बर्फ पिघलने लगी थी और भारतीय सेना ने अपनी मुहिम शुरू कर दी. उसी समय संयुक्त राष्ट्र संघ ने युद्ध विराम घोषित कर दिया. पं. नेहरू ने यह नहीं सोचा कि लूटें युद्ध विराम को मानेंगे या नहीं और युद्ध विराम घोषित भी कर दिया. अधिकांश सेनाधिकारियों को यह कहते हुए सुना गया है कि युद्ध विराम घोषित करने में दो-चार दिन का विलंब, यदि पं. नेहरू लगा देते तो पाक व्याप्त कश्मीर को मुक्त करना संभव था. फिर पं. नेहरू ने ऐसा क्यों नहीं किया?

अब पं. नेहरू भला सारे कश्मीर पर भारत का प्रभाव स्थापित करके हिंदुओं के प्रभाव को स्थापित करने जैसा 'प्रतिगामी' बताव कैसे करते?

इसके अलावा दूसरा एक कारण यह भी है. जिस शेख अब्दुल्ला के पं. नेहरू कश्मीर में सेना भेजते हैं वही शेख अब्दुल्ला चाहते हैं कि अब पाक व्याप्त कश्मीर पर कब्जा न हो. क्योंकि वहाँ उन्हें कोई नेता मानने को राजी नहीं थे और वह प्रदेश कश्मीर में होता, तो कोई दूसरा ही कश्मीर का मुख्यमंत्री बन जाता. और पं. नेहरू के प्रिय शेख अब्दुल्ला के लिए अंगूर खट्टे साबित हो जाते. (Ajit Bhattacharya, Indian Express, 19.07.1999).

एस. गोपाल ने स्पष्ट लिखा है कि तिब्बत की तरह ही पं. नेहरू कश्मीर का अर्घ्य शत्रु की हाथों उँडेलने को तैयार थे. पाकिस्तान के प्रधानमंत्री मोहम्मद अली के भारत आने पर पं. नेहरू ने उन्हें वचन दिया था कि आप जब वापस पाकिस्तान जाओगे, तो कश्मीर दान रूप में आपकी झोली में ही रहेगा. परंतु ऐसा हुआ नहीं. क्योंकि पाकिस्तान ने अमरिका से सुप्रसिद्ध रक्षा-प्रस्ताव कर लिया था. अब बात यह थी कि अमरिका रूस विरोधी, कम्युनिज्म विरोधी और पूँजीवादी देश था. अब उससे दोस्ती करनेवाले पाकिस्तान का भला हो, यह बात पं. नेहरू को कैसे जँचती? उन्होंने कश्मीर की बात को ही अनसुनी कर दी.

पं. नेहरू की योजनानुसार यदि कश्मीर पाकिस्तान में चला जाता तो कश्मीर में कैसी हुडदंग मच जाती इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती. आज भारत की सेना पाकिस्तान में टिय्या देकर बैठी है फिर भी हजारों पंडित घरदार, बीवियों को छोड़कर भारत में बतौर शरणार्थी जीवन यापन करना पड़ रहा है. यदि कश्मीर पूरी तरह से पाकिस्तान



## ॥ संविधान की बरबादी ॥

में शामिल हो जाता तो जम्मू के भी हजारों हिंदुओं को घरदार व औरतों को छोड़कर भारत की शरण में आना पड़ता. इससे उत्तेजित होकर पश्चिमी व पूर्वी पाकिस्तान दोनों जगहों पर हिंदुओं के सर धड़ से कलम कर दिये जाते. भारत में भी इसका प्रत्याघात नजर आ सकता था. परंतु इतनी मारकाट के बाद भी सभी हिंदू सदैव पं. नेहरू की ही पूजा करते रहते. भला होता है तो हम ईश्वर को धन्यवाद देते हैं किंतु संकट आने पर उसे अपशब्दों से नवाजते नहीं हैं. इसके विपरित उसके प्रति अपनी भक्ति में अनन्यता को अधिक गहरा बना देते हैं. क्या पं. नेहरू ईश्वर से कुछ कम थे?

इससे यह स्पष्ट होता है कि पं. नेहरू के विचार कितने विकृत थे. कश्मीर के बारे में सोचते समय कश्मीर व भारत के हित की भावना पं. नेहरू के मन में कभी भी नहीं थी. वे भारत के प्रधानमंत्री बनने का प्रमुख उद्देश्य था— कम्युनिज्म का भला.

मराठवाडा के प्रसिद्ध लेखक नरहर कुरुंदकर ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस तरह पं. नेहरू हैद्राबाद को भी कश्मीर जैसा ही बनाना चाहते थे. (चं. ग. माडखोलकर, 'तरुण भारत') पं. नेहरू ने हैद्राबाद के दीवान अली यावर जंग से तह करके निजाम को 370 कलम के तहत व पूर्ण आंतरिक सार्वभौमिकता दिला दी थी. परंतु निजाम संपूर्ण सार्वभौमिकता चाह रहे थे अतः पं. नेहरू के प्रस्ताव को उन्होंने ठुकरा दिया था.

निजाम ने यदि यह अस्वीकृति न दी होती तो शेख अब्दुल्ला से भी अधिक भयावह आपत्ति हैद्राबाद में निर्माण हो जाती. कश्मीर में 370 कलम से प्राप्त अधिकारों पर वहाँ की जनता द्वारा चुने गए सरकार अमल करती है. हैद्राबाद में यह सब निजाम को प्राप्त हो जाते, हैद्राबाद की जनता को नहीं. ब्रिटिशों के समय इन रियासतों की देखभाल का कार्य रेसिडेंट पद पर नियुक्त व्यक्ति करता था. 370 कलम में ऐसे पद की कोई व्यवस्था नहीं है. कश्मीर में करणसिंह नामक हिंदु सदरे रियासत था. उसके हुक्म पर शेख अब्दुल्ला को पकड़ा गया था. परंतु निजाम के राष्ट्रद्रोही कार्यों पर पाबंदी रखने के लिए ऐसी कोई कानूनन व्यवस्था नहीं थी. किसी भी तरह का कानूनन अधिकार न होते हुए भी नक्षलवादी, उल्फा आदि के लाखों सैनिक उधम मचा रहे हैं. फ्रान्स, जर्मनी के बराबर का प्रदेश जिस निजाम के हाथ में है वह सारी भारत सरकार को भी निगल सकता था. ब्रिटिशों के समय अत्याधिक सीमित सत्ता में रहकर भी ये निजाम अपना राज्य औरंगजेब का अनुसरण करते हुए शासन कर रहे थे. यदि अबाध सत्ता हासिल हो जाती तो सोच भी नहीं सकते कि वे क्या करते?

□ □

### स्वतंत्रता के जनमते ही खून-खराबी

भारत का मूल संविधान स्वतंत्रता आंदोलन द्वारा जतन किये गए तत्त्वों पर आधारित था. परंतु पं. नेहरू को ये तत्त्व ही नापसंद थे. वे सारा संविधान ही समेटकर एक ओर धर देना चाहते थे. उन्होंने संविधान में सुधार के बहाने संविधान सभा के सारे उद्देश्यों पर पानी फेर दिया था. संविधान का चेहरा ही बिगाड़ दिया था. इसमें से एक तत्त्व 'समान नागरी संहिता' को किस तरह तहस-नहस कर दिया था, इसे हम 'सेक्युलरिज्म' से संबंधित प्रकरण में देख ही चुके हैं.

माऊण्टबेटन दंपति के कारण पं. नेहरू स्वयं को अंग्रेज ही समझने लगे थे. उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि भारत पर राज्य करनेवाला मैं 'अंतिम अंग्रेज' हूँ. कौआ हंस की चाल चलकर दिखाने से, हंस नहीं बनता वरन् अपनी ही तुच्छता का प्रदर्शन करता है. यह सब कल परसों तक, जिनके राज्य को हम परराज्य मानकर उनके खिलाफ लड़ रहे थे, उनके ही समूह में घुसने जैसा ही है. यह तो ऐसी गीदड़ भपकी हो गयी, जब कोई गर्दभ किसी कांजीहौस से छूटने पर, यह कहता फिरे कि 'मैं गधा नहीं हूँ, उस कांजीहौस के मालिक का दामाद हूँ.' यह कितनी शर्मसार बात है!

इस तरह का दम दिखानेवाले पं. नेहरू ने 'कांजीहौस को ही दावे के साथ अपनी विरासत से प्राप्त कोठी' बतलाने के लिए ही संविधान सभा के प्रथम प्रस्ताव (भारत यह स्वतंत्र प्रभुत्वशाली प्रजासत्ताक बना रहेगा) में से 'स्वतंत्र' शब्द को हटाकर भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत देश घोषित कर दिया. इन स्थितियों में 'स्वतंत्रता-दिन' शब्द का प्रयोग करना भी संविधान के खिलाफ ही उच्चारित किये जा रहे हैं, इसका आम जनता को अहसास भी नहीं हो पाता.

इंग्लैण्ड से वापस लौटते ही पं. नेहरू ने तुरंत यह प्रस्ताव रखा. प्रस्ताव का समर्थन करते हुए उन्होंने यह कारण बताया कि स्वतंत्र होते हम दुनिया में अकेले हो जायेंगे. इस पर किसी में भी पूछने का साहस नहीं था कि 'क्या ब्रिटिश साम्राज्य को छोड़ देने पर ब्रह्मदेश अकेला हो गया था?' अपनी दलील के समर्थन में पं. नेहरू दूसरा कारण बताते हैं कि 'हमारे स्वतंत्र होते ही ब्रिटिश साम्राज्य में निवासी बने कई भारतीयों को हवा में उड़ा देने जैसा हो जायेगा.' तो क्या ब्रह्मदेशी नागरिक ब्रह्मदेश के स्वतंत्र होने पर हवा में उड़ गये थे? और हम ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन होकर भी केवल अफ्रिका के ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन देश ही नहीं, तो हमारे ही बरामदे में बैठा देश श्रीलंका भी हमें लताड़ता है! यह भला कैसे?

एक प्रश्न मन में बार-बार कौंधता है कि म. गांधी, सरदार पटेल आदि विभूतियों ने इस आमूलाग्र परिवर्तन से सहमति क्यों कर दर्शायी? महात्मा गांधी को ब्रिटिश साम्राज्य में रहने की कल्पना स्वीकार नहीं थी, किंतु उनका सुझाव यह था कि स्वतंत्र भारत के ध्वज के एक कोने में युनियन जैक भी रहे. लगता है कि ऐसा सुझाव देने में कहीं, महात्मा गांधी को भी ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन रहने में किसी तरह की आपत्ति नजर नहीं आ रही थी. यह सच है कि साम्राज्य में रहने के प्रस्ताव का विरोध किसी ने नहीं किया, फिर भी यह हम भूल नहीं सकते कि इस सूचना का प्रथम प्रयास पं. नेहरू का ही था.

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भारत प्रजासत्ताक है और जिस साम्राज्य की प्रमुख विशेषता सिंहासन है. उसके अधीन भारत कैसे रह सकता है? इस समस्या को हल करने के लिए कहा गया कि ब्रिटिश सिंहासन भारतीय प्रजासत्ताक की सार्वभौमिकता का प्रतीक है. 'हम प्रजासत्ताक हैं' यह जताने के लिए सचिवालय के तीन मुकुटों के शिल्प हटा दिये गये. एक बार लोकसभा में तिरंगा ध्वज के स्थान पर युनियन जैक फहराया गया था. इस पर पं. नेहरू से स्पष्टीकरण पूछा जाने पर उन्होंने कहा— "मैंने सचिवालय पर युनियन जैक फहराने को कहा था, परंतु गलतफहमी की वजह से, उसे लोकसभा पर फहराया गया." पं. नेहरू का तर्क समझ पाना मेरे लिए सदैव ही मुश्किल ही रहा है. जब सचिवालय पर मुकुट का शिल्प मान्य नहीं है, तब युनियन जैक कैसे स्वीकार है? फिर सचिवालय पर युनियन जैक फहर सकता है तो लोकसभा पर क्यों नहीं?

अब 'साम्राज्य में रहना' इन शब्द-वाक्यों का क्या अर्थ हो सकता है? साम्राज्य या निर्मल वा शुद्ध शब्दों में कहें, तो कामनवेल्थ का सम्मेलन होता है, राष्ट्रमंडल के समान प्रश्नों पर वहाँ चर्चा होती है. परंतु कोई भी यह नहीं बता सकता कि इस सम्मेलन की सदस्यता के अतिरिक्त साम्राज्य में रहने का अर्थ क्या हो सकता है? ऐसे-ऐसे काम करने होंगे या इतना-इतना लाभ होगा, जैसा कुछ भी पता नहीं होता. अब इस सम्मेलन का अध्यक्ष पद हासिल होवे, तो वह भी नहीं. क्योंकि अध्यक्ष पद तो केवल ब्रिटन के राजसिंहासन के लिए सुरक्षित है. अब पं. नेहरू स्वयं को 'अंग्रेज' कहे या प्रधानमंत्री के स्थान पर 'बादशाह' कहें, वे इस सम्मेलन के अध्यक्ष बनने से तो रहे.

राष्ट्रमंडल के देश ब्रिटिश साम्राज्य में ही हैं, परंतु उससे अलग भी हैं; कहने का अर्थ इतना ही है कि ब्रिटन इन देशों को किसी भी तरह के बंधनों में जकड़ कर नहीं रखता. वस्तुतः उपनिवेशीय देशों में यदि गवर्नर जनरल का पद होगा, तो यह जनरल ब्रिटिश राजसत्ता के हुकुमबर नियुक्त किया जाता है. परंतु जब फिजी के विद्रोहियों ने रानी द्वारा नियुक्त गवर्नर जनरल को बरखास्त कर दिया था, तब ब्रिटन को हक था कि वे विद्रोहियों के खिलाफ कार्यवाही करें किंतु उन्होंने ऐसा करने, मना कर दिया.

यह तो हुई परंपरा. किंतु ब्रिटन के संविधान में 'ब्रिटन यह नहीं कर सकता' यूँ सूचित करता कोई भी कलम नहीं है. क्योंकि ब्रिटन के पास कोई लिखित संविधान ही नहीं

है.

इस दिक्कत को दूर करने के लिए डॉ. मलान ने सूचना की थी कि "ब्रिटन अपने उपनिवेशीय वसाहत के संदर्भ में सार्वभौमिकता के अधिकारों का उपयोग नहीं करेगा" ऐसा कलम संविधान में रखा जाय. यह कलम राष्ट्रमंडल के परिषद में उस सम्मेलन के प्रस्ताव के नाम पर पारित किया जा सकता था. परंतु इस प्रस्ताव का महत्त्व, ब्रिटिश सिंहासन से मात्र बिनति के अलावा और कुछ भी न था. यह प्रस्ताव ब्रिटिश सिंहासन के लिए बंधनकारक भी न था. क्योंकि मूलतः ब्रिटिश सिंहासन इस परिषद से भी ऊँची संस्था है. इसके अतिरिक्त तर्कशुद्धता की कसौटी पर भी 'अधिकार' और 'अधिकार का इस्तेमाल का हक' यह भेद भी अर्थशून्य है. अतः कानूनन राष्ट्रमंडल के देश स्वतंत्र नहीं हैं, उनकी स्वतंत्रता ब्रिटन की मर्जी पर निर्भर है. ब्रिटन भारत के अध्यक्ष को पदच्युत नहीं करता, यह उनकी मेहरबानी है. वह हमारा अधिकार नहीं है.

यह जान कर भी कि ब्रिटिश साम्राज्य की सदस्यता से कोई लाभ नहीं है, हम स्वयं ही सदस्यता का आग्रह करते हैं, तब इसका एकमात्र अर्थ यही है कि दास को दासता की बेडियों से ही लगाव हो गया है. क्योंकि वह अब उसके अस्तित्व का ही एक हिस्सा बन जाता है. अतः सूत्रों को इस बात पर गौर करना होगा कि जो देश दासता को अपने अस्तित्व का अविभाज्य अंग मानता है, वह भला क्या आदरणीय जीवन जीने की क्षमता प्राप्त कर सकेगा?

मूलतः उपनिवेशीय स्वराज्य (dominion status) यह कल्पना उन देशों के लिए सही है, जहाँ अंग्रेज ही अपनी बस्ती बसाने गये और वहाँ राज्य भी करने लगे. उदाहरण के लिए कॅनडा, आस्ट्रेलिया देशों के राज्यकर्ता/शासक अंग्रेज ही हैं और थे. अब पं. नेहरू स्वयं को ही अंग्रेज मान रहे थे और माऊण्टबॅटन दंपति के प्रभाव से पं. नेहरू के दिमाग में एक बात पक्की बैठ गई थी कि जिस तरह से कॅनडा व आस्ट्रेलिया के अंग्रेज वहाँ के मूल निवासियों (देशीय/देशज) अर्थात् मावरी जैसे एतद्देशियों पर राज्य कर रहे थे, उसी तरह वे भी, उनके कदम चूमनेवाले इस 'गोबर संस्कृति' के हिंदुओं पर राज्य कर रहे हैं. यही एकमात्र कारण था जिसके लिए भारत को ब्रिटिश साम्राज्य की सदस्यता का स्वीकार करना ही पड़ा.

### हिंदु समाज का विभक्तिकरण

संविधान के मूलभूत स्वरूपानुसार एक कलम कहता है— "जाति, धर्म, लिंग आदि संदर्भों में भेदभाव नहीं बरता जायेगा." इस कलम में वर्णित विचार में समता का तत्त्व छिपा है. परंतु कुछ 'पुरोगामी' लोग समता का अर्थ कुछ और बताते हैं. ज्योतिबा फुले ने ब्राह्मणों से डाह का उपदेश दिया, फिर भी प्रचार यह हुआ कि वे समता के हिमायती थे. पं. नेहरू भी ऐसे ही समतावादियों में से एक थे. मद्रास उच्च न्यायलय ने नौकरी के संदर्भ में निर्णय घोषित किया कि ब्राह्मण-अब्राह्मण भेदभाव नहीं रखा जायेगा, तब पं. नेहरू बरस

पड़े और दलील के रूप में कहा जाने लगा कि “दुर्बल वर्ग के हितों के लिए इस तरह के भेदभाव को उपरोक्त कलम में भेदभाव की श्रेणी में नहीं रखा गया है.” परंतु वस्तुतः संविधान सभा में इस कलम की चर्चा में पं. नेहरू ने ऐसा कुछ कहा होगा, यह सुनने में नहीं आया है. क्योंकि संविधानकर्ता ही जातीय आरक्षण के खिलाफ थे. संविधान में केवल हरिजनों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई थी, जिसे दस वर्षों में समाप्त भी करने का आदेश था. वास्तव में कुछ यूँ हुआ कि दस वर्षों में इसे समाप्त करने के स्थान पर खुले आम जाति के दम पर आरक्षण किये जाने लगे. संविधान में पिछड़े समूह के लिए खास सुविधाओं की इजाजत दी गई है. किंतु ‘पिछड़े समूह’ का अर्थ ‘पिछड़ी जाति’ किया जाने लगा और जाति के बल पर खुले आम आरक्षण किये जाने लगे. इस बारे में जब शोरगुल हुआ था, तब ‘ब्राह्मण पिछड़े नहीं हैं’ यह किस आधार पर कहा जा रहा था? आज की दुनिया में उन्नति के लक्षण का एकमात्र आधार आमदनी मानी गई है. इस संदर्भ में ‘ब्राह्मणों का स्थान अब्राह्मणों से उच्चतर है’ यह किस बात को आधार मानकर कहा जा रहा है? आमदनी के बाद शिक्षा को उन्नति का दूसरा निकष मान लें, तो क्या पुरोहितों के वर्ग को उन्नत समझा जा सकता है? अधिकांश पुरोहित संस्कृत भी नहीं जानते. उन्हें केवल उनके कार्य से संबंधित मंत्र सुनाना आता है. आज के भारत में उन्नत होने का संबंध अंग्रेजी से जुड़ा है. इस समीकरण के बल पर तथा पुरोहितों को उन्नत समझा जाय? पुरोहितों का व्यवसाय करनेवाले ब्राह्मणों को पिछड़े वर्ग में शामिल क्यों नहीं किया जाता? जब ऐसा कुछ पूछा गया तो मंडल समिति ने इन दलीलों को स्वीकृति दी और ब्राह्मणों में भी पिछड़े वर्ग के कुछ लोग होने की स्वीकृति देकर उनके आरक्षण की व्यवस्था कर दी गई.

इसके परिणामस्वरूप लोगों में एक स्पर्धा-सी उमड़ पड़ी कि वे स्वयं को पिछड़ा घोषित करने लगे और स्वयं को राष्ट्रीय प्रवाह से बाहर या दूर ही होने को दर्शाने लगे. गोंड जमात के लोग स्वयं को पहले क्षत्रिय मानकर, देश में शासन चलने के कारण राष्ट्र में उनके गौरवपूर्ण उच्च स्थान को मान्यता दे रहे थे. अब वे स्वयं को पिछड़े समूह के कहलाने लगे हैं.

क्या नौकरी नामक चीज खैरात में बटनेवाली वस्तु है कि जिस पर मर्जी हो, उसे दे दी जाय? नौकरी काम के लिए होती है और काम करने की कुशलता ही उसका एकमात्र निकष होना चाहिए. इस पर भूतपूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंग कहते थे कि ‘पिछड़ी जातियाँ भी कार्यक्षम होती हैं.’ यदि ऐसा है तो उन्हें आरक्षण की जरूरत ही क्या है?

यदि गरिबों को जातिनिरपेक्ष शिष्यवृत्तियाँ दी जाये तथा पाठशाला-कालेज में जाति के नाम पर उन पर आपत्ति उठाई जा रही हो तो इसके खिलाफ सख्त कार्यवाही होनी चाहिए, तभी इन गरिबों की रक्षा हो सकेगी.

परंतु गरीब-कमजोरों की रक्षा यह उद्देश्य पं. नेहरू का था ही नहीं. उनका उद्देश्य था, हिंदु समाज में एकता की भावना को नष्ट करना.

हमारे उद्योग संसार की दौड़ में टिक नहीं पाते, इसका महत्वपूर्ण कारण बताया जाता है कि ‘हमारा कर्मचारी वर्ग कामचोर और अकुशल है.’ उपरोक्त रवैये का अंजाम और दूसरा क्या हो सकता है?

### हजार पर एक शराबखाना

शराब-बंदी लोकमान्य तिलक के समय से ही स्वराज्य के आंदोलन का ही एक हिस्सा था. 1937 में स्थापित कांग्रेस सरकार ने शराब-बंदी के कानून बनाये थे. तदनुसार भारत के संविधान में भी आदेशपरक तत्त्वों में शराब पर पाबंदी का समावेश किया गया है.

पं. नेहरू को शराब पर पाबंदी नापसंद थी. क्योंकि वे तो शुद्ध विदेशी शराब के भोक्ता मोतीलाल के सुपुत्र और भारत पर राज्य करनेवाले अंतिम अंग्रेज थे. पश्चिमी देशों में शराब हर जगह उपलब्ध है अतः शराब पीने में कोई बुराई नहीं है. इस तरह की सोच भारत में फैली हुई थी. एम.एस. मथाई कहते हैं कि ‘पं. नेहरू शराब नहीं पीते थे.’ अब इनके कथन का अर्थ केवल इतना ही है कि वे शराब नहीं पीते थे? क्योंकि राव दंपति द्वारा लिखित ‘नेहरू के सौ दिन’ इस पुस्तक में लिखा है कि “महात्मा गांधी ऊपरी मंजिल पर बैठे हों तो पं. नेहरू अमृत कौर के साथ निचली मंजिल पर शराब का मजा लूटते और शराब पर पाबंदी जैसे क्षुद्र प्रश्नों पर बल देते हैं, कहकर महात्मा गांधी की आलोचना करते थे.” संभव है कि पाठकों में कइयों के मत भी इसी तरह के हो सकते हैं. अतः शायद कइयों ने यह कहकर पं. नेहरू का समर्थन किया होगा कि अच्छा हुआ, जो शराब-बंदी पर नहीं बन आई. परंतु जब आदेशात्मक तत्त्व पारित हुआ, तब संविधान की सभा में पं. नेहरू शराब-बंदी के खिलाफ थे, तो प्रधानमंत्री बनने के बाद उन्हें प्रचार करना चाहिए था कि शराब नुकसानदेह नहीं है और संविधान द्वारा उसके प्रतिबंध का आदेश रद्द किया जाना चाहिए. परंतु ऐसा नहीं हुआ और निजी अधिकारों का उपयोग करके संविधान की अवज्ञा करना ऋजुता का लक्षण है.

इस तात्त्विक बिंदु पर अधिक विस्तार से कुछ कहे बिना शराब संबंधी सत्य बतलाना आवश्यक है.

कोलमन के ‘Abnormal Psychology’ इस पुस्तक में शराब पर विस्तृत अध्याय है. उसे स्पष्टतः कहा गया है कि ‘शराब का उपयोग दवाई जैसा बिलकुल भी नहीं होता.’ शराब की शीतनिवारकता के बारे में आक्सफर्ड विश्वविद्यालय के ‘Food and Health’ पुस्तक में इस तरह से लिखा गया है—

“Alcohol dilates the capillaries of the skin and this leads to extra loss of heat. The popular notion that alcohol fortifies people against cold weather is dangerous fallacy.”

एक सुभाषित हर जगह बार-बार कहा जाता है कि शराब के हानिकारक होने का

खयाल सच होता तो पश्चिमी देशों का अब तक नाश हो चुका होता. परंतु नाश का क्या अर्थ है? ऐसी पूछताछ करने का मकसद यदि ऐसी सोच होगी कि 'जिस तरह से यादवों का नाश शराब के कारण हुआ और पृथ्वी पर यादव शेष ही नहीं रहे' इसी क्रम में पश्चिमी लोगों का क्यों नहीं हुआ? तो आज तक किसी भी संपूर्ण देश का किसी भी तरह से, अणु बम से भी नाश नहीं हुआ है. परंतु शराब पर नियंत्रण रखना जरूरी है यह बात रूस व अमरिका दोनों देशों का अभिमान है. रूस में गार्बाचोव्ह में शराब पर पाबंदी लगाई थी, उधर अमरिका में भी शराब पर पाबंदी के कानून हैं. परंतु अमरिका मुख्य रूप से प्रचार पर बल देती है. 'उपदेशों से शराब छूटती नहीं है' यह अर्धसत्य है. परंतु अमरिका में जब शराब के परिणामों के बारे में सच जानकारी दी तब शराब पर काफी प्रतिबंध स्वयं ही लगते गये. अन्यथा शराब ने वहाँ भी काफी धूमधड़ाका-शोरगुल मचा रखा था. अमरिका में चार प्रतिशत लोग अलकोहलिक थे, ये चार प्रतिशत लोग दूसरी किसी बीमारी से ग्रस्त नहीं थे. मद्यनष्ट या मादक शराबी (alcoholic) का अर्थ है यह व्यक्ति शराब पीने के अलावा जीवन में और कुछ भी नहीं करता और समाज के व्यय से इसे अस्पताल में रखा जाता है. उनके खून में शराब सदैव रहती है, उसके व्यय होते ही वे पूर्ववत बने रहने के लिए फिर शराब पीये बिना उन्हें चैन नहीं आता. इसके अलावा ऐसे लाखों लोग हैं, जिन्होंने पिये बिना कोई भी काम कर ही नहीं सकते और शराब न मिलने पर तरह-तरह के झटके आते हैं.

रास्तों पर की दुर्घटनाओं और अपराधों के होने में अधिकांश कारण शराब पीना ही है. शराब पीने वाले लोगों में खून करने जैसे गंभीर अपराध करने की प्रवृत्ति भी होती है.

शराब पर पाबंदी से आबकारी आमदनी समाप्त हो जायेगी, ऐसी तोहमत शराब पर पाबंदी के खिलाफ लगाई जाती है. किंतु यह आमदनी उपरोक्त वर्णित हर्जाना (चालाकी से हासिल की गई आमदनी पर का दंड) की तुलना में बिलकुल ही क्षुद्र है.

शराब का 'एकच प्याला' मराठी नाटक में संपूर्ण जीवन को बरबाद हो जाने की कथा भले अतिरंजित जान पड़े, परंतु एक ही प्याला पीने वालों में पन्द्रह प्रतिशत लोगों को शराब की आदत पड़ ही जाती है. ऐसी आदतों के शिकार व्यक्ति यदि दुर्घटना, अपराध, मद्याधीनता और मद्यनष्ट होने से बच जाते हैं तो भी न छूट पानेवाली महँगी आदत के कारण आर्थिक चिंता से घिर जाते हैं. इसके अलावा आज यदि पति पीनेवाला हो, तो पत्नी नहीं पियेगी या माँ-बाप पीते हैं पर संतान नहीं पियेगी, ऐसा होता ही नहीं है. सारे परिवार पर शराब के लिए पैसा खर्च करना उच्च मध्य वर्ग के लिए भी न झेलने योग्य स्थिति होती है.

ऐसा मानना है कि शराब की पाबंदी के कारण गैरकानूनी और हानिकारक शराब की भट्टियाँ पनपने लगती हैं. परंतु कोदण्ड राव ने 'हितवाद' समाचार-पत्र के एक लेख में

'गिले' व 'सूखे' प्रदेश की भट्टियों के बारे में आँकड़े दिये थे. इससे एक बात पता चलती है कि 'गिले' प्रदेशों में भट्टियों की संस्था अधिक है. क्योंकि पीने की लत पड़ जाने पर महँगी शराब की जगह सस्ती भट्टियों की ओर स्वभावतः व्यक्ति मुड़ता ही है.

यह भी कहा जाता है कि शराब पर पाबंदी लगानेवाली सरकार के लिए चुनाव जीतना कठिन होता है. परंतु हाल ही में इस सोच को गलत साबित कर दिखाया है, आंध्र प्रदेश व तमिलनाडू की स्त्रियों ने. उन्होंने शराब पर लगी पाबंदी को हटाने वाली सरकार को ही सत्ता से नीचे गिराया है. बाल-बच्चों की देखभाल की सारी जिम्मेदारी स्त्री की, पुरुष की आमदनी व व्यवसाय से शेष बचा समय शराब पीने के लिए, ऐसी मानसिकता से घिरे परिवारों की संस्था बढ़ रही है. उच्च मध्यम वर्ग में भी पिता के शराबी होने के कारण बच्चों की पढ़ाई रूक जाती है. यह दृश्य भी कई परिवारों में नजर आने लगा है.

एक प्रश्न यह भी है कि 'शराब पीने पर सुख का अनुभव होता है, उसे क्यों खो दें?' जब शराब के सुख की प्रक्रिया समझी जाती है, तो उत्तर भी मिलता है. 'शराब से सुख मिलता है' यह शराब पीने के पहले की सोच या अहसास होता है. पर ऐसा सुख पाने के लिए जितनी मात्रा में शराब ली जानी चाहिए, उस मात्रा में दिनोंदिन बढ़ोतरी होती है. फिर बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी स्थिति आ ही जाती है कि शराब से सुख नहीं मिलता और सुख मिलने की लालच बनी रहती है और शराब की मात्रा बढ़ती ही जाती है. परंतु ऐसे हजारों लोग भी हैं जिन्हें 'एक ही प्याला' पीकर भी शराब की आदत नहीं पड़ती. ऐसे लोग शराब पीते हों, तो उसमें आक्षेपार्ह कुछ भी नहीं है. परंतु करोड़ों में हजार की संख्या नगण्य-सी ही है. उनकी सुविधा के लिए गिनेचुने शराब के परवानों की व्यवस्था की जा सकती है. परंतु 'एक ही प्याला' से प्रारंभ करके, आदत बन जानेवालों का पन्द्रह प्रतिशत भी समाज का बहुत बड़ा हिस्सा होता है. समाज की आम जनता के लिए शराब पर पाबंदी आवश्यक ही है.

ऐसी हितावह शराब पाबंदी के खिलाफ अपने निजी अधिकारों का प्रयोग करके पं. नेहरू ने समाज का आरोग्य और नीतिमत्ता को बरबाद कर दिया है. जिन प्रांतों में शराब पर पाबंदी की घोषणा की थी, उन्हें पं. नेहरू ने ठणकाया कि "सद्गुणवर्धक कानूनों को आस्ते कीजिए." 'आस्ते कीजिए' का अर्थ है— मत करो. क्योंकि अब किसे आस्ते करना और किसे नहीं? केन्द्र सरकार ने शराब पर की पाबंदी हटाकर प्रांत का कार्य अधिक कठिन कर दिया. एक प्रांत या जिले में शराब बंदी है और दूसरे में नहीं, तो शराब पर लगी पाबंदी का सफल होना ही नामुमकिन है. एक जिले में शराब पर पाबंदी लगाने का अर्थ होगा, राणा प्रताप की तरह घास पर सोने की प्रतिज्ञा लेकर भी मेवाड़ के राणा की गद्दी के नीचे घास रखकर सोने जैसा ही है.

ऐसे ही माहौल में वसंतराव नाईक मुख्यमंत्री बने और उन्होंने हजार आदमियों के लिए एक शराबखाना स्थापन करने का उनका दृढ़ संकल्प घोषित किया. अब हजार के

लिए एक इस अनुपात में शराबखाने तैयार होंगे, तो स्वभावतः हजार लोगों के लिए एक ही गटर भी बनाना होगा।

शराब-बंदी की बात तो दूर ही है, पर पं. नेहरू के व्यवहार से शराब को समाज में पहले से भी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। अब शराब न पीनेवाला पुरोहित (भटजी) और स्त्री को चाची (काकूबाई) कहा जाने का फैशन चल पड़ा। इस तरह के हीनतादर्शक संबोधनों का लोगों पर गहरा प्रभाव होने लगा। एक अमरिका का पत्रकार कहता है कि भारत में एक बोटल के बदले में कोई भी भेद खरीदा जा सकता है। अब आश्चर्य की बात नहीं, जो अभ्रष्टता की सूचि में भारत का क्रमांक नब्बे घोषित होता हो। दुनिया की तुलना में हमारे कारनामे असंख्य हैं, इसके अनेकों कारणों में से एक कारण क्या शराब नहीं है?

### गौ-हत्या बंदी

संविधान के अनेक आदेशरूप तत्वों में एक तत्व गौ-हत्या पर पाबंदी भी है। गौ-हत्या पर पाबंदी से पं. नेहरू को सख्त घृणा थी। उनके शब्द 'गोबर संस्कृति' में ही यह व्यक्त है। 'ऑर्गनाइजर' साप्ताहिक पत्रिका में एक चित्र प्रकाशित किया गया था। जिसमें यह दिखाया गया था कि पं. नेहरू गौ-हत्या पर पाबंदी की माँग लेकर धरना दे बैठे एक साधू को उठाकर फेंक रहे हैं। पं. नेहरू गौहत्या पर पाबंदी पी ऐतराज होने का अंदेशा पहले से ही था। वे 'अंतिम अंग्रेज' होने के कारण गोमांस भक्षण उनका हक बनता था। इसके अतिरिक्त 'गौ को खाएँ' यह इस्लाम की आज्ञा न होते हुए भी मुस्लिम नहीं चाहते थे कि गौ-हत्या पर पाबंदी लगे। एक और बात भी थी कि गाय जैसे पशु की पूजा करने को पं. नेहरू शर्मनाक बात मानते थे।

क्या सचमुच में गाय की पूजा करना शर्म की बात है? दूसरा कोई भी पशु गाय जैसा उपयुक्त नहीं है। देश का मुख्य आर्थिक व्यवहार जब खेती को मान लिया गया है तो उससे गाय का अविभाज्य संबंध है। भलाई करनेवाले कोई भी हो, उसके प्रति आदरभाव रखने में कैसी शर्म? स्वातंत्र्यवीर सावरकर का कथन था कि "गाय एक उपयुक्त पशु है परंतु इससे ज्यादा उसे महत्वपूर्ण मानना गँवारपन दिखलाता है।" तो इसी न्यायानुसार दशहरे के दिन तलवार की पूजा करना भी उन्हें गैर कृत्य महसूस होना चाहिए। तलवार यह उपयुक्त शस्त्र था, अब नहीं। आज के युद्ध में भला उसकी क्या उपयुक्तता है? जिस तरह तलवार की पूजा प्रतीक रूप में शस्त्र सामर्थ्य की पूजा है, उसी तरह गाय की पूजा समाजोपयोगी जीवन की प्रतीक रूप में की गई पूजा है। इस पूजा से समाज का नुकसान होने की बात सावरकर करते हैं। इस पर आगे लिखा जायेगा।

स्वयं को अस्वीकृत किंतु संविधान में शामिल किसी भी कलम का पं. नेहरू ने लोकसभा में विरोध कभी भी नहीं किया। जिस तरह सावरकर ने गौ-हत्या पर पाबंदी पर खुलकर अपने विचार व्यक्त कर दिए थे, पं. नेहरू ने ऐसा कुछ कभी भी नहीं किया। परंतु पं. नेहरू के शराब पर पाबंदी के संदर्भ में विचार सुशिक्षितों में जिस तरह से फैल चुके

थे, उसी तरह गौहत्या पर पाबंदी के बारे में भी उनके विचार मान्य कर लिये गये थे। उनका साररूप इस प्रकार है—

1. बूढ़ी गौओं का पालन-पोषण करना भारत जैसे गरीब देश के लिए बर्दाश्त नहीं हो सकता।

2. गाय जैसे पशु को देवता मानकर उसकी पूजा करना गँवारपन के लक्षण है।

प्रथम आरोप गोधन के अर्थशास्त्र पर गहरा अज्ञान व्यक्त करता है। पशुपालन तज्ञों का कथन है कि गाय जब जवान होती है तो उसके दूध से अधिक उसके मलमूत्र का मूल्य अधिक होता है। गाय जब बूढ़ी हो जाती है, दूध नहीं दे सकती पर गोबर-मूत्र तो उससे मिलता ही रहता है। ईंधन की दृष्टि से दस टन गोबर का मूल्य एक टन कोयला और दो टन लकड़ी के बराबर है। गोबर का मूल्य बतौर खाद और भी अधिक है। गाय के साथ बैल के बारे में भी सोचा जाना चाहिए। भारत में खेती, सामान का लाना-भेजना आदि कामों में बैलों का ही उपयोग होता है। दूसरे शब्दों में कहें, तो भारतीय उद्योग समूह में बैल शक्ति ग्रह का काम करता है। इसके अलावा गाय की तरह ही खाद व ईंधन का उत्पादन बूढ़ा होने पर भी करता ही रहता है अतः बूढ़े बैल या गाय को आर्थिक बोझा समझना एक निराधार कल्पना मात्र है।

जो यह कहते हैं कि 'बूढ़ी गाय पूरी तरह से उपयोगहीन भले ही न हो परंतु उसका पालन-पोषण केवल भावना के अधीन होकर किया गया निरर्थक व्यय है', उनसे यह सवाल करना आवश्यक है कि 'गाय की तुलना में शून्य उपयोगिता वाला पशु कुत्ता है, उस पर व्यय करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? क्या यह व्यय बूढ़ी गाय पर किये जानेवाले व्यय से कम होता है? या अंग्रेज ऐसा खर्च करता है, अतः यह क्या आदरणीय है?'

एक बार गौ-हत्या पर पाबंदी के एक समर्थक मुझे बता रहे थे कि 'साग-भाजी की तुलना में गोमांस सस्ता होता है।' परंतु उन्होंने यह नहीं कहा कि गोमांस और साग-सब्जी में तुलना करते समय उनकी कोटि, उनकी गुणवत्ता क्या थी। मैंने भी तज्ञों से पूछताछ की और यह पाया कि साग-भाजी से सस्ते गोमांस की गुणवत्ता इतनी निकृष्ट होती है कि उसे गोमांस के शौकीन कभी भी नहीं खायेंगे।

शहरों में गाय का पालन करना मना है। परंतु हमारे देश में कानून तोड़ने के लिए बनाये जाने का अलिखित नियम बन चुका है। पर हाय! अधिकांश लोग यह भी नहीं जानते। शहरों में इन्सानों के रहने को स्थान कम पड़ रहा है, फिर पशुओं की व्यवस्था कहाँ की जा सकेगी? अतः मालिक इन गौओं को खुले छोड़ देते हैं। अब इनमें से ही कुछ कसाई उठाकर ले जाय, तो मालिक शिकायत भी कैसे दर्ज करेगा? इसका मतलब यह हुआ कि कसाई को गाय बिना मूल्य प्राप्त होती है और वह मांस भी सस्ते में बेचता है। ऐसा गोमांस साग-भाजी से अधिक सस्ता होता है। ऐसी स्थिति में उपलब्ध सारा गोमांस सस्ते में बिकता है कहना उस चोर की भाषा बन जाती है, जो सोना चोरी करता है और चांदी के बाजार



की चांदी से सोना सस्ता पड़ा यह मानकर सोने को चांदी से सस्ता मानने लगता है।

एक बात जरूर है कि आम तौर पर शाकाहार की तुलना में मांसाहार सोलह गुना सस्ता होता है। क्योंकि एक सेर मांसाहार निर्माण करने के लिए सोलह सेर शाकाहार का व्यय झेलना होता है।

केवल पिछड़े देश ही बैलों का उपयोग मजदूर की तरह करते हैं। भारत हमेशा के लिए तो पिछड़ा नहीं रहेगा। आज जो काम बैल करते हैं, वही काम अमरिका की तरह ट्रैक्टर और ट्रक से किये जायेंगे। फिर स्वभावतः बैलों का भी उपयोग आहार के लिए किया जायेगा।

इस स्थिति में मांसाहार टालने के लिए गाय के गर्भजल का परीक्षण किया जाना चाहिए और बैलों के गर्भ को जन्म से पूर्व ही नष्ट कर दिया जाना चाहिए। बैलों को हट्टे-कट्टे बनाकर फिर उनकी कत्तल करने की तुलना में, यह अधिक सुसंस्कृत कार्य जान पड़ता है।

मैंने सेना के भोजन-कक्ष में मांसाहार के बारे में एक विचित्र युक्तिवाद सुना था। उसके अनुसार मांसाहार आर्थिक दृष्टि से आवश्यक है क्योंकि पशुओं को मार कर मांस न खाया जाय, तो ठीक नहीं है क्योंकि वे तो मानव, जो खाता है वही खाता है। जो चूहे खाकर जी रहे हैं, वे यदि ऐसा कुछ कहते हैं, तो सही माना भी जा सकता है। क्योंकि बिना किसी कोशिश के चूहों की संख्या में बढ़ोत्तरी होती ही है। और चूहे खाने वाले अपने पेट तो भरते ही हैं परंतु समाज का बोझ भी कम करते हैं। बिहार में मूँछहर नाम से जानेवाले कुछ लोग हैं, वे चूहों को हाथ से ही पकड़ते हैं, पटकते हैं और खा जाते हैं। किसी प्रदेश के चूहों को समाप्त करना हो तो पैसे देकर उन्हें बुलाया जाता है। अर्थात् भोजन के लिए बुलाकर ऊपरी कमाई भी मिल जाती है।

मांसाहारी लोग चूहे पसंद नहीं करते। उन्हें गाय, बैल, बकरा, मुर्गी आदि अच्छे लगते हैं। और इन सबकी संख्या सायास बढ़ानी होती है। प्रकृत्या पैदा होने वाली मुर्गियों द्वारा मुर्गी की माँग पूरी नहीं की जा सकती। जिस तरह मौसम के भरोसे पर प्राप्त पैदावार से पेट नहीं भरता, इसके लिए खेती करनी ही होती है, उसी तरह मांसाहार के लिए पशुओं की खेती करनी ही पड़ती है। इसे Animal Husbandry कहते हैं।

गौ-मांस खाने वालों का कथन है कि इस मांस के सेवन की प्रथा का प्रचलन होते ही बूढ़ाई गौओं का बोझ ढोना नहीं पड़ेगा। और ऐसे लोग यह भी सोचते हैं कि गौ-मांस खाने वाले केवल बूढ़ाई और उपयोगशून्य गौओं से ही प्राप्त किया जाता है। ऐसे लोग लेकिन यह भूल जाते हैं कि बूढ़ी गाएँ जैसे ही काम के लिए अनुपयोगी साबित होती हैं वैसे ही वे भोजन के लिए भी पौष्टिक व सुस्वादु नहीं रह पाती। गौ मांस का भोक्ता बछड़े का मुलायम मांस की माँग करता है। उन्हें नौजवान गाय भी स्वीकार नहीं होती। बछड़ों को खाना यदि संस्कृति कहलाता हो तो ऐसे लोगों के लिए शिशुभक्षण में भी गैर कुछ नहीं जान

पड़ता। एक पुरोगामी तत्त्व यह बतलाता है कि किसी के भी आहार पर नियंत्रण रखनेवाला कानून नहीं बनना चाहिए। फिर नरमांस भक्षण को अपराध की कोटि में क्यों नहीं गिना जाता?

मांसाहार के समर्थक किस हद तक जाकर झूठ बोल सकते हैं, इसकी कोई लक्ष्मणरेखा तय नहीं है। मैंने कुछ मांसाहारी लोगों से सुना है कि पशुओं को सुखदुख की संवेदना ही नहीं होती। परंतु यह भी संभव नहीं है कि उन्होंने सुई के चुभने पर मनुष्य की तरह ही आक्रोश करनेवाले पशु को देखा ही नहीं होगा।

यह सत्य है कि मानव तथा अमानव में भेद किया जाना चाहिए। परंतु जब ऐसा विकल्प उपस्थित हो कि दोनों में से किसे खाया जाय? तब क्या करना चाहिए? यह यथार्थ ही ठीक नहीं है। जिसमें दुखसुख की संवेदना हो, ऐसे पशुओं की हत्या भोजनार्थ न हो। “सर्वे नः सुखिनः सन्तुः” इस नीति तत्त्व का यही सार है। इसे माना जाय तब सजीव प्राणियों की हत्या नहीं की जायेगी।

अक्सर यह कहा जाता है कि शाकाहारी भोजन यह अधूरा अन्न है। क्योंकि इसमें शरीर के लिए आवश्यक कुछ आम्ल नहीं होते। यदि इसे सच माने तो हर शुद्ध शाकाहारी व्यक्ति के शरीर में कुछ कमी नजर आती। परंतु पेट में अन्न का दाना न हो या दांतों में खाये अन्न का टुकड़ा अटका न हो तो चिकित्सागत जाँच करने पर भी उस व्यक्ति के शाकाहारी या मांसाहारी होने की बात समझ पाना असंभव है। चिकित्सागत जाँच के अनुसार प्रोटिन्स, जीवनसत्त्व, धातु आदि की कमी को जाना जा सकता है। इन चीजों की कमी मांसाहारी लोगों में भी नजर आती है। शाकाहारियों में इनकी कमी अधिक होती है ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आया है। यदि शाकाहारी भोजन अपूर्ण अन्न है तो उसका परिणाम सभी शाकाहारियों में दिखलाई दिया जाना चाहिए। कुछ में ही यह कमी नजर आती है यह बात गलत लगती है। जो तत्त्व शाकाहार में नहीं हैं वह शुद्ध शाकाहारी व्यक्तियों में से किसी भी व्यक्ति में दिखलाई नहीं देनी चाहिए। इस बात से दूर, यह कहकर भागा नहीं जा सकता कि शरीर अन्न में अनुपलब्ध कुछ द्रव्यों को स्वयं ही निर्माण कर लेता है। क्योंकि यह सच मान लिया जाता है, तो यह भी निश्चित हो जाता है कि फिर अन्न द्वारा इनका सेवन करने की जरूरत ही नहीं।

शाकाहार के संदर्भ में श्रीमति मेनका गांधी ने दूरदर्शन पर जानकारीपूर्ण भाषण दिये थे। उनके विचार पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुए हैं।

□ □

## ॥ देशद्रोह : एक मूलभूत अधिकार ॥

पं. नेहरू भारत को एक राष्ट्र न मानकर चुप नहीं रहे. वे तो भारत को एक ऐसा भूभाग बनाने की कोशिश में जुटे हुए थे कि देश के जिस किसी हिस्से में एकता को बढ़ावा देनेवाली प्रणालियाँ थी, उन सभी को लाठी का भय दिखलाकर, उनमें एकता का एक भी तत्त्व न होने का दावा करते हुए पं. नेहरू उनकी कल्पना के भारत को साकार कर रहे थे. पं. नेहरू के अनुसार भारत राष्ट्र ही न था, अतः भारत में राष्ट्रद्रोह नामक कोई चीज-वस्तु ही नहीं हो सकती. अतः राष्ट्रद्रोहियों की बगावत की तरफ पं, नेहरू का नजरिया भी सहानुभूतिपूर्ण था.

प्रस्तुत अध्याय के शीर्षक के नामकरण का उद्देश्य यह है कि आदिवासी और वनवासियों का अन्तर स्पष्ट हो सके. भारत के हर प्रांत में कहीं न कहीं वनवासी वास करते ही हैं. इन्हें मिशनरियों ने 'आदिवासी' नाम दिया है. मिशनरियों की सोच के अनुसार अन्य हिंदू भारत के बाहर से आये हैं और यह वनवासी प्रारंभ से ही भारत के रहिवासी थे. परंतु मिशनरियों की इस कल्पना को तिनके का सहारा नहीं दिया जा सकता.

इन वनवासियों में सर्वाधिक चर्चा में रहे लोगों को नागा नाम से जाना जाता है. नागा यह नाम नग याने पर्वत से बना है. क्योंकि वे सब पर्वतीय इलाकों में रहते थे. नाग पूजक के अर्थ में भी नागा शब्द बना हो. परंतु असम के नागा नागपूजक नहीं हैं. ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के रचयिता नाग ही थे. लव, कुश, मेघनाद, यदु, उग्रसेन आदि राजपुरुषों की पत्नियाँ नाग ही थीं. अर्जुन की पत्नियाँ उलुपी तथा चित्रांगदा नारियाँ नागवंशीय ही थीं

मिशनरियों द्वारा रचित आर्य-अनार्यों की रामकहानी में आर्य और नागों का संघर्ष भी वर्णित किया गया है. ये रामकहानियाँ विश्वकोश आदि ग्रंथों को आधार मानकर भी लिखी नहीं गई हैं. किसी भी प्राचीन वाङ्मय में ऐसे संघर्षों का वर्णन उपलब्ध नहीं है. मिशनरियों का तोतारटंत अनुकरण करनेवाले पं. नेहरू ने ऐसी जनश्रुति फैला रखी थी कि नाग लोगों को शेष भारत से कोई लगाव नहीं था. यह बात ईसाई बने नागाओं के लिए सही कही जा सकती है. रानी गिडेलो जैसे नागाओं पर यह बात लागू नहीं होती. नागाओं का धर्म बताता है कि जड़ पदार्थों में भी आत्मा का वास है. केवल इसी बात के कारण मिशनरीजन यह प्रचार कर रहे हैं कि वे हिंदू नहीं हैं. परंतु 'सर्व भूमण्डल में आत्मा है', इस बात को माननेवाला हिंदू धर्म का भी यही तत्त्व है. पॅनाथिडिज्म का अर्थ है कि विश्व की किसी भी रूप की कोई भी वस्तु ईश्वर रूप है. इस कल्पना के 'अखिल विश्व ही जीवात्मक है' इस मान्यता के लिए पोषक स्वरूप ही है. नागाजन आत्मा को अमर मानते

हैं. परंतु वे ऐसा कतई नहीं मानते कि यह आत्मा अंतिम फैसले के दिन तक सोया रहता है और उस दिन ईश्वर उसे उठाता है. अतः ऐसा मानने में कोई हर्ज नहीं है. नागजनों की आत्मा के अमरत्व की कल्पना, संपूर्ण भारत में स्वयं को हिंदू न माननेवाले परंतु भारत में पनपनेवाले अन्य धर्मपंथों में भी पुनर्जन्म की ही कल्पना स्वीकृत की गई है. नागा अन्य हिंदुओं की तरह अनेकदेवतावादी तथा मूर्तिपूजक भी हैं.

नागा में अनेक बोलियाँ प्रचलित होने के कारण आपस में बोलचाल के लिए नागाजन हिंदी तथा असमिया भाषा का उपयोग करते हैं. हिंदी अखिल भारतीयता का एक बहुत बड़ा सहारा है. यह कहा जा सकता है कि यदि असम प्रांत की स्थापना हुई होती, तो असमिया भाषा का उपयोग करनेवाले नागाओं को असम में शामिल कर लेना बहुत मुश्किल बात नहीं थी. इसके अलावा नागाओं में अनेकानेक भेदाभेद हैं. इनमें आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं होता. अतः भारतीय राष्ट्रियता के खिलाफ सभी नागाजन एक होकर उठ खड़े होने की संभावना कतई नहीं थी.

स्वराज्य स्थापना के समय नागालैण्ड में केवल दो सौ ईसाई थे. यह कथन प्रसिद्ध असामी नेता का है. विश्वकोश बताता है कि अधिकांश नागाजन ईसाई बन गये थे. वह 1947 की स्थिति नहीं है. यह आँकड़ा पं. नेहरू के सत्रह वर्षों के शासन के बाद की स्थिति है.

संक्षेप में, नागा-समस्या नामक किसी तरह का प्रश्न उपस्थित ही नहीं था. अन्य समस्याओं की तरह ही उसे पं. नेहरू ने निर्माण किया था.

पं. नेहरू के बढ़ावे की वजह से ही मिशनरियों की भरमार मची हुई थी. उनका कहना था कि इस भरमार का परिणाम यह था कि मिशनरियों के खिलाफ पहल करने की इच्छा से अभिभूत संस्थाओं को नागाभूमि में प्रवेश मिलना भी दुष्कर होने लगा था. पं. नेहरू ने अपनी परामर्शदाताओं में रानी गिडेलो जैसे किसी भी हिंदू नागा को स्थान नहीं दिया था. उनके परामर्शदाता मुख्यतः मिशनरी ही थे. इसमें फादर एल्विन का नाम ख्यात है. मिशनरियों ने नागाभूमि में शिक्षा का कार्य अन्य प्रदेशों की तरह ही प्रारंभ कर दिया था. और उन्हें यह सीख देते रहे कि 'आप हिंदू नहीं हों, हिंदुओं ने आप पर अत्याचार किये हैं. नागालैण्ड एशिया का स्वतंत्र ईसाई राष्ट्र बन सकता है.' मिशनरियों ने नागाभूमि के पादरियों को एक परिपत्रक भेजा था. इसमें यह आवाहन किया गया था कि '5 अप्रैल नागा स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाय.' कई कत्लों के इल्जाम वाला नागा नेता पिडो के स्कॉट नामक मिशनरी व्यक्ति से गहरे ताल्लुकात थे. और यह स्कॉट पं. नेहरू की मर्जी का व्यक्ति था. ईसाई बने नागाओं ने पाकिस्तान से भी संपर्क बनाये रखा था.

पं. नेहरू के मन में हिंदी/हिंदुओं के प्रति डाहभाव था ही. अतः नागालैण्ड में से हिंदू धर्म और हिंदी के उच्चाटन के लिए पं. नेहरू ने मिशनरियों का साथ दिया था. उन्हें आशा थी कि कुछ लाख लोग यदि वे ईसाइयों झुण्ड में शामिल करा देंगे, तो ईसाई

देश उन्हें उनका नेता समझने लगेंगे। आगे चलकर जब भाषानुरूप प्रांतों की रचना की जानी थी, तब भी पं. नेहरू का प्रचार यही था कि नागा असमिया भाषा के खिलाफ हैं, उनकी भाषा अंग्रेजी और लिपि रोमन है। अतः उन पर असमिया या हिंदी भाषा 'लादी' न जाय। उन्हें असम में शामिल नहीं किया जा सकता। इसके व्यतिरिक्त 'वनवासियों की भाषा, धर्म व लिपि का संरक्षण किया जाना चाहिए।' इस प्रचार-वाक्य की आड़ में पं. नेहरू नागाओं के धर्म के रक्षण के बहाने उन्हें ईसाई बनाने में अधिक प्रोत्साहन दिये और भाषा व लिपि का मुखवटा पहना कर अंग्रेजों व रोमन वाचक बनाया! इधर पं. नेहरू ही स्वयं लोकसभा में कहते जा रहे थे कि मेरा मत यह है कि "नागाओं की भाषा नागरी लिपि में लिखी जाय। परंतु मैं क्या कर सकता हूँ? नागाओं की लिपि रोमन है और उन पर देवनागरी 'थोपना' इष्ट नहीं होगा।"

ब्रिटिशों ने युद्ध काल में कोहिमा से जापानियों को खदेड़ने के लिए नागाओं की सहायता ली थी। इस समय प्रयुक्त शस्त्रास्त्र नागाओं के पास शेष बचे हुए थे। उन्हें इस्तेमाल में लाते हुए नागाओं ने भारत के खिलाफ बगावत कर दी। पं. नेहरू ने सेना को प्रभावपूर्ण कदम उठाने से रोक दिया था। सेना को आदेश देकर उनके हाथ जकड़ ही दिये थे। पं. नेहरू का आदेश था— "नागाओं को जंगल में दबोचने का प्रयत्न मत करो, उनके खिलाफ मशीनगन्स व हवाई जहाज का इस्तेमाल मत करो; आप पर हमला हुए बिना, उन पर आक्रमण मत करो।" और इधर शेष भारत पर झूठी शिकायत करते रहे कि नागाओं की बगावत सेना द्वारा रोकी नहीं जा रही है। उन्हें राजकीय संतोष प्राप्त होना ही चाहिए।

पं. नेहरू ने नागभूमि के गवर्नर को पत्र लिखा। वह इस प्रकार है—

नागा अपनी ही स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाले आदर्शवादी हैं। वे अपराधी नहीं हैं। उनसे गुनाहगारों की तरह व्यवहार न करें। उन्हें आम तौर पर माफ कर दिया जाय, बहुत बड़े अपराध हो तो उन्हें नागा काउन्सिल के पास दर्ज करायें। (पुलिस या सेना के न्यायाधीश के पास नहीं क्योंकि इन स्थलों पर केवल हिंदुओं पर न्याय किया जाता है।)

दूसरे शब्दों में, किसी को भारत के खिलाफ बगावत करनी हो तो उसे घोषित करना होगा कि 'वह हिंदू नहीं है।' इससे वह ध्येयवादी कहकर पूजा जायेगा। पंजाब में खलिस्तान का आंदोलन इसी सोच की उपज है। हिंदू न होने पर यदि स्वयं ही राष्ट्रीयता बदल जाती है तो खलिस्तानियों ने भी यही कहा था, तब उन्हें नागाओं की तरह विशेषाधिकार क्यों नहीं मिले थे?

पं. नेहरू ने नागाओं का न्याय खलिस्तानियों पर लागू नहीं किया क्योंकि खलिस्तानी स्वयं को हिंदू कहलवाते नहीं थे, परंतु साथ ही वे स्वयं को ईसाई या मुसलमान भी नहीं मानते थे। इनकी जड़ें गुरु नानक और अन्य गुरुओं के साहित्य में, प्रकारान्तर से संपूर्ण भारत में फैली हुई हैं। अतः चाहे वे कितनी बार भी कह लें कि 'वे हिंदू नहीं हैं' परंतु अन्ततः हिंदुओं की 'गोबर संस्कृति' के एतद्देशीय ही कहलाते हैं न? अब वे भला ईसाई

या मुसलमानों जैसे अंग्रेजी व अरबी संस्कृति के 'अंतरराष्ट्रीय' थोड़े ही कहलाये जायेंगे!

यही भूमिका तमिल राष्ट्रवाद पर भी लागू होती थी। पं. नेहरू ने फिर एक बार गर्जना की कि 'विभाजन की बात करेंगे तो युद्ध का सामना करना होगा।' परंतु पं. नेहरू ने यही बात नागाओं से नहीं की थी। क्योंकि तमिल कितनी बार भी कह लें 'हम हिंदू नहीं हैं' फिर भी तिरुक्कल, मणिमेकले तथा शिलपाधिकारम के अलावा और कौन हैं, परंपरा के नाम पर जिन्हें वे उद्धृत कर सकेंगे? और फिर ये सभी वेद और अश्वमेघ की ही अर्थात् 'गोबर संस्कृति' की ही बातें करेंगे? उन्हें अंग्रेजों ईसाई नागाओं से क्या बराबरी कर पायेंगे?

पं. नेहरू हिंदुओं को तुच्छ मानते थे क्योंकि हिंदू उनकी पूजा करते थे। उनको जमीन पर लेटकर दण्डवत करते थे अर्थात् पं. नेहरू के हिंदुओं से संबंध मालिक व गुलाम जैसे थे। मालिक के मन में गुलाम के प्रति तुच्छता के सिवाय और क्या भाव रह सकते हैं?

पं. नेहरू ने खुले आम सारे नागाओं के सारे देशविरोधी कृत्यों को माफी घोषित कर दी थी, उनके खिलाफ सैनिक कार्यवाही भी बंद करा दी थी। और स्वयं ही इस कार्य के लिए अपनी पीठ थपथपा रहे थे।

पं. नेहरू चाहते थे कि उन्हें दुनिया का सर्वश्रेष्ठ पुरुष कहा जाय। अतः नागाओं के संदर्भ में ऐसे कदम उठाने के पीछे जो प्रेरणा छिपी थी, उसकी पुष्टि उनके इस एक वाक्य में हो जाती है। वे कहते हैं कि "दुनिया में ऐसा कोई भी राज्यकर्ता बगावतखोरों से इतने प्रेम भाव से व्यवहार नहीं करेगा।"

शेष सभी राज्यकर्ताओं के मन में एक ही भावना होती है कि वे उनके देश के हितों के रक्षक हैं। परंतु भारत की कमनसीबी यह है कि उसका राज्यकर्ता भारत के हितसंबंधों का उपयोग उसकी जागतिक छबि को प्रकाशमान बनाने की पूँजी के समान करता है।

पं. नेहरू के कारण एस. गोपाल को भी लगा कि बस, अब बहुत हो गया। वे लिखते हैं कि भारतीय सैनिक केवल खड़े ही हैं और केवल एक सौ पचास सशस्त्र नागाओं के हाथों में नागभूमि के सारे सूत्र हैं। यह बात भारत की दुर्बलता का प्रदर्शन ही जान पड़ता है।

नागाओं में कई पक्ष थे अतः राजकीय संदर्भों में भी उनमें एका निर्माण होने की संभावना कतई नहीं थी। साथ ही भारत से मुक्त होने की माँग मूलतः पं. नेहरू निर्मित थी अतः अधिक सर उठा नहीं सकी। अधिकांश नागा 1957 में कोहिमा में आयोजित नागा प्रजा परिषद में उपस्थित थे।

1962 में लोकसभा का तेरहवाँ संशोधन विधेयक मान्य किया गया था। उसके अनुसार धर्म, रीतिरिवाज, जमातियों की न्यायप्रणाली प्रादेशिक स्वायत्तता, आदि संदर्भों में नागाओं के प्रदेश को अभिरक्षा दी गई। और फिर सभी नागाओं की इच्छा से और 1947 के बाद ईसाई बने नागा और पं. नेहरू की इच्छानुरूप इस प्रदेश का नामकरण 'नागालैण्ड'

हुआ. इस तरह से चार लाख की आबादी तथा पाँच लाख की आमदनी वाला एक स्वतंत्र राज्य असम की गोद में अवतीर्ण हुआ. इसी तरह के लगभग आधा दर्जन राज्य पं. नेहरू ने असम की गोद में निर्माण किये और असम के टुकड़े-टुकड़े कर दिये. परंतु नागाजनों की स्वतंत्र संस्कृति को बनाए रखने की इस कोशिश में मिशनरियों पर नागाओं के ईसाईकरण पर कोई पाबंदी नहीं है. पं. नेहरू की चिंता मात्र इतनी ही थी कि वनवासीजन भारत के विशाल जनसागर में लुप्त न हो जाय. अधिक स्पष्टतः से बात कही जाय तो वह यह है कि पं. नेहरू भारत के जितने अधिक हो सके उतने समूहों को भारतीय एकता के चंगुल से छुड़ाकर उन्हें ईसाई, मुसलमान या कम्युनिस्ट बनाना चाहते थे.

अब कश्मीर की तरह ही नागालैण्ड में भी भारत का कानून लागू नहीं होता है. नागा के भारत में रहने पर भी उसे भारतीय कर के रूप में आयकर भरना ही नहीं पड़ता. वह भारत में रह सकता है किंतु गैरनागा भूमि में अपनी बस्ती नहीं जमा सकता.

जिन मिशनरी खुरापतों ने नागालैण्ड निर्माण किया, वही भारत को भी ईसाईलैण्ड बना सकते हैं. अतः तत्कालीन मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री रविशंकर शुक्ल ने मिशनरियों के कार्यों की पूछताछ करने के लिए न्यायमूर्ति नियोगी की अध्यक्षता में एक जाँच समिति की स्थापना की. इस समिति ने मिशनरियों के कार्यों को लोगों के समक्ष उघाड़कर रखा.

इस कारण रविशंकर शुक्ल तथा न्यायमूर्ति नियोगी दोनों ही पं. नेहरू के रोष के पात्र हुए. आगे चलकर पं. नेहरू ने रविशंकर शुक्ल की गरदानिया में भ्रष्टाचार का फंदा डाल दिया. यह तो नहीं कहा जा सकता कि रविशंकर एकदम साफ-सुथरे धुले चावल थे. परंतु प्रश्न यह है कि पं. नेहरू के प्रिय जनों में भी कौन भ्रष्टाचारी नहीं था? कृष्ण मेनन, के. डी. मालवीय. एम. ओ. मथाई, तेजा व प्रतापसिंह कैरो कौन-से निष्कलंक थे?

### तेलंगणा

ईसाई, मुसलमान के बाद अंतरराष्ट्रीय विचारधारा में तीसरी विचारधारा है—कम्युनिज्म. इस कारण पं. नेहरू यही सोचते थे कि कम्युनिस्ट प्रेरित देशद्रोह के पिछलगुई बनने पर उनकी अंतरराष्ट्रीय छबि अधिक स्पष्ट हो गयी थी. नागा तो केवल केन्द्र सरकार से अलग, स्वतंत्र होने की बात कर रहे थे. वे केन्द्र सरकार को नष्ट कर, उनके स्थान पर किसी दूसरे देश की सत्ता को स्थापित करना नहीं चाहते थे. परंतु तेलंगणा के विद्रोहियों को लोकतांत्रिक पद्धति से लोगों द्वारा चुनी गयी सरकार स्वीकार नहीं थी. उन्हें लोकतंत्र भी अस्वीकार था, अतः वे पूरी सरकार को ही नष्ट करना चाहते थे. उनकी निष्ठा किसी भी भारतीय तत्त्व या समूह से न होकर, कम्युनिस्ट राष्ट्र से थी. यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जो लोग यह कह रहे थे कि स्वयं पं. नेहरू जिस सरकार के प्रमुख हैं, वह सरकार पूँजीवादी है और उसका सफाया किया जाना चाहिए, इन्हीं लोगों को पं. नेहरू आदर्शवादी लग रहे थे. आंध्र प्रदेश के तेलंगणा प्रदेश में उद्भूत यह विद्रोह कम्युनिस्टों द्वारा संचालित

था. और भारत सरकार का सफाया करने के लिए वे रूस की सहायता प्राप्त करने कोशिश में जुटे हुए थे. परंतु तत्कालीन जानकारी के अनुसार यह कहा जाता है कि स्टालिन ने उन्हें 'विद्रोह मत करो' का आदेश दिया क्योंकि उन्हें लग रहा था कि शस्त्रों से लैस भारत सरकार के समक्ष उनका टिकना असंभव जान पड़ रहा था. ऐसी बातें खुलकर तो कोई करता नहीं है. अतः इस संदर्भ में प्रमाण प्राप्त नहीं किये जा सकते. परंतु इस विद्रोह के प्रति सहानुभूति भाव रखनेवाले लोगों का यही कहना था.

आंध्र प्रदेश में इस विद्रोह के स्वर तीव्र थे. परंतु त्रावणकोर, कोचीन, त्रिपुरा, मणिपुर, मलबार, बंगाल, बिहार, पूर्व उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र में भी उसकी प्रतिध्वनियाँ गूँज रही थी.

हैद्राबाद के बगावती वहाँ के राज्यकारों में शामिल हो गये थे और उन्होंने भारतीय सेना से दो-दो हाथ भी किये थे. कम्युनिस्ट कहते थे कि "बूजा सामंतशाही सरकार तथा हैद्राबाद के निजाम दोनों की लोकतंत्र की क्रांति की बढ़ती ताकत से रक्षा करने के लिए आई है."

कम्युनिस्टों के वाक्य, व्याकरण की दृष्टि से सही होते हैं किंतु उन वाक्य समूहों से कोई अर्थ समझा नहीं जा सकता. इसका यह बेहतरीन उदाहरण है. पर इन वाक्यों में पं. नेहरू को आदर्शवाद नजर आ रहा था.

इन कम्युनिस्टों ने रेल शासन यंत्र में बंद पुकार कर यातायात को तबाह करने की कोशिश की थी. पं. नेहरू स्वयंसेवी संघ को बतौर गाली फासिस्ट कहते थे. इसके विपरित तेलंगणा के बगावती स्वयं पं. नेहरू का वर्णन 'अमरिकी पूँजीपतियों के स्वार्थ के लिए मजदूरों के हित को आग में झोंकने का काम करने वाला फासिस्ट' कहकर कर रहे थे. जब पाम दत्त ने यह पाया कि पं. नेहरू भी कम्युनिस्ट सहप्रवासी हैं, तो उन्होंने 'इस बगावत को आगे बढ़ने से रोकें' यह सलाह दी. यह बात तीन वर्षों बाद घटित हुई.

यह जानना बड़ा ही रोचक होगा कि पं. नेहरू इस विद्रोह के बारे में क्या सोचते थे. उन्होंने कहा कि "कुछ अपराध हुए ही होंगे किंतु उनकी खबर हमेशा की तरह ही ली जाय." मतलब यह है कि हर मुकदमा का निर्णय लेने में दस-दस वर्ष गुजर जाय. जिन्हें सजा सुनाई गई थी उनकी सजा माफ करवाने के लिए पं. नेहरू ने अपने पद का भी इस्तेमाल किया. इस बगावत में शामिल लोगों में से कोई भी फाँसी के तख्ते पर लटकाने की बात सुनाई न दी. इस समय कम्युनिस्टों के प्रसिद्ध व विरोधी के रूप में जाने गये राजगोपालाचारी गव्हर्नर जनरल थे. उन्होंने कहा कि "जो विदेशी, खासकर रूसी देशवासी इन बगावतखोरों का साथ निभा रहे हैं, उन्हें देश के बाहर खदेड़ा जाना चाहिए." पं. नेहरू ने इस सूचना का कसकर विरोध किया.

ब्रिटिशों के समय ऐसे विप्लवों के दलन में सैनिकी न्याय की दुहाई दी जाती थी. सैनिकी न्याय के समय हर व्यक्ति के खिलाफ अलग प्रमाण खोजने की आवश्यकता

नहीं होती है। बगावत में शामिल होने का प्रमाण ही काफी है और गुनाहगार अंतिम निर्णय के लिए सटीक मान लिया जाता था। बगावतखोरी के इल्जाम मात्र से हजारों हूर जनों को वृक्षों पर लटका दिया गया था। इससे हुआ यह कि हूर जनों का विद्रोह एक सप्ताह में ही खत्म भी हो गया। मोपला के विद्रोह के लिए भी इसी तरह से गुरखा सैनिकों को भेजा गया और मोपला जमात के दल पर दल कैदखाने के कमरे में ऐसे टूँसे गये थे कि सभी घुटकर मर गए और उनका विद्रोह खत्म कर दिया गया। स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी खलिस्तानी अत्याचारों के संकट को सैनिकी न्याय से ही कुचला गया था। ऐसा न होता तो आज के नक्षलवादियों के विद्रोह की तरह ये सभी शाश्वत पेटदर्द की तरह कसकते रहते।

### गोवा-मुक्ति के बाद

गोवा-मुक्ति के बाद गोवा को महाराष्ट्र में शामिल की जाने की माँग ने जोर पकड़ा। एन्सायक्लोपिडिया ब्रिटानिका में गोवा की भाषा कोंकणी को मराठी की बोली (देश) भाषा कहा गया है। पं. नेहरू अन्य सभी बातों के लिए एन्सायक्लोपिडिया का अभिमत ग्राह्य मानते थे परंतु इस मामले में इस अभिमत को उन्होंने अग्राह्य माना। जब गोवा के चुनावों में महाराष्ट्रवादी गोमांतक पक्ष बार-बार जीतता रहा, तो स्पष्ट है कि गोवा की जनता महाराष्ट्र में विलीन होना चाहती है। कोंकणी का उपयोग गोवा के घरों तक ही सीमित था और शिक्षा में सभी जगहों पर मराठी का उपयोग हो रहा था। पं. नेहरू का कहना था कि “गोवा की संस्कृति पोर्तुगीजों की है और गोवा के महाराष्ट्र में विलीनीकरण होने से मराठी संस्कृति पोर्तुगीज संस्कृति को निगल लेगी。” बड़ी ही आश्चर्य की बात लगती है कि पं. नेहरू को एक ओर ईसाई संस्कृति के द्वारा नागा संस्कृति को निगल जाने पर कोई आपत्ति नहीं है तो दूसरी ओर वही शख्स पोर्तुगीज सत्ता, जिसने गोवा को उसकी पुरातन संस्कृति से बलपूर्वक और दगाबाजी के साथ अलग कर डाला था, उसके अस्त हो जाने के बाद भी गोवा के मराठी जनों द्वारा अपनी मूल संस्कृति की ओर लौटने पर रोक लगाना चाह रहा था। पं. नेहरू यह मानते हैं कि पाँडेचेरी की संस्कृति फ्रेंच, गोवा की पोर्तुगीज और शेष भारत की संस्कृति अंग्रेजी कहलाती है। जब उनसे पूछा गया कि ‘हिंदु संस्कृति किनकी है?’ तब उनका जवाब था कि ‘मैंने इसका नाम कभी पहले सुना भी नहीं है।’

गोवा की संस्कृति धर्माधारित है। पं. नेहरू का मानना है कि पोर्तुगीज संस्कृति के उत्तराधिकारी गोवा के ईसाईजन हैं। परंतु अब गोवा-मुक्ति के बाद गोवा का ईसाई वर्ग महसूस कर रहा है कि अब उन्हें उनकी पुरातन संस्कृति की ओर वापस लौटना चाहिए। अतः हेन्री विश्वनाथ अब स्वयं को सिर्फ विश्वनाथ कहने लगा। परंतु नेहरू और उनकी कांग्रेस ने इसके विपरित प्रचार आरंभ किया। आगे चलकर महाराष्ट्र में विलीन होने, न होने के संदर्भ में जनमत लिया गया तब कांग्रेस ने जोश के साथ प्रचार किया कि गोवा की संस्कृति पोर्तुगीजों की है और उसे महाराष्ट्र में विलीन नहीं किया जाना चाहिए। परिणामतः गोवा महाराष्ट्र में विलीन नहीं हुआ और भारतीय राष्ट्रीयता के प्रमुख प्रवाह से बाहर ही रहने की आकांक्षा

रखनेवाला एक बड़े समूह का निर्माण किया गया।

पं. नेहरू द्वारा ‘हिंदू राष्ट्र’ शब्द का प्रयोग होना असंभव ही था। उन्होंने ‘भारतीय राष्ट्रीयता का मुख्य स्रोत’ आदि शब्द प्रयोग भी कभी नहीं किये। फिर भी कुछ विचार उनके दिमाग में टूँस टूँस कर भरे हुए थे कि “अहिंदू कहलानेवाले सारे अल्पसंख्यकों पर हिंदुओं के लिए केन्द्र सरकार द्वारा पारित कोई भी कानून लागू किया जाना ऐतराजी की बात नहीं है परंतु अहिंदुओं पर लागू करने का मतलब यह होगा कि अल्पसंख्यकों की स्वायत्तता पर हमला बोला जाना। नागा हिंदू नहीं थे अतः भारत से अलग होने की उनकी माँग सही है。” उनके मन को यह बात कभी छू ही नहीं सकी कि “यदि हिंदू राष्ट्र ही नहीं है तो अहिंदुओं को अल्पसंख्यक कैसे कहा जायेगा?” अल्पसंख्यक शब्द का अर्थ ही है, राष्ट्रीयता के मूल स्रोत से परे या बाहर। यदि हिंदू समाज को अखंड नहीं माना जायेगा तो ब्राह्मणों को भी अल्पसंख्यक क्यों नहीं कहा जा सकता?

□ □



## ॥ समाज-सुधार या समाज-विप्लव ॥

### जातिभेद के खिलाफ शोरगुल/शोरशराबा

पं. नेहरू ने संविधान सभा के उद्देश्यों-लक्ष्यों को सूचित करनेवाला एक प्रारूप तैयार किया था. इस प्रारूप में अल्पसंख्यक, पिछड़ी जाति, पिछड़ा वर्ग तथा शेष कबीलों या जनजातियों का उल्लेख किया गया है. अल्पसंख्यक शब्द के अर्थ से यह ज्ञात होता है कि समाज के किसी भी वर्ग को अल्पसंख्यक घोषित करना या न करना यह उसकी संख्या पर निर्भर है. परंतु ऐसा नहीं होता. फिर ब्राह्मण वर्ग भी अल्पसंख्यक ही कहलायी जायेगी. उसी तरह का समूह पिछड़ापन अर्थात् अर्थार्जन के संदर्भ की असमर्थता, अशिक्षित तथा कम आयुरेखा आदि के कुल जोड़ से बने व्यक्तियों का समूह. क्योंकि संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार यही तीन बातें हैं, जो विकास की कसौटी कहलाती हैं. परंतु इस कसौटी पर भिक्षुकों का वर्ग पिछड़ा हुआ माना जायेगा.

आम तौर पर भिक्षुक बहुत ही गरीब होते हैं, विशिष्ट विधियों के लिए आवश्यक मंत्रों के अर्थ जाने बिना ही रट लें तक ही उनकी शिक्षा हुई होती है. वह अपनी मातृभाषा के अक्षर पढ़ लेता है. परंतु परंपरा से चले आये मुंशी-काम के लिए भी उसकी साक्षरता अधूरी ही होती है. चाणक्य ने 'मुद्राराक्षस' में लिखा है कि "भिक्षुक द्वारा प्रयत्नपूर्वक लिखे गये अक्षर नाँचना बहुत मुश्किल काम है." विकास का तीसरा निकष है— आयुर्मान. परंतु भारत में किसी भी पिछड़े वर्ग की आयु सीमा कितनी होगी, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता. पं. नेहरू ने जाति के आधार पर मनुष्य गिनति के लिए मना कर रखा था. अतः जातियों के बारे में किसी भी सच का जानना असंभव ही हो गया है. किसी भी जाति की आर्थिक-शिक्षागत-स्वास्थ्यगत स्थिति को जानने के लिए आँकड़े ही उपलब्ध नहीं हैं. पं. नेहरू इस बात को कतई नहीं मानते थे कि सच को जानने के लिए निरीक्षण की जरूरत होती है. क्योंकि उनके परमपूज्य मार्क्सवाद के विचारानुसार सर्वेक्षण के कोई माने नहीं हैं. मार्क्सवादी लेखों में 'पूँजीवाद', 'सामंतशाही' आदि पर विश्वासपूर्ण वक्तव्य दिये जाते हैं. परंतु यह स्थिति किस देश में, किस काल में प्रचलित थी तथा इस स्थिति में लोगों की शिक्षा, आयु-सीमा, आमदनी क्या थी इस बारे में तिनके बराबर भी सबूत दिया नहीं गया है. क्योंकि मार्क्सवाद के प्रतिपादन के अनुसार सर्वेक्षण सत्य के ज्ञान का मार्ग नहीं है, सत्य का साक्षात्कार विरोध-विकासवाद से होता है. पं. नेहरू की भी यही श्रद्धा थी. किसी भी वाद का आश्रय ले लीजिए, सच का ज्ञान हो जायेगा. फिर यह वाद 'पुरोगामी' होगा तो ज्ञान ही ज्ञान की झड़ी लगी रहेगी और 'प्रतिगामी' होगा, तो अज्ञान का साम्राज्य रहेगा. अभिप्राय यह है कि विकास के मानदण्डों को मद्देनजर न रखकर कुछ समूहों को

सुधारित और कुछ समूहों को पिछड़े हुए घोषित किया गया है. वन्य कबीलों में शामिल कुछ जनजातियों ने वनों में कभी वास किया ही नहीं था. उदाहरणार्थ, गोंड जाति. इन्हें पिछड़ा हुआ कहा जाता है किंतु स्वराज्य प्राप्ति से पूर्व इन्हें पिछड़ा हुआ कहा जाना पसंद नहीं था. वे कहते थे कि 'हमने राज्य का शासन संभाला है', 'हम क्षत्रिय हैं'. अतः इस वर्गीकरण की कोई नींव नहीं है. अंग्रेजों द्वारा किए गये इस वर्गीकरण की स्वराज्य प्राप्ति के बाद बारीकी से जाँच-पड़ताल होना आवश्यक था. परंतु यह काम 'अंतिम अंग्रेज' के बूते से परे की बात थी. इसके लिए तो पक्का राष्ट्रवादी होना जरूरी है.

स्वराज्य प्राप्ति के बाद उपरोक्त समूह अलग-अलग आचरण के बल पर योग्य मान लिये गये हैं कि इन सबको यदि मिलाकर एक कर दिया जाय, तो यही लोग बहुसंख्यक हो जायेंगे. मंडल अहवाल से तो शायद कोई भी कबीला पिछड़ेपन के मुखौटे से शेष नहीं रहा है.

ऐसा होता है, तो स्वभावतः यह तय हो जाता है कि भारत में लोकतंत्र लागू नहीं हुआ है. क्योंकि लोकतंत्र का प्रमुख तत्त्व यही है कि हर व्यक्ति समान है. कुछ व्यक्ति एक के साथ तो दूसरे दूसरों के साथ, कुछ पचास के साथ तो कुछ सौ के साथ हो तो लोकतंत्र लागू नहीं हो सकता. संविधान में ऐसी बातें, जिनसे लोकतंत्र ही असंबद्ध हो जाय, शामिल कराने में पं. नेहरू का बहुत बड़ा हाथ था.

संविधान सभा में हुई चर्चा के अनुसार अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण दस वर्षों के बाद समाप्त कर देना था. परंतु प्रकाश अम्बेडकर कहते हैं कि— "डॉ. अम्बेडकर द्वारा इस सूचना का समर्थन केवल राजनीतिक आरक्षण के संदर्भ में था, सरकारी नौकरियों के लिए नहीं." परंतु सभा में अधिकांश सदस्यों का स्वर संपूर्ण आरक्षण के खिलाफ ही था. आरक्षण का उद्देश्य था, दुर्बल वर्ग को स्वयं को सशक्त बनाने के लिए अवसर उपलब्ध करा देना. अर्थात् यह वर्ग कभी भी सशक्त नहीं बनेंगे या उन्नति नहीं कर सकेंगे, यह मानकर आरक्षण को संविधान का शाश्वत अंग बनाया नहीं जा सकता.

वास्तव में यह सोचा जाना अधिक महत्त्व का होगा कि अंग्रेजों द्वारा ऐसे आरक्षण दिलाने में उनका अंतर्गत हेतु क्या था? क्या वे दुर्बलों को उनका सुधार करने का मौका देना चाहते थे? या भारतीय समाज के अनेकानेक ईकाइयों में कलह निर्माण करना चाहते थे! यह बात अगर सच है कि अनुसूचित जातियाँ शिक्षित न होने के कारण पिछड़ी कहलायी जाती थीं और उन्हें सरकारी पदों पर नौकरी नहीं मिल पाती थी, तो भला शिक्षा के प्रसार में आरक्षण का क्या काम? कहते हैं कि शिक्षित होने पर सरकारी नौकरी मिलती है, इस बात का ज्ञान इन जातियों को आरक्षण के कारण हुआ. तो क्या यह कहा जा सकता है कि इससे पहले उन्हें ज्ञात ही नहीं था? इस प्रश्न का हल यून नहीं हो सकता. हमें प्रथम यह सोचना होगा कि शिक्षा प्राप्त करने की हैसियत ही नहीं थी और वे शिक्षा के संदर्भ में पिछड़े रह गये. अतः योग्य विद्यार्थियों की जाति के बारे में न सोचते हुए उन्हें छात्रवृत्ति

दी जाय. यदि इस बात को भी हम सच मान लें कि इन जातियों को अछूत माना जाने के कारण वे अन्तों के साथ बैठकर पढ़ नहीं सकते, तब भी इस मामले में आरक्षण की भूमिका क्या रहेगी? क्या समस्या हल हो जायेगी? कतई नहीं. इसके विपरित ऐसी जाति हमारी नौकरी को छीन लेनेवाली जमात कहलायी जायेगी और क्या इस जाति के प्रति ड्राह की भावना के अधिक प्रज्वलित होने की संभावना नहीं बढ़ेगी?

पिछले पचास वर्षों में आरक्षण के कारण हरिजनों में सुधार आया होगा, तो आरक्षण बंद किया जाना चाहिए. और उनमें सुधार नहीं आया होगा, तब भी आरक्षण को समर्थन देना कोई मायने नहीं रखता है. पचास वर्षों की कालावधि, जिसमें आधी अंग्रेजियत और आधी मराठेशाही थी, किसी भी जाति में सुधार लाने के लिए क्या यह अवधि पूर्ण नहीं है? अनुसूचित जातियाँ पिछले पचास वर्षों में काफी हद तक शिक्षित हुई हैं, इस बात को हम मान भी लें, तो इसका श्रेय आरक्षण को कतई नहीं जाता. हाल ही में स्वतंत्र हुए सभी देशों के सभी समाजों में शिक्षा से सुधार हुआ ही है, यह बात गलत है कि केवल अनुसूचित जमात में ही सुधार हुआ है. अतः यह कहना सर्वथा गलत होगा कि जो भी सुधार हुआ वह आरक्षण की वजह से हुआ, इसके विपरित आरक्षण पिछड़ेपन के लेबल के सहारे सुविधाओं को मुफ्त में पाने का परवाना ही बन गया है.

अनुसूचित जातियों के पिछड़ेपन का एक कारण अस्पृश्यता हो सकता है. परंतु शेष जातियों का क्या? उनके पिछड़ेपन के लिए अन्य जातियों क्यों कर जिम्मेदार ठहरायी जाये? उन पर आरोप लगाया जाता है कि ब्राह्मणों ने उन्हें पीछे ही रखा. मुट्टी भर ब्राह्मण और सारे समाज को पीछे खदेड़ने की सामर्थ्य उन्हें प्राप्त होने के लिए, क्या वे सत्ताधारी थे? ऐसी संपूर्ण सत्ता ब्राह्मणों के हाथ कब थी? पेशवाओं की सत्ता, केवल पश्चिम महाराष्ट्र के कुछ ही जिलों तक सीमित थी. वह भी तब जब वे छत्रपति शिवाजी के केवल नौकर नहीं थे और स्वयं सत्ताधारी बने थे. यह अवधि सन् 1750 से 1818 याने केवल 68 वर्षों की है. शिंदे, होलकर, भोसले आदि पेशवाओं की परवाह भी नहीं करते थे. उनके बीच युद्ध भी होते थे. अतः शेष जातियों के पिछड़ेपन के जिम्मेदार यदि पेशवाओं को मान भी लिया जाय तो उनकी सीमा केवल चार आठ जिलों तक ही सीमित थी. यह बात शेष भारत पर लागू नहीं की जा सकती. इसके अलावा 1818 के बाद यह कारण भी लुप्त हो गया और 1947 तक लगभग 130 वर्षों तक संपूर्ण सत्ता अंग्रेजों के हाथ थी. इतनी सत्ता, इतनी लम्बी अवधि, क्या इन जमातियों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए काफी नहीं होता?

एक फैशन यह भी है कि मनुस्मृति ने ब्राह्मणशाही हजारों साल पहले शुरू कर दी थी. अतः मात्र पेशवाओं के बारे में सोचना ठीक नहीं होगा. परंतु शिवाजी से पूर्व भारत में सर्वश्रेष्ठ सत्ता मुगलों की थी, उससे पहले तुर्की व अफगानियों की थी. अर्थात् 13 वीं सदी से 17 वीं सदी तक अर्थात् 500 वर्षों तक ब्राह्मण या हिंदुओं की कोई भी जाति शेष जाति को पिछड़ा ही रखने का कर्म करने के लिए समर्थ नहीं थी.

इससे एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि जो इतिहास की नीवरहित अभिमतों पर आधारित नीति, अंग्रेजों से विरासत में मिली थी. ऐसा सोचा भी नहीं गया था कि भारतीय नेता उसे जस का तस अपना कर कार्यान्वित करने की दुर्बुद्धि का अवलंबन करेंगे. यदि हम कहें कि ऐसी निर्बुद्धता उन्होंने नहीं की, तो वरिष्ठ जातियों में, केवल ब्राह्मणों, अछूतों के और ब्राह्मणोत्तर वर्ण के पिछड़ेपन का जिम्मेदार भी ब्राह्मणों को नहीं ठहराया. संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण मान्य किये जाने के बाद भी शिकायत यह थी कि शेष जातियों के लिए आरक्षण की सुविधा उपलब्ध नहीं करायी गयी थी. यहाँ पिछड़ी 'जाति' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था, पिछड़ा 'वर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है. परंतु वर्ग का अर्थ जाति से जोड़कर सारी व्याख्याएँ की जाती रही और यही कारण है कि जब तमिलनाडू सरकार द्वारा एक उम्मीदवार को ब्राह्मण होने के कारण उसकी नौकरी को नकारा गया था, तो सरकार के इस कृत्य को तमिलनाडू के उच्च न्यायालय ने असंवैधानिक करार दिया था.

इस निर्णय की पं. नेहरू ने आलोचना की और कहा कि "जाति के बल पर पक्षपात नहीं किया जाने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि दुर्बल वर्ग की सुरक्षा के लिए पक्षपाती व्यवहार नहीं किया जायेगा." पं. नेहरू का प्रभाव इतना गहरा था कि आगे चलकर कुछेक न्यायालयों ने 'भारत के संदर्भ में पिछड़े वर्ग' का अर्थ पिछड़ी जातियाँ ही कहकर स्वीकारोक्ति स्वरूप अपने निर्णय दिये हैं.

भारतीय समाज एक नहीं है, वह अनेक छोटी-छोटी जमातों की सतनजा है. परंतु नेहरूवादी विचारधारा ने भारत में कलह को पनपाया. आम तौर पर, पेशवाओं की निंदा इसलिए की जाती है कि अनुसूचित जातियों की छूत से पेशवाओं को बचाने के लिए वे स्वयं ही ढोल पीटते हुए रास्तों से गुजरने की प्रथा शुरू की थी. परंतु यह रीति पेशवाओं की नहीं थी. इसके विपरित नेहरूवादी भारत में अनुसूचित जमातियों के कत्ल होने लगे थे. दूसरी जाति के लोगों के कत्ल के लिए सेना बनाई गई, बिहार में रणबीर सेना व दलित सेना आदि इसके उदाहरण हैं.

पं. नेहरू के जातिवाद संबंधी नीति का उनके उत्तराधिकारियों ने भी जोश के साथ समर्थन किया. और इस प्रकार के कानून पारित करवाये—

1. अनुसूचित जाति के व्यक्ति के प्रति गैरअनुसूचित जाति के व्यक्ति द्वारा, जाति के संदर्भ में, अपशब्द का प्रयोग करना गुनाह है. परंतु अनुसूचित जाति के व्यक्ति गैर अनुसूचितों के लिए अपशब्द का प्रयोग करें, तो वह गुनाह नहीं कहलाया जायेगा.
2. इस गुनाह को साबित करने की जबाबदेही भी अनुसूचित जाति के व्यक्ति की नहीं. अभिमत व्यक्त होने के बाद अभियुक्तों की जिम्मेदारी है कि उसे वे झूठा साबित करें. वस्तुतः यह फौजदारी (कोतवाली) कानून के मूलभूत

सिद्धांत के खिलाफ है। इस कानून के उभरते अर्थ से मराठवाडा में अनुसूचित जाति तथा गैर अनुसूचित जातियों के बीच दंगे भड़क उठे हैं।

3. अनुसूचित जातियों के खिलाफ शेष जातियों का व्यवहार निम्नलिखित तरीके का हो, तो वह अपराध है—

- (क) दूषित पदार्थ खाने पर बल देना,
- (ख) देह पर या देह के निकट दूषित पदार्थ फेंकना,
- (ग) वस्त्रहीन अवस्था में गली-गली घूमना,
- (घ) अनुसूचित जाति के व्यक्ति की जमीन को हड़प लेना,
- (ङ) बेगार धरना या बंधुवा बनाना?,
- (च) अनुसूचित स्त्रियों से छलावा या छलकपट करना।

इस कानून का अर्थ यह है कि अनुसूचित जाति के व्यक्ति को उपरोक्त सारे व्यवहार करने के लिए लाइसेंस ही मिल गया है।

अन्य किसी भी देश में इतने घृणास्पद या निंदनीय कानून बनाये गये होंगे, ऐसा नहीं लगता।

ऐसे कानून बनाने और समक्ष रखने के पीछे पं. नेहरू के बाद के राजनेताओं का उद्देश्य यही रहा होगा कि उन्हें अनुसूचित जातियों से पोटलीभर/पुल्लिंदा भर या गठरी भर के मत प्राप्त होंगे। पं. नेहरू को इन रास्तों से मत प्राप्त करने की जरूरत नहीं थी। क्योंकि चुनाव हारना, उनके लिए असंभव बात थी। अर्थात् पं. नेहरू भारत के किसी भी मतदाता के वर्ग को खुश करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं कर रहे थे। वे तो ईसाई व इस्लामी इन दो धर्मों में, प्रमुख रूप से विभाजित भारत से बाहर की दुनिया को खुश करना चाहते थे। जिस हिंदू समाज से उन्हें ड्राह थी, उनमें झगड़े होते रहें। यही पं. नेहरू की सोच थी। साथ ही वे यह भी सोचते थे कि उन्हें स्वयं में शामिल कर लेनेवाले ईसाई मिशनरी और इस्लामी तबलीघ (पीर-खुजा) आदियों की पूरी सहायता मिलेगी। पं. नेहरू की नीति जब भी भारत को हिंदुस्थान बनने से रोकने के लिए बनी थी, तब वे यह भी चाहते थे कि ये सभी उनको नेता मानें।

### दो पत्नियाँ होना खून करने के बराबर है

ऐसा कोई नहीं कहता कि समाज सुधारकों के क्रोध का केन्द्र बिंदु जाति व्यवस्था है। उसी तरह हिंदुओं के विवाह संबंधी रूढ़ियों से भी उन्हें चिढ़ है। परंतु जातियों को नष्ट करने का उद्देश्य न्याय्य माना जाय तो उपरोक्त कानून भी न्याय्य साबित नहीं होते। उसी तरह हिंदुओं की विवाह संबंधी रूढ़ियों में संशोधन करने की जरूरत महसूस होती हो तो भी, पं. नेहरू द्वारा निर्मित कानून को न्याय्य कहना सही नहीं होगा।

ईसाई धर्म में बहुपत्नीत्व का कड़ा विरोध किया गया है। इसके लिए ईसाई देशों में काले पानी की सजा दी जाती है। यँ तो एक से अधिक स्त्रियों को पत्नी का दर्जा देना

यह भी खून करने जैसी ही एक मूल्य विकृति है। खून करने वाला व्यक्ति अपने ही स्वार्थ के लिए दूसरे के पास जो कुछ मौल्यवान जीवन होता है, उसका ही हरन कर लेता है। इस प्रवृत्ति को समाज निंदनीय न माने और किसी को भी अपनी मर्जी के अनुसार, दूसरों की जान लेने की छूट मिल जाय तो समाज विश्रुंखलित हो जायेगा। क्या बहुपत्नीत्व भी अपने ही स्वार्थ के लिए दूसरों के प्राणों पर डाका डालने जैसा है? स्त्रियों की मर्जी के खिलाफ उनका ब्याह करवा देने की रीति प्रचलित नहीं है। पति यह पत्नी का पालक है। यदि ऐसा माना जाय कि उसकी और उसके बच्चों की जिम्मेदारी पति की ही है, तो एक से अधिक पत्नियों का होना भी, एक से अधिक संतान होने जैसा ही है। इसमें खून करने जैसा कोई जघन्य अपराध घटित नहीं होता। यह मानना गलत है कि अनेक पत्नियों वाले पुरुष का वैवाहिक जीवन स्त्रियों के आपसी झगड़े व परिणामतः स्वयं से झगड़ने व सहने में अधिक व्यतीत होता है। जिस समाज में ऐसी रीति प्रचलित ही है, वहाँ सौत की अपेक्षा देवरानी-जेठानी में अधिक कलह उत्पन्न होता है। क्योंकि सौतों का स्वार्थ एक ही पति होने के कारण वे एक दूसरे से बँधी हुई होती हैं। जबकि देवरानी-जेठानी के पति भिन्न होने के कारण उनके स्वार्थ एक दूसरे से निगडित नहीं रहते। पति व्यभिचार करता है तब स्त्री को दुःख होता है क्योंकि एकपत्नीव्रत का स्वीकार करने पर दूसरी स्त्री में रममाण होना, विश्वासघात कहलाता है। यह स्थिति पत्नी के प्रति प्रेम-भाव कम होने या नष्ट होने का प्रमाण भी कहलाया जा सकता है। समाज में खुले आम बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित होने के कारण पति यदि दूसरी पत्नी कर भी लेता है तो प्रथम पत्नी का मन उपरोक्त प्रकार की भावना का शिकार नहीं बनता। इसके विपरित मनोवैज्ञानिक किन्से के सर्वेक्षण के अनुसार पुरुष की कामवासना स्त्री की तुलना में चौगुना है, अतः दूसरी पत्नी के होने पर प्रथम पत्नी से वह श्रृंगार नहीं करेगा ऐसी संभावना बहुत कम होती है। इसके विपरित श्रृंगार की उकताहट नष्ट होने के कारण वह अधिक उत्साह के साथ प्रथम पत्नी में रममाण होने की संभावना होती है। अपना पति सालों साल से दूसरी स्त्री की देहलीज चढ़ता है, यह बात स्त्री को बाहर से ही पता चलती है। उसके द्वारा स्वयं उससे हुए आचरण से उसे पता नहीं चल सकता या संदेह भी नहीं आ सकता। ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ सच का पता चलने पर क्रोध का प्रथम कारण 'मेरा विश्वास तोड़ दिया' इस अहसास की दुस्सहता होती है।

बहुपत्नीत्व को हम आदर्श नहीं मान सकते क्योंकि स्त्री-पुरुषों की संख्या साधारणतः एक ही होने के कारण एकपत्नीत्व व्यवहार्य है। इसके अलावा एकनिष्ठा का अर्थ ऊब या उकताहट मान लेना सही नहीं है। एकनिष्ठ प्रेम बहुगामी प्रेम की तुलना में कम आवेशपूर्ण प्रतीत होने पर भी, उससे अधिक गहरा या गहन होने की संभावना अधिक होती है। गहरेपन में उथला शोरगुल नहीं होता वहाँ गंभीरता व स्थिरता होती है।

एकपत्नीत्व को आदर्श माना जाने पर यह सर्वथा गलत होगा कि बहुपत्नीत्व को गुनाह माना जाय। इसे ईसाई समाज की अंधी नकल ही कहा जायेगा।

एक पुरुष की दो स्त्रियाँ होना, अनैतिक नहीं कहलाता उसी तरह एक स्त्री के दो पति होना भी अनैतिक नहीं है। दो पुरुष एक स्त्री के साथ स्वेच्छा से रहना चाहते हों तो कानून को वहाँ रूकावट नहीं बनना चाहिए। यह मानना नितांत गलत होगा कि वह स्त्री उस पुरुष का संपूर्ण पालन-पोषण करने में सक्षम होगी, तो उस पुरुष के प्रेम में साझेदारी हो रही है, ऐसा सोचकर सभी पुरुषों में विस्फोट हो जायेगा। यह प्रश्न संस्कारों से निगड़ित है। बहुपत्नित्व की प्रथा आज भी हिमाचल प्रदेश, सिक्किम आदि प्रांतों में प्रचलित है। ऐसा देखने-सुनने में भी नहीं आता है कि वहाँ का वैवाहिक जीवन एकविवाहित युगल के वैवाहिक जीवन से अधिक कलहपूर्ण है।

कानून को चाहिए कि वह ईसाई धर्म के अंधविश्वासों को प्रमाण मानकर बहुपत्नीत्व को खून करने जैसा गुनाह मानने के बजाय, प्रथम पत्नी के हितों की रक्षा की व्यवस्था करे। प्रथम पत्नी सहर्ष पति के दूसरे विवाह के लिए हामी भरती हो या नहीं तब ऐसा कुछ सोचकर कदम उठाया जाय और दूसरी पत्नी के आने पर पति द्वारा उसके प्रति लापरवाही बरती जा रही हो, तो उसे उसके खिलाफ सुनवाई करने की सुविधा उपलब्ध हो जाने पर बहुपत्नीत्व की प्रथा में स्त्रियों का जीवन दुःखी नहीं बनेगा।

परंतु पं. नेहरू भले ही विज्ञाननिष्ठा पर कितनी भी बातें कर लें वे वैज्ञानिक वृत्ति से कोसों दूर थे। उनका समीकरण था विज्ञाननिष्ठा बराबर अंग्रेजनिष्ठा। उन्होंने कभी इस बात का पता लगाने की कोशिश नहीं की कि बहुपत्नीत्व प्रथा के कारण हमारे समाज की स्त्रियों को क्या-क्या नहीं झेलना पड़ा है। यह भी कोई बात होती है कि उनके खिलाफ कानून बनाते समय उन स्त्रियों को अधिकाधिक संरक्षण प्राप्त हो इसका एहतियात भी नहीं बरता गया था। इस कानून के तहत बहुपत्नीत्व के अपराध के खिलाफ शिकायत करने का अधिकार केवल प्रथम पत्नी को प्राप्त है, पुलिस को नहीं। परंतु ऐसी शिकायत दर्ज कराने में भला पत्नी को क्या लाभ मिलना था? यदि वह पूरी तरह से पति पर अवलंबित हो, तो पति के सात साल कारावास के काल में वह स्वयं ही निराधार हो जायेगी! अतः जो स्त्री पति पर निर्भर नहीं है, वे केवल बदले की भावना से पति को सात वर्ष की सजा भुगतने जेल में भेज सकती हैं। इसके अलावा ऐसी व्यवस्था का प्रावधान कानून में होना चाहिए कि पति के दूसरा ब्याह करने पर भी प्रथम पत्नी पहले जैसा ही जीवन यापन कर सके, ऐसी व्यवस्था उसके पति को ही करनी होगी। ऐसा होने पर ही 'पति बिना दूजा न कोय' वाली स्त्रियों का भला हो सकेगा।

मेरी ही नजरों के समक्ष घटित एक उदाहरण देता हूँ, एक अमरिकन उपाधिविभूषित स्त्री ने आज के रीति के अनुरूप पैंतीस वर्ष की आयु में विवाह किया। एक वर्ष भी पूरा होने से पहले ही उसने अपने पति के खिलाफ बहुपत्नीत्व की नालिश सुनाई। पति ने न्यायाधीश से स्पष्टतः कह दिया कि उसके फियरिदी के गिनकर दो ही नहीं, तीन स्त्रियों से संबंध हैं। परंतु इन तीनों में से किसी के भी साथ उसने विवाह नहीं किया है। अतः बहुपत्नीत्व

के कानून के तहत उसने कोई गुनाह नहीं किया है। नालिश करनेवाली स्त्री यह साबित नहीं कर पायी कि आरोपित व्यक्ति से उसका विवाह हुआ था। क्योंकि न्यायाधीश महोदय भी पं. नेहरू प्रणीत कानून के अनुसार पौरविवाह का प्रमाणपत्र की माँग कर रहे थे। परंपरागत हिंदू कानून के अनुसार यहाँ जनश्रुति को प्रमाण नहीं माना जा सकता था। यह युगल जब प्रथम मेरे पास आये थे, तब उन्होंने एक दूसरे की पहचान पति-पत्नी के रूप में ही करवायी थी। इसके बाद भी कई बार वे मेरे पास आते रहे हैं। सभी से वे अपना परिचय पति-पत्नी के रूप में ही करवाते रहे। परंतु न्यायालय को सबूत के तौर पर इन सौ से अधिक लोगों की जबानी स्वीकार नहीं थी। मैंने भी उस स्त्री से सवाल किया था कि 'आजकल विवाह की रजिस्ट्री या सौर की सख्ती की गई है। आपने अपने ब्याह की रजिस्ट्री करवायी या नहीं?' इस पर टालमटोल करने जैसी ही बातें वह करती रहीं। शायद ऐसा ही कुछ रहा होगा कि जैसे पति नहीं चाह रहा था कि विवाह का कोई लिखित प्रमाण हो, वैसे ही पत्नी की भी इच्छा रही हो। क्योंकि इस स्थिति में स्वैराचार आसान हो जाता है। परंतु इस घटना में वास्तविक स्वतंत्रता का उपयोग पति ने ही किया। पं. नेहरू के इस बहुपत्नीत्व के कानून के कारण जिन कुछ जातियों में बहुपत्नीत्व की प्रथा जारी थी, वह बंद नहीं हुईं। मेरे पड़ोस में भी बहुपत्नीक परिवार हैं।

पत्नी द्वारा शिकायत दर्ज किये बिना बहुपत्नीक पुरुष के खिलाफ कार्यवाही नहीं की जा सकती। फिर भी उसका दूसरा ब्याह अवैध साबित किया जा सकता है। अर्थात् वास्तव में क्या होता है? पहले शादी को ही अवैध साबित किये जाने पर, संतान के उत्तराधिकार के हक पर प्रश्न चिह्न लग जाता था। अब वर्तमान कानून के अनुसार ब्याह अवैध होने पर भी इस संबंधों से उत्पन्न संतान अवैध नहीं कहलायी जायेगी। अर्थात् कानून की नजरों में प्रथम पत्नी से या दूसरी पत्नी से उत्पन्न संतानों में कोई भेद नहीं है। दूसरा विवाह अवैध साबित होने के बाद भी इस विवाह से उत्पन्न संतान की जिम्मेदारी पति की ही मानी जाती है और संतान की जिम्मेदारी निबाहने के लिए उसकी माँ को अपनी बीवी समान ही दर्जा देना होता है। जब बच्चे को माँ से अलग रखने की स्थिति उपस्थित होने पर बच्चे को पूरी तरह से कानून पैदायिशी का नहीं माना जा सकता। गैरकानूनी ब्याही मानकर दूसरी पत्नी को पौर में रखा जा सकता और दूसरा ब्याह गैरकानूनी तय हो जाने पर भी प्रथम पत्नी द्वारा नालिश नहीं की जाती। ऐसी स्थिति में वह परिवार वास्तव में बहुपत्नीक परिवार ही कहलाया जायेगा। यदि कानून यह चाहता है कि दूसरी पत्नी की संतान व प्रथम पत्नी की संतान में किसी प्रकार का भेदभाव न बरता जाय तो कानून यह कैसे कर सकता है कि समाज की दृष्टि से एक संतान पत्नी की और दूसरी रखैल की? ऐसी स्थिति में फौजदारी कार्यवाही में पहला विवाह भी उध्वस्त हो जाता है और कार्यवाही न की जाय तो कानूनन बहुपत्नीक परिवार-प्रपंच और गैरकानूनी बहुपत्नीक परिवार-प्रपंच में कोई खास फरक नहीं रह जाता। कुल मिलाकर यह कानून केवल यही दिखावा करता है कि 'देखो, हमारे कानून पुरोगामी

हैं।' उनसे व्यवहार में अनर्थ उत्पन्न करने के अलावा दूसरा कोई भी अर्थ उत्पन्न नहीं होता.

### बाल-विवाह का हौवा

जो बात बहुपत्नीत्व की थी, वही बाल-विवाह की भी है. बाल-विवाह पं. नेहरू को नापसंद होने का मुख्य कारण था, हमारी इस प्रथा पर अंग्रेजों के नाक-भौं सिकुड़ते थे. पं. नेहरू के विरोध का आधार बाल-विवाह से उत्पन्न फलाना हानि के वैज्ञानिक प्रमाण/कारण नहीं थे. प्रसार माध्यम धड़ल्ले से कहते हैं कि अठारह वर्ष की उम्र से पहले लड़की बालिग नहीं होती. मैं एक श्रोता के नाते उन्हें पत्र लिख कर यह सूचित भी करता रहा हूँ कि साथ में सबूत भी पेश करें. परंतु इस प्रसारण में कोई परिवर्तन नहीं आया. बालिग होने की कसौटी यदि प्रति माह गर्भस्त्राव के रिसने से है तो यह स्थिति उम्र के चौदहवें वर्ष से हर लड़की के जीवन में आती ही है. अमरिका में बारह वर्ष की लड़कियों द्वारा स्वेच्छा से संभोग करने के सैंकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं. स्वेच्छा से संभोग करनेवाली लड़कियों को बालिग न मानना, क्या पागलों का-सा ही कथन नहीं जान पड़ता? फिर यह कहा जाता है कि संभोग योग्य है किंतु प्रजनन योग्य नहीं है. परंतु इसका कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जाता. कुछ डाक्टरों और कुछ किताबों से ऐसे विधान प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनका कोई प्रमाण नहीं होता. किस मानक पर प्रजनन योग्यता तय होती है और किस व कितने बड़े समूह पर किन पद्धतियों से संशोधन किया गया है, यह बात कभी भी बतायी नहीं गई है.

वास्तव में इस बात का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाना चाहिए कि चौदहवें वर्ष की उम्र में गर्भधारणा के हजारों उदाहरण उपलब्ध होने पर उससे सचमुच क्या हानि होगी? क्योंकि जो इच्छा प्रकृत्या व सार्वत्रिक रूप में किसी खास उम्र में किसी जीव योनी की होती ही है, उसके परिणाम बुरे होने की बिलकुल भी संभावना नहीं होगी. जीव के लिए अहितकारक जन्मसिद्ध प्रवृत्तियों का एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है.

किन्से के आँकड़ों के अनुसार 14 से 30 वर्ष की आयु तक काम-वासना अत्याधिक प्रबल होती है. और इसी उम्र में उसका शमन न होनेवाली वैवाहिक प्रथाएँ यदि प्रचलन में होती है तो युवक-युवतियों का कामुक भूखमरी का शिकार होना सहज स्वाभाविक ही होगा. द्रव्यार्जन करने की उम्र होने से पूर्व विवाह होना उचित नहीं है, ऐसी दलील का कोई जैविकी आधार नहीं है. समाज में गरीबी फैली है अतः योग्य आहार नहीं बन पड़ता कहकर उचित आहार का सेवन न करने का समर्थन करते रहना, सही नहीं माना जा सकता. इससे केवल गरीबी दूर करने की नितांत आवश्यकता व्यक्त होती है.

इसके अलावा जिस समाज में आज भी धड़ल्ले से बाल-विवाह किये जाने की प्रथा जारी है वह समाज बाल-विवाहितों के पालन-पोषण की व्यवस्था उसके स्तरानुसार करता ही आ रहा है. अतः आर्थिक कारणों का हवाला देकर उनकी इस प्रथा पर पाबंदी लगाने की आवश्यकता ही नहीं है.

एक युक्तिवाद यह भी है कि जनसंख्या पर रोक लगाने के लिए बाल-विवाह पर पाबंदी लगाई जाय. यह सोच भी निर्बुद्धता का प्रमाण है. आम तौर पर एक स्त्री दस शिशुओं को जन्म दे सकती है. चौदहवें वर्ष में ब्याह होता है और संतति नियमन आदि का उपयोग न किया जाय तो भी स्त्री दस से अधिक शिशुओं को जन्म नहीं दे सकती. अठारहवें या बीसवें वर्ष विवाह हो जाय तो लगभग पैतालीस वर्ष की आयु तक संतान उत्पन्न किये जा सकने के कारण प्रौढ़ावस्था में विवाह करनेवाली स्त्रियों की भी दस संतानें होने में कोई दिक्कत नहीं होती.

अमरिका में मुक्त सहवास को मान्यता मिलते ही चौदह से बीस की उम्र में कई विवाह संपन्न हुए हैं. परंतु यह बात नजर आने लगी थी कि ऐसे विवाहों में युवावर्ग द्वारा लापरवाही बरती जाने लगी थी! इसका कारण भी स्पष्ट था कि विवाह का तकाजा कामपूति था संतान प्राप्ति नहीं. अपत्य की ओर से होने वाली अनदेखी को टालने के लिए संतति-नियमन के साधनों का अधिक कार्यक्षम होना जरूरी है, साथ ही जरूरी है संतति-नियमन के अधिक अचूक अनुशासन का लागू होना. बाल-विवाह पर पाबंदी लगाने से कुछ नहीं होगा.

बहुपत्नीत्व के कानून की तरह ही बाल-विवाह का कानून भी कागज पर ही लिखा रह गया है. जहाँ बाल-विवाह की प्रथा जारी है वहाँ अब अकेले बाल-विवाह ने सामूहिक बाल-विवाह का आकार प्राप्त कर लिया है. अतः ऐसा कहने में कोई हर्ज नहीं है कि इस कानून का मकसद समाज सुधार न होकर, विदेशों से अपनी तारीफ करवा लेने से अधिक कुछ भी नहीं था.

□ □



## ॥ देशभाषाओं के विरुद्ध जिहाद ॥

यो मे अन्नं, यो मे रसं, वाचं श्रेष्ठां जिघांसति ।

तस्मा इन्द्रश्च अग्निश्च अस्त्रं हिंकारमस्यताम ॥

अर्थात् हे इन्द्र, जो हमारा भोजन, जल व वाणी का नाश करना चाहता है, उन सभी पर आप अपना वज्र चलाइये.— **अथर्ववेद.**

*If I had the powers of despot, I would today stop the tuition of boys & girls though the foreign medium and require all the teachers and professors on pain of dismissal to introduce the change forthwith. It is an evil that needs a summary remedy.*

— **Mahatma Gandhi**

पं. नेहरू द्वारा संविधान की भ्रूणहत्या होने का सुस्पष्ट और उद्देगपूर्ण उदाहरण भाषा विषयक कलम है. प्रस्तुत कलम केवल आदेश न होकर बंधनकारक व कालबद्ध है.

कलम कहता है कि “संयुक्त भारत के राज्य (Union Government) की भाषा देवनागरी लिपि में हिंदी ही रहेगी. इस भाषा के शब्द मुख्यतः संस्कृत ही रहेंगे किंतु भारत में बोली जाने वाली अन्य भाषाओं से इष्ट शब्दों का समावेश हिंदी में किया जायेगा और अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी का व्यवहार करने की प्रक्रिया 1965 तक पूरी की जायेगी.”

इस कलम के शब्दों का उपयोग खास मकसद से किया गया है. क्योंकि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संदर्भ में गहरा वादविवाद चल रहा था. उसमें महात्मा गांधी और कांग्रेस का मत यह था कि हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा बने. यह मत भाषाविषयक तथ्याधारित नहीं था, एक समझौता मात्र था. हिंदी हिंदुओं की भाषा है और उसे मुसलमान स्वीकार नहीं करेंगे तथा उर्दू मुसलमानों की भाषा होने के कारण उसे हिंदू स्वीकार नहीं करेंगे. अतः दोनों को ही स्वीकार होनेवाली भाषा हिन्दुस्तानी ही थी, जो अधिकतम फारसी शब्दों के मेल से बनी थी. सच्चाई यह है कि इस भाषा में और उर्दू में कोई खास भेद नहीं है. क्योंकि हिंदी में अधिकाधिक फारसी शब्दों का प्रयोग करें तो वह उर्दू बन जाती है. परंतु उर्दू नागरी लिपि में न लिखी जाय क्योंकि नागरी लिपि हिंदुओं की है. ‘सेक्युलरों’ का मत यह है कि इसे मुसलमान नहीं मानेंगे. इस पर भी उपाय खोजा गया कि हाथ से लिखना हो तो उर्दू लिखें और छापना हो तो देवनागरी में छापें. जब यह सुझाव रखा गया था तब पाकिस्तान बना नहीं था और ऐसा होने की संभावना भी कम नजर आ रही थी. परंतु पाकिस्तान के बनते ही उनसे समझौता करने का प्रश्न ही उभरता नहीं था. अतः यह सुझाव या विचार अनदेखा ही रह गया. गोविंद वल्लभ पंत जैसे कांग्रेसी नेता भी कहने लगे कि हिन्दुस्तानी नाम से

कोई भी भाषा नहीं है. हिंदी व उर्दू दो अलग-अलग भाषाएँ हैं. भारत केवल हिंदी का स्वीकार करे, हिंदी की लिपि केवल नागरी ही है. उसके उर्दू लिपि में लिखी जाने का सवाल ही उभरता नहीं है.

वस्तुतः हिंदी व उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं, यह मत भी भाषाशास्त्र दृष्टि से सच नहीं है. ग्रीयर्सन के Linguistic Survey of India में कहा गया है कि Urdu is a literary form of Western Hindi अर्थात् उर्दू भाषा पश्चिमी हिंदी के साहित्य की भाषा है, बोलचाल की नहीं. ग्रीयर्सन के वाक्य में प्रयुक्त ‘Western’ शब्द का अर्थ है— दिल्ली, आगरा, मेरठ का प्रदेश. यहाँ रहनेवाले लोग हिंदू हों या मुसलमान वे अपने-अपने घरों में उस प्रदेश विशेष की बोली ही बोलते थे. इस प्रदेश की बोली भाषा को खड़ी बोली कहते हैं. लिखने के लिए इसी भाषा में फारसी शब्दों का बहुतायत में प्रयोग कर दिया जाय तो वह उर्दू कहलायी जायेगी. और संस्कृत के शब्दों की भरमार हो जाय तो हिंदी कहलायी जाती है.

उर्दू का जन्म औरंगजेब के बाद ही हुआ है. अब फारसी भाषा सरकारी भाषा नहीं रही. परंतु सरकारी भाषा ने खड़ी बोली में कई फारसी शब्दों का समावेश कर उन्हें प्रचलित कर दिया था. वे सरकार दरबार से संबंधित लोगों के संभाषण में प्रयुक्त होने लगे थे. परंतु सरकार दरबार की यह बातचीत घर में प्रवेश नहीं कर पायी थी.

घरेलू भाषा ज्यों-कि-त्यों साहित्य में प्रयुक्त होने में अधूरी-सी लगती है. क्योंकि उसका उपयोग घरलू व्यवहार तक ही सीमित होता है, उसे संस्कृत या फारसी जैसा साहित्य निर्माण करने में सक्षम भाषाओं का आधार प्राप्त करना आवश्यक होता है.

पाकिस्तान बनने के बाद भारत की राष्ट्रभाषा को फारसी का सहारा लेने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी. मुगलों की भाषा फारसी थी और उन्होंने एक सौ बावन वर्षों तक भारत पर राज्य किया था. परंतु आज जब उनके शासन का अतापता ही शेष न रहने के बावजूद भी, भारत को उनकी भाषा का सहारा लेने का अर्थ पराधीनता पूजक वृत्ति का द्योतक ही होता. इसके अलावा वेदकाल से भारत में अखिल भारतीय भाषा के रूप में संस्कृत का ही प्रयोग हो रहा था. ब्रिटिशों के समय में भी फारसी युक्त उर्दू की तुलना में शब्द संपत्ति के लिए संस्कृत को नींव माननेवाली हिंदी का ही अधिक प्रचलन था. दिल्ली-आगरा का प्रदेश, पंजाब व उसके उत्तर में बसा भारत प्रदेश सभी में हिंदी का प्रसार उर्दू से अधिक था. पूर्व उत्तर बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान के विस्तृत प्रदेश में भी हिंदी का ही प्रमुखतः प्रचलन था. हिंदी के व्यतिरिक्त अन्य देश भाषाएँ भी अपनी शब्द संपदा के लिए संस्कृत का ही आश्रय लेती रहीं हैं. तमिल को इसका अपवाद कहा जाता रहा है किंतु इस अपवाद का उद्भव राजनीति के दाँवपेंच के तहत लेना तमिल के स्वरूप में यत्न के साथ किया गया था. तमिल के प्राचीन ग्रंथ तिरुक्कुरल, शिलप्पाधिकारम, मणिमकलै आदि की भाषा में संस्कृत प्रधान शब्दों का प्राचुर्य है. ग्रंथों के नाम भी यही सूचित करते हैं. रामस्वामी,

करूणानिधि आदि संस्कृत विरोधी तमिलों के नाम थे। अतः हिंदी को प्रमुख रूप से संस्कृत को ही नीव स्वरूप मानना चाहिए और उसे भारत में प्रचलित शेष भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करने की कोशिश करनी चाहिए। यह संविधान में उल्लेखित है।

### संविधान कल्पित देश का भाषिक स्वरूप

हिंदी भाषा भारतीय एक राज्य की भाषा होगी, इस बात को खासकर अंकित करने का हेतु यह था कि हिंदी भारत की करोड़ों लोगों के व्यवहार की भाषा है और उसकी कम से कम सात भाषाओं का समृद्ध साहित्य भी उपलब्ध है। इनके प्रदेश की सीमाएँ भी आपस में जुड़ी हुई हैं। हिंदी बोलियों की संख्या व क्षमता के संदर्भ में, फ्रेंच, जर्मन व रूसी भाषाओं के समकक्ष हिंदी भाषा का राज्य व्यवहार तथा उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल नहीं हो रहा है। यह स्थिति न्यायपूर्ण कदापि नहीं है। अतः प्रांतों का विभाजन भाषा पर आधारित हो और उस प्रांत की भाषा वहाँ की मातृभाषा ही थी। कांग्रेस की मान्यता यही रही है। अतः कांग्रेस की कमिटियों के नाम भी प्रांताधारित ही थे। जैसे— महाराष्ट्र कांग्रेस कमिटी, गुजराथ कांग्रेस कमिटी, आदि। मुंबई इलाका कांग्रेस कमिटी व मद्रास इलाका कांग्रेस कमिटी की तरह यह विभाजन कतई नहीं था। अतः संविधान ने भी सलाह दी है कि प्रांतों की पुनर्रचना हर प्रांत की भाषाओं के आधार पर की जाय। स्वभावतः सबने यह मान ही लिया था कि इस प्रांत विभाजन की माँग के स्वरूप का आधार भाषा ही होगी।

भाषाधारित प्रांतों की रचना के संदर्भ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मत इससे भिन्न था। उनका कहना था कि संपूर्ण भारत की एक ही भाषा रहे और प्रांतों का विभाजन भाषाधारित न हो। इससे यह अर्थ द्योतित होता है कि मराठी भाषी लोग जहाँ रहते हैं, वहाँ भी सारे राज्य का कारोबार व सारी शिक्षा का कार्य भी हिंदी में ही हो। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारों में महात्मा गांधी के विचारों जैसी व्यवहार्यता कदापि नहीं थी। एक बात अनेक विषयों की तरह यहाँ भी दृष्टिगत होती है। वह है— दस करोड़ लोग जो भाषा बोलते हों और जो भाषा सभी संदर्भों में सक्षम हो, ऐसी मराठी भाषा को उसके अपने ही प्रदेश के शासन व्यवहार में स्थान न मिले। बात तो अन्यायपूर्ण ही है। भारत में प्रांतीय भाषागत विशेषता का उद्भव अनायास ही निर्मित है। इसे यदि हम ऐसा मानते हैं कि अंग्रेजों व मुगलों के आक्रमणों से भारतीय राष्ट्रीयता के नाश करने हेतु निर्मित किया जा रहा है, तो हम वही भूल कर रहे हैं, जो हम यह सोचने में कतराते हैं कि शरीर में आयु के अनुरूप होनेवाले परिवर्तन और दुर्घटना-बीमारी से आनेवाले परिवर्तन एक समान होते हैं। महाराष्ट्र में मराठी का प्रयोग यदि उसे भारतीयता की एकता से दूर करता है, तो कहना होगा कि मराठी जन यकीनन भारतीय राष्ट्रीयता के एकक नहीं हैं।

भारत के इतिहास में भाषा के लिए प्रांतों-प्रांतों के बीच कलह होने का एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है। प्राचीन समय में राज्य व्यवहार की भाषा जेताओं की भाषा होने के कारण प्रचलित हुआ करती थी। किंतु उच्चस्तरीय शिक्षा और साहित्य की भाषा संस्कृत

ही थी तथा आम जनता द्वारा क्षेत्र या प्रांत विशेष की भाषा ही बोली जाती थी। तुलसीदास का काव्य अवधि में और कम्ब का काव्य तमिल में लिखा जाने पर भी तमिल व हिंदी भाषी प्रदेशों में सांस्कृतिक अलगाव उत्पन्न नहीं हुआ था। भारतीय भाषाएँ भिन्न-भिन्न होकर भी सहचारी भाषाएँ हैं। आज भारतीय राष्ट्रीयता से अलग-थलग नजर आता तमिल राष्ट्रवाद तमिल भाषा के कारण नहीं वरन् यह अंग्रेजी भाषा का परिणाम है। 'द्रविड' और इंडो-यूरोपीय नामक काल्पनिक भाषाओं के बल पर मिशनरियों ने लोगों में भ्रम फैलाकर रख दिया है कि आर्य व द्रविड भिन्न भाषाएँ हैं। तमिल व संस्कृत के बीच कोई संबंध नहीं है यह बतानेवाला व्यक्ति काल्डवेल भी मिशनरी ही था। तमिल जन यदि मिशनरियों के प्रचार को सुनते ही नहीं, तो तमिल राष्ट्रवाद चाहे कितना भी बलशाही क्यों न हो जाय, भारत विरोधी कदापि नहीं बनता। तमिलों के प्राचीन ग्रंथों में वर्णित संस्कृति वैदिक ही है। जैन, बौद्ध भक्तिसंबंधी विचारधाराएँ जब भारत में प्रबल होने लगीं तो वे द्रविड प्रदेशों में भी प्रबल हो उठी थीं। भारत के सांस्कृतिक आंदोलन भाषा के बल पर कदापि परिवर्तित नहीं हुए हैं।

मराठी जन जिस सहज भाव से हिंदी बोल लेते हैं उस सहज भाव से तमिल जन नहीं बोल पाते। उनसे यह उम्मीद करना कि अन्य प्रांतियों के साथ वे हिंदी में ही बोलें, किसी हद तक सही अवश्य है किंतु ऐसी उम्मीद करना कि आप अपने प्रदेश में भी अपनी मातृभाषा का उपयोग न करें। मूलतः अन्याय तथा अव्यवहार्य भी है। इस विचार को यदि बल मिलता तो शायद हिंदी कभी भी स्वीकार्य नहीं होती और सदैव के लिए अंग्रेजी की दासता माथे पर कलंक की तरह होने की पार्श्वभूमि अवश्य बना जाती। पं. नेहरू प्रांतीय भाषाओं के खिलाफ इसी भावना का उपयोग करते हुए अंग्रेजी की स्थापना करने में प्रयत्नशील रहें।

हिंदी केन्द्र सरकार की भाषा है और वह मात्र अंतरप्रांतीय व्यवहार के लिए है। इस विचार को स्पष्ट करने के लिए संविधान में हिंदी को संयुक्त भारतीय राज्य अर्थात् केन्द्र सरकार की भाषा कहा गया है।

### धूप से अधिक दाहक रेत

पं. नेहरू को, उपरोक्त कोई भी बात स्वीकार्य नहीं थी। वे अंग्रेजों के अन्तिम शासक होने के नाते एक सच्चे अंग्रेज को जो करना चाहिए था, उसे करने का उन्होंने तो बीड़ा ही उठा लिया था। अंग्रेजों ने अंग्रेजी को केवल राज्य व्यवहार व उच्च शिक्षा की भाषा बना रखी थी परंतु इतना ही नहीं, इन गँवार अंग्रेजों की मनीषा यह थी कि उन्हें तो भारतीय भाषाओं का उच्चाटन ही करना था। झूले में ही अंग्रेजी सीखना प्रारंभ हो, देशी भाषा केवल निरक्षर, अनपढ़ लोगों की ही जवान पर रहे, उनका कोई लिखित साहित्य न रहे। इस दिशा में पं. नेहरू निरंतर यत्नपूर्वक कदम उठाते रहे हैं।

इस संदर्भ में निम्नलिखित सुभाषित का सहज स्मरण हो आता है—

रविरपि न दहति तादृग्यादृग्सन्दहति वालुंकालिकरः ।

अन्यस्माल्लंबधपदो नीचः प्रायेण दुःसहो भवति ॥

धूप के बजाय धूप से तप्त रेत अधिक तकलीफ देती है. एकाएक उच्च पद प्राप्ति करनेवाली नीचता अधिक यातनाएँ देती है.

अंग्रेजों का राज स्थापित हुआ, तब वे भाषा की तुलना में धर्म का महत्त्व अधिक मान रहे थे. उनकी महत्वाकांक्षा थी, भारत को ईसाई राज्य बनाना. उस महत्वाकांक्षा के नीचे सुरंग लगाने का काम 1857 के स्वतंत्रता युद्ध ने किया और इसके बाद अंग्रेजों ने भारत में धर्म या भाषा को नष्ट करने का सांस्कृतिक कार्य छोड़कर, आर्थिक व राज्य विस्तार की ओर अधिक ध्यान देना प्रारंभ किया.

पं. नेहरू ने जितने जोश से भारतीय भाषाओं के उच्चाटन की योजना को कार्यान्वित किया था, वैसा किसी भी अंग्रेज के लिए संभव न था. इतना ही नहीं, उसमें वे अभूतपूर्व ढंग से सफल भी हुए. आज ऐसी तीन पीढ़ियाँ गुजर चुकी हैं जिन्हें किसी भी देशी भाषा का ज्ञान नहीं है. अधिकांश सुशिक्षित यह जानते भी नहीं हैं कि संविधान में पन्द्रह वर्षों में अंग्रेजी के उच्चाटन के आदेश दिये गये हैं. इतना ही नहीं, यदि ऐसी जानकारी दी जाय तो उन्हें लगता है कि मैं बातें बना रहा हूँ.

कई न्यायाधीशों ने भी ऐसे निर्णय सुनाये हैं जिनमें यह कहा गया है कि सरकारी नौकरी के लिए हिंदी जानना आवश्यक है ऐसा नियम बनाने का अधिकार सरकार को नहीं है. किंतु केवल अंग्रेजी न जाननेवाले सरकार के आसपास भी टहल नहीं सकते. इस बारे में सजगता बरतने के अर्थ को न्यायाधीशों ने असंवैधानिक नहीं ठहराया.

इसके लिए स्पष्टीकरण यँ दिया जाता है कि हिंदी यह भाषा सभी भारतवासियों की भाषा न होने के कारण हिंदी ही सीखने का आग्रह सरकार द्वारा किया जाने, हिंदी भाषियों द्वारा अहिंदी भाषियों पर अपनी भाषा को लादने तथा हिंदी भाषियों व अहिंदी भाषियों में भेदभाव करने के बराबर होगा. और चूँकि अंग्रेजी भारत में किसी की भी मातृभाषा नहीं है, अतः उसके लिए आग्रह करने से किसी के खिलाफ भेदभाव व्यक्त होगा ही नहीं.

इसके विपरित यह कहा जा सकता है कि सारी भारतीय भाषाओं को त्याग कर सरकार की सामर्थ्य का उपयोग अंग्रेजी के प्रसार के लिए करने का मतलब यह होगा कि सारे राष्ट्र के खिलाफ परदेसियों की ओर से युद्ध का आवाहन करने जाना. इसे पराधीनता की पूजा कहा जा सकता है. ऐसी स्थिति में न्यायाधीशों को यह बात मंजूर करनी होगी कि सरकार निःपक्षपाती प्रधानमंत्री का चुनाव करने के लिए भारत के ही किसी न किसी लोकसमूह से चुने गये प्रधानमंत्री उस लोकसमूह के प्रतिनिधि के रूप में शेष लोकसमूहों से भेदभाव बरतेगा अतः उसे न चुने और किसी अभारतीय को प्रधानमंत्री पद के लिए पाकिस्तान या चीन से बुलाये. वस्तुतः भेदभाव की नीति केवल हिंदी के ही खिलाफ नहीं है वरन् स्वराज्य के खिलाफ भी है. हिंदी के स्थान पर भी बहुमत के अनुसार बने स्वराज्य

की संकल्पना ही दो-मुँही या दोगली है. क्योंकि भारत में हिंदी भाषियों की संख्या अधिक है और स्वराज्य का अर्थ है हिंदी भाषी लोगों की अहिंदी भाषियों पर अधिकार.

स्वराज्य के खिलाफ इस नीति का अवलंबन जिना ने किया था. उनका कहना था कि “भारत के स्वराज्य का अर्थ है हिंदुओं का अहिंदुओं पर अधिकार. वह हमें मंजूर नहीं है.”

“परदेसी भाषा भारत की भाषा कैसे बन सकेगी?” इस प्रश्न का उत्तर देते समय कभी-कभी यह कहा जाता है कि अंग्रेजी भारत में अँग्लो इंडियन की भाषा होने के कारण वह परायी भाषा नहीं है. चीन से युद्ध के दौरान यह पता चला था कि भारत में कई चीनी रहते हैं. अतः चीनी भाषा भी भारत की ही भाषा कहलायी जा सकती है. सभी यहूदी (जू) भारत छोड़कर इजरायल में तो नहीं गये होंगे अतः हिब्रू भाषा भी भारतीय भाषा कहलायी जा सकती है. ऐसी स्थिति में भारतीय-अभारतीय विभाजन कर पाना दुश्कर कार्य बन जायेगा.

### भाषिक कलह के जनक पं. नेहरू

अंग्रेजी के भक्त मन ही मन यह जानते थे कि हिंदी विरोधी सारी नीति स्वतंत्रता विरोधी नीति का ही एक अंग है. ऐसा होते हुए भी जब वे उपरोक्त रीति से बतियाते हैं तब यह स्पष्ट हो ही जाता है कि खुले आम स्वराज्य के खिलाफ बोलने का साहस उनमें नहीं है. पं. नेहरू जब संविधान से ‘स्वतंत्र’ शब्द ही हटा देते हैं तब भी उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि अंग्रेजों से स्वतंत्र होना उनकी मनीषा कतई नहीं थी.

कभी-कभी यह भी कहा गया है कि पं. नेहरू चाहते थे कि संविधान में उल्लिखित भाषा विषयक कलम को व्यवहार में लाना चाहते थे. किंतु मुसलमान व दक्षिण भारतीयों के दबाव के कारण वे ऐसा नहीं कर पाये.

इस कथन में तिनके भर की भी सच्चाई नहीं है. संविधान सभा में दक्षिण भारतीय और मुसलमान सभी ने हिंदी के पक्ष में अपना मत दिया था. राजाजी अर्थात् राजगोपालाचार्य हिंदी के खिलाफ जहर उगल रहे थे किंतु इस बात का प्रारंभ पं. नेहरू ने ही किया था. 1949 के अपने एक घोषित व्याख्यान में ही पं. नेहरू के शब्द हैं कि हिंदी ‘लादी’ जा रही है. इससे पहले राजाजी को ऐसा कुछ कहते हुए नहीं सुना गया था. पं. नेहरू के उद्गार हैं—

“Language ultimately grows from the people. It is seldom that it can be imposed.”

दंभ का ऐसा उद्वेगपूर्ण उदाहरण मिलना मुश्किल है. यदि भारत को अंग्रेजों ने जीता नहीं होता तो राज्य शासन तथा शिक्षा के क्षेत्र में भारत में अंग्रेजी का माध्यम के रूप में कभी भी प्रयोग नहीं हुआ होता. 1857 के क्रांतिकारकों ने एक भितीपत्र पर अपनी शिकायतें दर्ज की हैं. उनमें से एक प्रमुख शिकायत ‘अंग्रेजी की सख्ती’ भी है. भारत में

फारसी और फारसी मिश्रित भाषा का प्रचार हुआ क्योंकि भारत को जीतनेवाले मुगलों की वह भाषा थी। उनसे पहले तुर्की घरानों की भी वही भाषा थी। आगे चलकर देशी मुगल, जो निजाम कहलाया गया था, उसके राज्य में उर्दू भाषा जनता की न होकर भी फारसी राजभाषा थी। पं. नेहरू ने स्वयं राजसत्ता का डंडा हाथ में लेकर अंग्रेजी का महत्त्व बढ़ाया। अंग्रेजी नहीं सीखेंगे तो नौकरी नहीं मिलेगी। इस भय के कारण अंग्रेजी का प्रचार प्रमुखतः हुआ है। पं. नेहरू को कितना ही भोला-भाला इन्सान मान भी लें, फिर भी वे यह अवश्य जानते थे कि अंग्रेजी का पुच्छला छोड़ दिया जायेगा तो भारत से अंग्रेजों का नामोनिशान मिटाने के लिए एक वर्ष की अवधि भी काफी है। हैद्राबाद का शासक निजाम मुसलमान था। इस एक कारण मात्र से सारी प्रजा हिंदू होते हुए भी संस्थान की भाषा उर्दू थी, इस बात को पं. नेहरू बार-बार दोहराते रहे।

1937 में स्थापित मद्रास प्रांत के कांग्रेस सरकार के मुख्यमंत्री राजगोपालाचार्य उर्फ राजाजी थे। वे हिंदी के विरोध में आंदोलन खड़ा करने वालों को जेल में भरते जा रहे थे। उन्होंने संविधान सभा में भी हिंदी के ही पक्ष में अपना मत दिया था। ऐसा माना जा रहा था कि राजाजी ने ही यह अफवाह फैलाई थी कि संविधान सभा में हिंदी का प्रस्ताव एकमत के आधिक्य से पारित हुआ था। परंतु 'आर्गनाइजर' समाचार-पत्र को एक खत लिखकर राजाजी ने इस बात से साफ इंकार किया था। तो अब यह अफवाह पं. नेहरू ने ही फैलाई होगी। यदि यह झूठ है तो संविधान पर अमल करने की जबाबदेही उनकी अपनी जानकर यह सफाई देनी चाहिए थी कि 'यह झूठ है'। परंतु हिंदी का प्रस्ताव पारित हो जाने के बाद भी पं. नेहरू के असंख्य भाषणों में हिंदी के समर्थन में ढूँढने पर भी एक वाक्य नहीं मिलता था। वे तो सदैव हिंदी का मखौल ही उड़ाते रहे हैं। उनके अनुसार हिंदी के पराक्रम से ही हिंदी प्रदेश पिछड़े हुए हैं। हिंदी के प्रयोग से विज्ञान के क्षेत्र में हम पिछड़े रह जायेंगे। हिंदी क्लिष्ट है, उसे सरल बनाये बिना उपयोग योग्य नहीं हो सकेगी। 'हिंदी का डंडा' (खड़ी लकीर) और 'हिंदी का प्रयोग' होना ही चाहिए, इन दो बातों के आग्रह के कारण जनमत हिंदी के खिलाफ हुआ है। आदि बातें पं. नेहरू द्वारा फैलाई गई हैं।

पं. नेहरू ने दक्षिण भारतीयों को यह आश्वासन दे रखा था कि "जब तक दक्षिण भारतीयों को स्वीकार न होगा तब तक भारत हिंदी का स्वीकार नहीं करेगा।" परंतु ऐसे आश्वासन की माँग दक्षिण भारतीयों ने कब की थी? अब पं. नेहरू अपनी गलती में सुधार करने के लिए कहने लगे कि नागाजन स्वयं ही अंग्रेजी भाषी हैं। अतः जब तक वे स्वयं हिंदी का स्वीकार करने की बात नहीं करते तब तक हिंदी का प्रयोग नहीं किया जायेगा।

### महात्मा गांधी व अंग्रेजी

तमिलनाडू में हिंदी के खिलाफ आंदोलन चल रहा था और उसके प्रवर्तक पं. नेहरू को नहीं माना गया, शायद यह सच भी हो सकता है। परंतु यह आंदोलन केवल एक समूह का था, आम जनता का नहीं। ऐसा होता तो हिंदी का कलम सर्वमत से पारित हो

ही नहीं पाता। 1945 में महात्मा गांधीजी ने तमिलनाडू का दौरा किया था। उनकी सभा में खचाखच भीड़ रहा करती थी। भारी-भरकम भीड़ के समक्ष गांधीजी 'अंग्रेजी से मोह' विषय पर भाषण देते हैं। और तमिल जन भी अंग्रेजी की दासता को टुकराकर हिंदी के स्वीकार करने के लिए निःसंदिग्ध रूप से हिंदी में आवाहन करते थे। इस बारे में किसी ने किसी भी तरह का निषेध व्यक्त नहीं किया और महात्मा गांधी का भाषण सुननेवालों की संख्या में भी कभी कमी नहीं आयी। इसके तुरंत बाद गृहमंत्री पद पर सरदार पटेल विराजमान हुए और तमिलनाडू गये थे। उन्होंने अपने भाषण में स्पष्ट रूप से कहा था कि "ब्रिटिशों के समय जिस तरह से अंग्रेजी को झिड़कारा गया था और मुसलमान पिछड़े गये थे, उसी तरह से स्वतंत्र भारत में हिंदी का स्वीकार नहीं किया जायेगा तो तमिल जन लौट जायेंगे।" उस समय किसी ने भी यह शोर नहीं मचाया था कि हम पर हिंदी लादी जा रही है। उस समय के गुजरात के गृहमंत्री ने कुछ आँकड़े प्रस्तुत किये थे, तदनुसार तमिलनाडू में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों की संख्या बी.ए. के विद्यार्थियों के बराबर थी। अर्थात् स्वयं तमिलनाडू में ही अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या हिंदी जाननेवालों से कम नहीं थी। यह सब उस काल-विशेष की स्थिति है, जब हिंदी का अध्ययन न करने पर भूखों मरने की नौबत नहीं आती थी। स्वयं मद्रास शहर में तमिल सिनेमा (चलचित्र) ओं की तुलना में हिंदी सिनेमा अधिक लोकप्रिय हैं और सरकार को यह नियम बनाना पड़ा कि तमिल सिनेमा दिखाये ही जाय। अंग्रेजी का तमिल से कोई संबंध नहीं है। काशीराम शर्मा ने उनकी पुस्तक 'द्रविड परिवार की भाषा हिंदी' में यह स्पष्ट कर दिया है कि तमिल की वाक्य-रचना और व्याकरण हिंदी जैसा ही है। हिंदी के खिलाफ छिड़े आंदोलन मिशनरी प्रेरित थे। यदि पं. नेहरू अपना थोड़ा-सा झुकाव हिंदी की ओर करते तो शायद संविधान को लागू करना कोई मुश्किल काम कदापि नहीं रह जाता।

हिंदी के कलम का विरोध पं. नेहरू प्रारंभ से ही कर रहे थे, विरोध तमिल या मुसलमानों की ओर से नहीं था। आरंभ में यही सूचना दी गयी थी कि हिंदी का प्रयोग तुरंत शुरू किया जाय। एस. गोपाल ने स्पष्ट ही कहा है कि पं. नेहरू ने हिंदी के प्रयोग के लिए पन्द्रह वर्षों की अवधि दी जाय ऐसा परिवर्धन करवा लिया था। उधर, मध्य प्रदेश में प्रचलित हिंदी-मराठी का खुले आम प्रयोग प्रारंभ कर रविशंकर शुक्ल ने पहले ही वर्ष में यह साबित कर दिया था कि इस तरह पन्द्रह वर्ष की अवधि निश्चित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक वर्ष की अवधि समाप्त होने के बाद उनके पास, जो भी अंग्रेजी में लिखित फाइल या कागजात आती रही, उन्हें यह कहकर वापस लौटाते रहे कि 'मैं आगे से अंग्रेजी फाइलें नहीं पढ़ूँगा।' आगे चलकर पं. नेहरू ने रविशंकर शुक्ल को हटा देने का एक कारण यह भी था।

1961 में पं. नेहरू ने खुले आम कांग्रेस में यह प्रस्ताव रखा कि "अंग्रेजी शिक्षा का अधिक प्रचार होना चाहिए और शिक्षा का माध्यम हर तरफ अंग्रेजी ही होना चाहिए।"



पं. नेहरू की नीति यह थी कि हिंदी 'लादी' न जाय और प्रादेशिक भाषा के प्रयोग से प्रादेशिकता अधिक पनपेगी. अंग्रेजी के प्रेम से पराधीनता की पूजा यदि पनप भी गई तो इसकी उन्हें चिंता नहीं थी. एक बात जरूर सही थी कि राष्ट्रीय एकात्मता वृद्धिगत होने के लिए पं. नेहरू ने अंग्रेजों को वापस बुलाने का प्रस्ताव नहीं रखा था. अंग्रेजों के वापस आने पर उन्हें अपनी गद्दी छोड़नी पड़ती शायद इसीलिए ऐसा प्रस्ताव उन्होंने नहीं रखा होगा. पं. नेहरू स्वयं को अंग्रेज मान रहे थे, परंतु दुनिया के लोग उन्हें 'गोबर संस्कृति' की ही उपज समझ रहे थे.

इस सारी स्थिति के लिए सर्वस्वी दोषी पं. नेहरू से अधिक दोषी भारत के बुद्धिवादी जन हैं. 'राष्ट्रीय एकात्मता के लिए अंग्रेजी जैसे शब्दों के ऐसे प्रयोग में अंग्रेजी का गठबंधन राष्ट्रीयता से करते देख उनमें रोष भाव का उदीप्त होने की बात छोड़ ही दीजिए, वे अपना स्वर पं. नेहरू के स्वरों में मिलाते ही रहे.

पं. नेहरू हिंदी के विरोधी नहीं थे, वे क्लिष्ट हिंदी नहीं चाहते थे. ऐसा कहा जाता है कि वे सरल हिंदी के पक्षपाती थे और उनके लिए सरल हिंदी के मायने रोमन हिंदुस्तानी था. रोमन हिंदुस्तानी भाषा अंग्रेजों ने उनकी सेना के सिपाहियों के लिए निर्माण की थी. सिपाही तो अक्सर निरक्षर वर्ग से ही आते थे. उन्हें एक बार नौकरी देने के बाद सैनिकी प्रशिक्षण देना ही होता था. यह शिक्षा किसी न किसी भाषा में ही होती थी.

### रोमन हिंदुस्तानी

सहज रूप में यह भाषा हिंदी ही होनी चाहिए थी. परंतु अंग्रेजों को, सिपाहियों को हिंदी सीखने का संभाव्य धोखा यह लग रहा था कि हिंदी सीखने वाले जवान केवल अंग्रेजों की नौकरी से जुड़ी पुस्तकें ही नहीं पढ़ेंगे, वे हिंदी का साहित्य पढ़ेंगे और हिंदी साहित्य पढ़कर, केवल माँ-बाप सरकार के निष्ठावंत सेवक न रहकर, उनके मन में भारतीय राष्ट्रवाद की लहरें उछालें भरने लगेंगी. अतः उन्होंने रोमन लिपि का इस्तेमाल किया. रोमन लिपि में भारत की किसी भी भाषा का साहित्य उपलब्ध न होने के कारण रोमन सीखे हुए जवानों द्वारा किसी भी भारतीय भाषा को पढ़ पाना असंभव ही था. उनकी शिक्षा उनके काम का स्वरूप समझानेवाली पुस्तिकाओं व सरकारी आज्ञा-पत्रों को समझने तक ही मर्यादित रह गई थी.

रोमन हिंदुस्तानी शब्दावली अधिकतर अंग्रेजी ही है. क्योंकि सेना में प्रयुक्त लगभग सभी अंग्रेजी शब्द उसमें समाविष्ट हैं और शेष शब्द सेना में कार्यरत मुसलमानों में प्रचलित उर्दू से लिए गये हैं. जिनकी भाषा के संदर्भ में ज्ञान रोमन हिंदुस्तानी तक ही सीमित था उनका उर्दू साहित्य से दूर का भी वास्ता नहीं था. क्योंकि रोमन हिंदुस्तानी के उर्दू शब्द केवल सेना में प्रयुक्त उर्दू शब्दों तक ही सीमित थे. और इस भाषा के ज्ञाताओं के लिए संस्कृत के शब्दों को समझना और भी मुश्किल था. क्योंकि ब्रिटिश सेना संस्कृत व हिंदी को बहिष्कृत कर चुके थे. पं. नेहरू जिस 'सरल हिंदी' की बात कर रहे थे, वह

यह थी. यह हिंदी सेना में नौकरी रत जवान और जहाँ के ग्राहक अभारतीय हैं, ऐसे होटलों में वेटरी करनेवालों के जीवन के लिए काफी हो सकती है, परंतु इस भाषा में किसी भी प्रकार का साहित्य लिखा नहीं जा सकता. इस भाषा में स्वतंत्रता, राष्ट्र जैसे शब्दों का भी समावेश नहीं है.

पं. नेहरू ने एक बार लोकसभा में स्पष्ट रूप से यह सूचित किया था कि सेना की तरह ही अन्य क्षेत्रों में भी रोमन हिंदुस्तानी का प्रयोग हो. एक बार उन्होंने उनके अपने ही घर के कार्य के लिए महात्मा गांधी को रोमन हिंदुस्तानी में पत्र लिखकर आमंत्रित किया था. इस पर महात्मा गांधीजी ने उन्हें खरी-खरी सुनाई थी.

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी रोमन लिपि के पक्षधर थे परंतु वे देशी भाषाओं के उच्चाटन के विरोधी थे. अतः पं. नेहरू के रोमन लिपि के प्रति प्रेम भाव को कुबुद्धि का प्रसाद कहना उचित नहीं है. नेताजी सुभाषचन्द्र बोस उपरोक्त विचार लोगों को बता सकते थे क्योंकि वे स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री नहीं थे. और हिंदी भाषा की तरह से नागरी लिपि पर भी मुसलमानों द्वारा विरोध किये जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता था अतः यह एक राजकीय समझौते के रूप में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी रोमन लिपि के नागरी लिपि से श्रेष्ठ होने का कोई कारण नहीं बता पाये थे. आगे चलकर 'आजाद हिंद' की फौज में भी रोमन भाषा की हिंदी का ही इस्तेमाल किया गया. उसका कारण था सेना में पहले से ही उसका प्रचलित होना. और अंग्रेजी को तत्काल त्याग देने पर सेना की उपलब्ध भाषा का स्वीकार ही व्यवहार संगत था. आजाद हिंद की सेना में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग नाम मात्र के लिए भी नहीं होता था. इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता.

वस्तुतः रोमन लिपि से किसी भी संदर्भ में श्रेष्ठ नहीं है. ऐसा बार-बार कहा जाता है कि वह मुद्रण के लिए अधिक सुविधाजनक है. परंतु उसके लिए यथार्थ का कोई आधार नहीं है. केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने नागरी व रोमन मुद्रण पर संशोधन करके अपने सारे निष्कर्ष सारे कार्यालयों को भेजे थे. उसमें स्पष्टतः कहा है कि जिस शब्द के टंकन में नागरी लिपि में औसतन 4 आघात देने होते हैं. रोमन लिपि में 6 आघात देने होते हैं. आघातों की संख्या पर ही टंकन की गति निर्भर है. आजकल मुद्रण संगणक पर टंकित करके ही की जाती है. अतः टंकन पर आधारित तथा छपाई के लिए भी ज्योंकि त्यों लागू होती है.

व्यावसायिक टंकन कर्मियों ने भी यह भ्रम पाल रखा है कि रोमन लिपि टंकन के लिए अधिक सुविधाजनक है. रोमन टंकन की महत्तम गति नागरी की तुलना में अधिक है यह बात प्रस्तुत की जाती है. रोमन टंकनकर्मियों की गति केवल रोमन टाइप करनेवालों के टंकन पर आधारित होती है. इसके विपरीत नागरी टंकन करनेवाले नागरी के साथ-साथ रोमन टंकन भी कर सकते हैं. एक ही लिपि में टंकन करते रहने से उस लिपि में अधिक कुशलता संपादित होना स्वाभाविक सत्य है.

अचूकता के संदर्भ में रोमन नागरी के आसपास भी फटक नहीं सकती.



दूसरी बात यह है कि रोमन की महत्तम गति दुनिया भर के टंकनकर्मियों की क्षमता पर आधारित होता है। इसके विपरित नागरी लिपि केवल भारत में ही टंकित की जाती है। अतः उसकी गति का मापन भी भारत के आँकड़ों पर ही तय होती है। दुनिया भर की सर्वोच्चता स्वभावतः अधिक ही रहेगी।

वस्तुतः रोमन लिपि के पक्षपाती होने में अधिकांश लोगों का उद्देश्य यह कदापि नहीं रहा होगा कि देशी भाषाओं को अधिक कार्यक्षम लिपि उपलब्ध हो सके। रोमन लिपि का उपयोग करना प्रारंभ होते ही जानबूझकर नागरी लिपि का अध्ययन करके नागरी में उपलब्ध साहित्य पढ़ने की जद्दोजहद कोई नहीं करेगा और वह स्वयं ही लुप्त हो जायेगी। इसी क्रम में वह विलुप्त ही हो जाय यही उद्देश्य रोमन लिपि के स्वीकृति में छिपा है।

### चीनी लिपि का महत्त्व

रोमन लिपि के समर्थक अपने मत की पुष्टि करने के लिए कमाल पाशा का नाम लेते हैं। परंतु रोमन के इस्तेमाल में कमाल पाशा का एक उद्देश्य था— तुर्की भाषा का साहित्य पठन प्रक्रिया से भी बाद हो जाय। तथा नये साहित्य के बल पर तुर्कों पर ऐसे संस्कार किये जाय जिससे उन्हें व यूरोपीय जनता को यह ज्ञात हो सके कि तुर्कस्तान यह यूरोपीय देश है। कमाल पाशा के मन में उसकी पुरानी संस्कृति के प्रति लज्जा का भाव था। उसने फज के उपयोग पर पाबंदी लगाकर हॅट की प्रथा बलपूर्वक शुरू की। इससे स्पष्ट है कि कमाल पाशा को अपनी संस्कृति शर्मसार जान पड़ती थी। जिन तुर्की शब्दों को रोमन लिपि में लिखा नहीं जा सकता था उन शब्दों को ही उसने तुर्की से बाहर कर दिया।

कमाल पाशा को आधुनिक तुर्की राष्ट्र का निर्माता माना जाता है। परंतु दुनिया जिसने उन्नति कहती है उस तरह की उन्नति क्या कमाल पाशा के द्वारा तुर्कीस्तान में हुई थी? समृद्धि, सामर्थ्य, ज्ञान-विज्ञान व कला-कौशल आदि को सारी दुनिया में प्रगति के मानदण्ड माना गया है। रोमन लिपि तथा हॅट ने तुर्कस्तान के इन क्षेत्रों में क्या भला हुआ था?

अब यह स्पष्ट हो जायेगा कि मिशनरी जन ही रोमन लिपि के कट्टर पुरस्कर्तें थे। हिंदुओं की भाषा तथा उसका साहित्य हिंदुओं को उनके भूतकाल से दृढ़ता से जकड़ कर रखेंगे और मिशनरी तो इन्हीं सनातन बंधनों को तोड़ना चाहते थे। इन भाषाओं को निष्प्रभ करने का एक ही रास्ता था कि उनका स्थान अंग्रेजी को जल्द से जल्द प्राप्त हो जाय। उनकी भाषा की लिपि ही रोमन कर देने से उनका उपलब्ध साहित्य स्वयं ही प्रचलन में नहीं रहेगा।

मिशनरी जन व पं. नेहरू के उद्देश्य एक ही थे। कहा जाता है कि अभी-अभी चीन ने भी रोमन लिपि अपना ली है। यह बात सच नहीं है। चीनी लिपि के उच्चारों को सीखने के लिए चीन में रोमन लिपि का उपयोग किया जाता है। चीनी किताबें रोमन लिपि में नहीं छापी जाती। क्योंकि उच्चारण की अचूकता के संदर्भ में रोमन लिपि की तुलना में नागरी लिपि का श्रेष्ठत्व वादातीत है।

चीनी लिपि की अक्षमता को लेकर भारत में कई गलतफहमियाँ प्रचलित हैं। हूमायूँ कबीर ने एक बार लोकसभा में कहा था कि “जपान ने जिस लिपि का स्वीकार किया है वह रोमन की तुलना में अक्षम है, अतः जपान अमरिका से पराभूत हुआ।” इस तरह के बेमानी विधान जब लोकसभा के आंगण में शिक्षामंत्री द्वारा किये जाते हैं तब इन आंग्ल शिक्षितों की विवेक बुद्धि का स्तर कितना निम्न हो सकता है यह पता चलता है। चीन, जपान तथा कोरिया इन देशों की लिपि एक ही है। इस लिपि के पढ़ने में सक्षम बनने पड़ते हैं। इसे उस लिपि का दोष माना जाता है। परंतु यह कमी या दोष नहीं है। ये तीन हजार चिह्न ध्वनि के द्योतक नहीं हैं वरन् वे शब्दों को सूचित करते हैं। चीन जपान व कोरिया की भाषा के शब्द भिन्न होते हुए भी वे इन्हीं चिह्नों से व्यक्त किये जाते हैं। अतः जपानी लोग इस लिपि में लिखी गई चीनी पुस्तकों को अर्थ पढ़ने के लिए कम से कम तीन हजार चिह्न सीखने पड़ते हैं। परंतु वे इस पुस्तक को चीनियों की तरह नहीं, जापानियों की जापानी भाषा में पढ़ते हैं अर्थात् कोरिया, चीन व जपान इन्हें अनुवाद के बिना ही एक दूसरे के संपूर्ण साहित्य को उनकी अपनी ही भाषा में उपलब्ध है।

गणित के उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। ‘/’ इस चिह्न का अर्थ गणित में भागफल है। परंतु इस चिह्न को अंग्रेजी में Upon (Three upon Four) हिंदी में बटा (तीन बटे चार) तथा मराठी में अंश (तीन चतुर्थांश) आदि शब्द प्रयोगों में पढ़े जाते हैं। √ इस चिह्न को अंग्रेजी में स्केअर रूट हिंदी, मराठी व संस्कृत में वर्गमूल पढ़ा जाता है। = इस चिह्न को अंग्रेजी में इक्वल टू, मराठी में बरोबर, हिंदी में बराबर व संस्कृत में सम पढ़ा जाता है।

गणित के चिह्नों को पढ़ने के लिए किसी भी देश के लोगों को अपनी भाषा में उसे लिखना नहीं पड़ता उसी तरह जापानी, कोरियन व चीनी जनता को उनके आपसी ग्रंथों को पढ़ने के लिए अनुवाद की आवश्यकता नहीं होती। इसका कारण √ = तथा / आदि चिह्न किसी भी ध्वनि के द्योतक नहीं हैं। वे वर्गमूल, समता व भागफल को बताते हैं। इसी तरह चीनी लिपि के चिह्न ध्वनि के द्योतक न होकर अर्थ के द्योतक हैं।

### श्रीमाली की निकासी और छागला का आगमन

उपरोक्त स्थिति से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि यदि एक मराठी व्यक्ति केवल तीन हजार चिह्नों को सीख लेता है तो पुस्तक चाहे चीनी लिपि में हो उसकी भाषा कोरियन या चीनी या जापानी हो वह मराठी में भी पढ़ी जा सकती है। और उस व्यक्ति के लिए चीन, कोरिया, जापान इन सभी देशों का संपूर्ण साहित्य उपलब्ध किया जा सकता है। यह साहित्य अंग्रेजी से सौगुना अधिक समृद्ध है। अंग्रेजी भाषा सीखने में समय व धन की बरबादी करने के बजाय भारत ने केवल चीनी लिपि सीखी होती तो उसके ज्ञान में अधिक वृद्धि हुई होती क्योंकि उसे जपान, चीन, कोरिया का संपूर्ण साहित्य बिना अनुवाद के पढ़ने को मिलता। इस उहापोह से एक तथ्य अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि चीनी लिपि यह केवल

एक बाधा है, यह कल्पना कितनी नुकसानदेह है।

ऐसी स्थिति में हुमायूँ कबीर और छागला जैसे पं. नेहरू के शिक्षामंत्रियों ने रोमन की प्रशंसा-गीत गाये हैं। और एक बात अवश्य स्पष्ट हुई कि अंग्रेजी की दासता के कारण अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की दुनिया के बारे में भारत में कितना अज्ञान फैलता जा रहा है।

पं. नेहरू के एक शिक्षामंत्री थे, उनका नाम था श्रीमाली. मंत्रीपद प्राप्त होते ही उन्होंने घोषित कर दिया था कि वे अपने कार्यकाल में संपूर्ण देश में प्रचलित देशी भाषाओं को माध्यम के रूप में सभी स्तरों पर लागू करेंगे. अभागे श्रीमालीजी! वे इतना भी नहीं जान पाये थे कि देशी भाषाओं को संपूर्ण ज्ञान का माध्यम बनाना कितनी दूर की कौड़ी होगी क्योंकि इन भाषाओं का अस्तित्व भी पं. नेहरू को चुभता था. श्रीमाली की निकासी शीघ्र ही हो गई और उनकी जगह पर छागला स्थानापन्न हुए. छागला ने आते ही अंग्रेजी के बिना हम अनाथ हो जायेंगे, कहकर रोना-धोना शुरू कर दिया.

जो पं. नेहरू के संदर्भ में ऐसा सवाल करते हैं कि पं. नेहरू ने रोमन लिपि कान्हेंट की शिक्षा और देशी भाषाओं के उच्चाटन इन उद्देश्यों का प्रचार कभी भी नहीं किया, फिर उन पर ऐसे आरोप क्यों लगाये जाते हैं? उन्हें पं. नेहरू के उपरोक्त कृत्यों पर सोचना चाहिए.

दूरभाष निदेशिका में भारतीय नामों के आद्याक्षर लिखने में 'ना' कहते हैं. मुझे अपना नाम इस निदेशिका में नी. र. वन्हाडपांडे नहीं लिख सकता. नागरी लिपि में भी मुझे एन. आर. वन्हाडपांडे ही लिखने पर सख्ती की गई है. सब्जी बेचने वाला भी अब एक, दो, तीन के स्थान पर वन, टू, थ्री में ही वस्तुओं की कीमतें बतायेगा! जिस देश ने सारी दुनिया को संख्या की सीख दी है, उसी हमारे देश में अंग्रेजी में संख्या लिखनी पड़ती है. जिस देश में रोमन लिपि से हजारों वर्ष पूर्व लिपि की खोज की गई थी, उसमें आज रोमन लिपि के बिना अनाथ होने का भाव जगाया जा रहा है. क्या इसे आत्मविस्मृति स्वराज्य कहेंगे?

पं. नेहरू 'सरल भाषा' इस शब्द का प्रयोग शब्दों के संदर्भों में कर रहे थे. सरल शब्द किसे कहते हैं? सरल का सर्वत्र प्रचलित अर्थ है, परिचित होना. परिचितता शब्द का गुणधर्म नहीं है. यूँ होता तो जर्मन जनों की दृष्टि से अंग्रेजी शब्द मुश्किल कहे जाते और अंग्रेजों की दृष्टि से सारे जर्मन शब्द कठिन कहलाये जाते.

परिचित अर्थ से देखें तो संस्कृत शब्दों की तुलना में उर्दू के शब्द अधिक सरल हैं. पं. नेहरू ऐसे ही गप्पें हाँकते रहे हैं. भारत के सारी प्रमुख भाषाओं में तीस से चालीस प्रतिशत शब्द संस्कृत से ही लिये गये हैं. पंजाब, कश्मीर प्रदेशों में पंजाबी व कश्मीरी भाषाओं को शिक्षा के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं था. प्राथमिक शिक्षा का माध्यम उर्दू ही था. अतः उर्दू शब्दों का ही प्रचलन अधिक था. परंतु स्वराज्य प्राप्ति के बाद के दस वर्षों में

इन हिस्सों में उर्दू नष्ट होने लगी थी. दिल्ली जैसी जगह में भी उर्दू में लिखे पतों को पढ़ने के लिए पढ़नेवालों की खोज करनी पड़ती थी. यदि पं. नेहरू ईमानदार होते, तो इस छोटी-सी बात को जान लेते कि जनता में उर्दू को कोई स्थान नहीं है, केवल राज्यकर्ताओं के दम पर यह भाषा अपने अस्तित्व को बनाये रख रही है. परंतु सोनेवाले को जगाया जा सकता है, सोने का नाटक करनेवाले को नहीं. पं. नेहरू ने सही बोध पाने के बजाय 'उर्दू बचाव' का नारा जनता को सौंप दिया. आकाशवाणी पर उर्दू में खबरें दी जाने लगीं. ऐसा शोरगुल भी मचाया गया कि हिंदी का इस्तेमाल किये जाने पर मुस्लिमों पर अन्याय हो जायेगा. ऐसा शोरगुल, ध्यान रहे, मुसलमानों ने नहीं किया था.

### संविधान की भ्रूणहत्या का कुचक्र

उपरोक्त स्थिति का प्रभाव नगण्य ही था. स्वयं पं. नेहरू की कन्या संस्कृतमय हिंदी ही बोलती थीं. आज लोकसभा में होनेवाला कोई भी भाषण पं. नेहरू प्रणित 'सरल' भाषा में नहीं दिया जाता. 'जातीय' श्री अटल बिहारी वाजपेयी व सुश्री सुषमा स्वराज के समान ही 'सेक्युलर' कहलानेवाले श्री चन्द्रशेखर तथा विश्वनाथ प्रताप सिंह भी संस्कृतनिष्ठ 'क्लिष्ट' हिंदी में ही बातें करते हैं.

हिंदी के खात्मे के लिए पं. नेहरू किसी भी किस्म की लाठी का उपयोग कर ही लेते थे. यूँ कहा जाता है कि पं. नेहरू का लगाव उर्दू भाषा से अधिक था. परंतु यह प्रेम भाव केवल हिंदी के खिलाफ भाषण देते समय ही व्यक्त होता था. उनकी ही कालावधि में हैद्राबाद रियासत की शासन व्यवस्था व सारी शिक्षा उर्दू में ही कार्यरत थी. इसे आधार बनाकर कम से कम हिंदी भाषी प्रांतों में हैद्राबाद की उर्दू यानी 'सरल हिंदी' में सारे व्यवहार संपन्न करने में पं. नेहरू अपना दिमाग चला सकते थे और अपने उर्दू प्रेम को पुष्ट कर सकते थे. परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया. पुलिस की कार्यवाही के बाद लकड़ी की कलम को एक आघात में ही तोड़ देने जैसा ही, अपने उर्दू प्रेम का भंग कर दिया और अंग्रेजी में सारा व्यवहार प्रारंभ कर दिया. पं. नेहरू के मन में केवल अंग्रेजी के प्रति प्रेम भाव था. उर्दू के साथ-साथ शेष सभी देशी भाषाओं के प्रति उन्हें घृणा थी.

डॉ. रघुवीर खुलकर यह कहते रहे कि संविधान भाषा विषयक कलम जब पारित हुआ था, तब ही पं. नेहरू ने भाषाओं को निष्प्रभ करने का निर्णय ले लिया था. जब यह कलम पारित हुआ था, तब सभागृह की दीर्घा में डॉ. रघुवीर, पं. नेहरू, आजाद आदि मान्यवर बातें कर रहे थे, तब मौलाना आजाद ने डॉ. रघुवीर से यह बात पं. नेहरू के समक्ष ही कही थी कि "आपने हिंदी पास तो करा ली लेकिन अमल करनेवाले तो हम हैं, आप नहीं." अर्थात् राजभाषा हिंदी नामक नवजात शिशु के जनमते ही उसके कण्ठ से निकलते प्रथम स्वर का गला तत्काल घोंट देने का षडयंत्र उसी प्रसूतिगृह में रचा जा रहा था.

इसका अनुभव मैंने भी लिया था. १९५० में मैं दिल्ली में नौकरी करने हाजिर हुआ था. तब मेरा बेटा पाठशाला में भेजने की उम्र का था. उसे दिल्ली के नूतन मराठी

स्कूल में दाखिला दिलाकर अपने कार्यालय में पहुँचा व अपने सहकारियों को यह बात बतायी तब उन्होंने कहा— “नूतन मराठी? यानी वह गँवार पाठशाला?” सुनकर मैं तो चकरा ही गया था. मैंने पूछा— “मेरा बेटा गँवार ही सही. फिर आपका राजकुमार किस पाठशाला में जाता है?” उन्होंने किसी कॉन्वेंट स्कूल का नाम लिया. तब मैंने उनसे कहा— “अब स्वराज्य स्थापित हुआ है. अभी भी मोर के पंख लगाकर मोर होने का दिखावा करने का शौक क्यों? संविधान ने पन्द्रह वर्षों की अवधि में अंग्रेजी के उच्चाटन का निर्णय लिया है. भाषाधारित प्रांतों की रचना हो, यह भी तय हुआ है. मेरा बेटा तब तक कालेज जाने की उम्र का हो चुका होगा, तब तक तो सारे भारत से अंग्रेजी का उच्चाटन हो चुका होगा. फिर स्वभाषा व स्वसंस्कृति से अनजान आपके बच्चों का क्या होगा?”

मेरी बातें सुनकर सभी हँसने लगे. उन्होंने मुझसे कहा— “आप बहुत ही भोले हैं. संविधान तो लिखने मात्र के लिए है, अमल में लाने के लिए नहीं होता.”

संविधान के भविष्य के संदर्भ में मेरे बराबरी के अधिकारी भी बड़े विश्वास के साथ बोल रहे थे. इससे साफ जाहिर था कि उन्हें स्पष्ट रूप से यह सूचित कर दिया गया था कि भाषा का कलम अमल में नहीं लाया जायेगा. मैं 1949 के आखिरी महिनों में भारत आया था. 1950 से पहले स्वतंत्रता दिवस पर संविधान लागू करा दिया था. उससे एक वर्ष पहले ही वह पारित हुआ था. इसका अर्थ यह है कि पारित होने के पूर्व से पं. नेहरू ने संविधान के भ्रूण की हत्या का उनका निर्णय केवल राजकीय मंच से ही नहीं तो सरकारी मंच से भी स्पष्टतः घोषित कर दिया था. और ऐसा मान कर चलने में भी लोगों को कोई दिक्कत नहीं आ रही थी.

मुझे जल्द ही इस बात का भी अनुभव आया. मेरे दर्जे के सभी अधिकारियों की आवास-व्यवस्था पतौड़ी हाऊस में की गई थी. मेरा बेटा उनके बेटों के साथ खेलने जाता था. मेरे बेटे के सिवाय दूसरा कोई भी अपनी मातृभाषा में बातें नहीं कर रहा था. ‘अंग्रेजी बोलो, नहीं तो दोस्तों को भूल जाओ’ के पशोपेश से घिरते ही मेरा बेटा भी छह महिनों में अंग्रेजी में बातें करने लगा. इससे पं. नेहरू ने केवल सतरह वर्षों के कार्यकाल में मातृभाषा से पूर्णतः अलग कर दी गई पीढ़ियों को निर्मित करने की करामत कैसे की होगी, यह अवश्य स्पष्ट होता है.

### चुभते नाखूनों का गले पर बढ़ता दबाव

मैंने अंग्रेजों के समय में, कभी ऐसा दृश्य नहीं देखा था कि भारत के किसी सुशिक्षितों के आवास-क्षेत्र या गली-मोहल्लों में कोई भी व्यक्ति देशी भाषा न बोलता हो. पं. नेहरू प्रणित स्वराज्य का प्रारंभ कुछ इस तरह से हुआ था. उसे देखकर भारत के भविष्य के प्रति मेरा मन निराशा से घिर गया और यह निराशा बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ती जा रही है कि उसके कम होने के आसार आज भी नजर नहीं आ रहे हैं.

मेरा बेटा मराठी माध्यम में पढ़ रहा था परंतु मुझे जल्द ही पता चल गया कि

वह एक-दो-तीन नहीं जानता. वन, टू, श्री के अलावा अपनी भाषा में आँकड़ों की गिनती नहीं कर सकता. मैंने पूछताछ की, तो पाया कि पाठशालाओं को सरकारी आदेश प्राप्त हुए थे कि मराठी माध्यम में भी गणित विषय अंग्रेजी से ही सीखाया जाय क्योंकि अंग्रेजी के बिना गणित सीखा नहीं जा सकता. इस आदेश का संविधान का आधार होने की बात भी की जाती रही. मैंने संविधान के पन्ने उलटे. उसमें पढ़ा कि १, २, ३ इन आँकड़ों को अंग्रेजी ढंग से— जिसे अंतरराष्ट्रीय रीति कहा गया है – लिखा जाय. परंतु इन आँकड़ों को एक, दो, तीन के बजाय वन, टू, श्री पढ़ा जाय, यह कहीं भी नहीं लिखा था. परंतु भारत का संविधान का अर्थ था, पं. नेहरू का संविधान और संख्याओं का एक, दो, तीन नाम से उच्चारित करना ‘गोबर संस्कृति’ के लक्षण हैं. वन, टू, श्री कहे बिना गणित नहीं आ सकता, यह सिद्धांत पं. नेहरू का था. इसे साफ जाहिर होता है कि हमारी नींव को जड़मूल से उखाड़ फेंकना ही उनका उद्देश्य था.

पं. नेहरू अब अपने राष्ट्रभंजन कार्य में इतने सफल होते चले जा रहे थे कि वे खुलकर संविधान की आलोचना करने लगे. संविधान के पन्द्रह वर्ष पूरे होने से पहले ही भाषा संबंधी कलम में सुधार कर दिया कि 1965 के बाद भी अंग्रेजी का उपयोग सहयोगी भाषा की तरह किया जा सकता है. परंतु यह कलम कहीं भी यह नहीं कहता कि केवल अंग्रेजी का ही उपयोग हो और देशी भाषाओं का प्रवेश वर्जित है. परंतु देशी भाषाओं के उच्चाटन की मनोवृत्ति सर्वत्र इतनी दृढ़मूल हो चुकी थी कि सभी यह मानकर चल रहे थे कि भारत में ही भारतीय भाषाओं को स्थान नहीं मिलना चाहिए. आज परिस्थिति इस तरह की है कि न्यायालयों में भी सहकारी भाषा का अर्थ, एकमात्र भाषा ही करेंगे. और इसके आधार स्वरूप 1965 के प्रसंग को मानकर उसे परंपरा का नाम दे देते हैं. यह बात मुझे एक तत्कालीन अवकाश प्राप्त न्यायाधीश ने बताया थी. न्यायालय ने पिछड़े वर्ग का भी अर्थ पिछड़ी जाति माना है.

पं. नेहरू ने स्पष्ट रूप से कहा था कि संविधान में ऐसे सुधार करने का निर्णय उन्होंने बहुत पहले ही ले लिया था. देशी भाषाओं को खदेड़ने के प्रवर्तक पं. नेहरू ही हैं. इस संदर्भ में दक्षिण भारतीयों या मुसलमानों का तथाकथित हिंदी विरोध का कारण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता.

पं. नेहरू ने कई दिनों तक अपनी अंग्रेजी भक्ति को वाणी नहीं दी थी. 1948 में मैंने लंदन के इंडिया हाऊस में पं. नेहरू का भाषण सुना था. तब कार्यक्रम का प्रारंभ अंग्रेजी में किये जाने पर पं. नेहरू ने आयोजकों की निंदा की थी और प्रारंभ के चार शब्द हिंदी में बोलकर उन्होंने अपना भाषण प्रारंभ किया था. फिर तुरंत शेष भाषण अंग्रेजी में ही दिया.

इसका भी कारण स्पष्ट है. उस समय किसी भी कांग्रेस नेता को यह स्वीकार नहीं था कि अंग्रेजी का उपयोग भारत की भाषा की तरह किया जाय. कांग्रेस में सरदार पटेल

का बहुमत था. जल्द ही पं. नेहरू का विरोध होते हुए भी सरदार पटेल द्वारा मनोनीत/अभिलक्षित टंडन ही अध्यक्ष चुने गये. यह प्रसंग इस बात की पुष्टि करता है कि पं. नेहरू ने लंदन में अपना भाषण हिंदी में क्यों प्रारंभ किया, क्यों आयोजकों की निंदा की? टंडन हिंदी के कट्टर पक्षपाती थे. 1950 में सरदार वल्लभभाई पटेल का देहावसान हो गया और पं. नेहरू ने अपने बाधनखों को बाहर निकालना प्रारंभ कर दिया. उन्होंने कांग्रेस में अपना बहुमत प्रस्थापित किया और टंडन को इस्तीफा देने पर मजबूर किया.

हिंदी का संपूर्ण उच्चाटन करना तत्काल संभव नहीं था, फिर भी तुरंत किये जाने योग्य कई बातें थीं. उदाहरणार्थ केन्द्र सरकार द्वारा आयोजित परीक्षाएँ हिंदी माध्यम से ली जाय, जो अंग्रेजी माध्यम से परीक्षा दे रहे हैं, उनके लिए हिंदी भाषा आवश्यक भाषा की जाय, आरंभ में शर्त केवल हिंदी में उत्तीर्ण होने की रखी जाय व हिंदी के अंकों को गुणवत्ता तय करने का निकष न मानने के प्रति सजग रहना जरूरी है. ऐसा होने पर दक्षिण भारत के विद्यार्थी उत्तर भारत के हिंदी विद्यार्थियों से हिंदी में प्रतिस्पर्धा करने में कोई बाधा महसूस नहीं करेंगे. हिंदी का शुरू-शुरू में वैकल्पिक माध्यम के रूप में और फिर बाद में माध्यम के रूप में उपयोग किया जाना कोई मुश्किल बात नहीं थी.

### पहली बलि संस्कृत की

पं. नेहरू के प्रचार के कारण सोच की एक नीति बन गई कि हिंदी का प्रयोग करने के कारण दक्षिण भारतीयों पर अन्याय होगा. संविधान सभा में ऐसी दलील किसी ने भी पेश नहीं की थी.

तमिलनाडू व बंगाल में अंग्रेजी का इस्तेमाल कम से कम एक शतक पहले ही प्रारंभ हो गया था. अतः अंगरेजी के खिलाफ सोचते समय जैसा सहज रूप से कहा जा सकता है कि अंग्रेजी का लाभ केवल तमिलनाडू व बंगाल ही उठा रहा है यह स्थिति शेष भारतीयों के लिए अन्यायकारक साबित हो सकती है. क्योंकि अंग्रेजी के बाबत इन दोनों प्रांतों की निपुणता शेष भारतीयों की तुलना में श्रेष्ठ है इसे नकारा नहीं जा सकता.

यदि कुछ प्रांतों में हिंदी का प्रयोग करनेवाले विद्यार्थियों के चुनाव के प्रमाण में पहले से अधिक कमी आती है ऐसा कुछ अध्ययन किया गया होता तो सांख्यिकी भाषा में इस प्रमाण में कमी आने का कारण वस्तुतः स्पष्ट हुआ है या नहीं, इसका पता अवश्य चल जाता. ऐसा सचमुच यदि हुआ होता, तो निर्णयानुसार उपाय योजना तय करना सहज संभव था. श्री मुरारजी देसाई के कार्यकाल में राज्य-व्यवहार में इस्तेमाल की गई सारी भाषाओं का उपयोग केन्द्र सरकार की परीक्षाओं में किये जाने की सूचना दी गई थी. परंतु इस व्यवस्था में भी परीक्षक अपने प्रांतों के विद्यार्थियों के संदर्भ में पक्षपात करते हैं या नहीं इसे जानने के लिए सांख्यिकी का उपयोग आवश्यक ही था. अब परीक्षक पक्षपात करने की ठान ही लेते हैं तो अंग्रेजी माध्यम में भी संभव है यह बात विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं से सूचित होता ही है. परीक्षक के लिए परीक्षार्थी का नाम उत्तरपत्रिकाओं पर न लिखा हो,

तो भी वह किसकी है इसे जानना मुश्किल बात नहीं है.

संविधान लागू होने की घोषणा होते ही उस दिन से ही सारे समाचार पत्रों में अंग्रेजी के स्तुति सुमन उड़ते गये और हिंदी का माखौल प्रधानतः उड़ाया गया. ऐसा भी नजर आने लगा था कि हाल में संविधान द्वारा हिंदी के उच्चाटन का आदेश दिया गया था, इस बात से सभी अनजान थे. शिक्षा मंत्री होकर भी मौलाना अब्दुल कलाम आजाद भी संस्कृत शब्दावलियों को भला-बुरा कहने लगे थे. संविधान ने संस्कृत शब्दावली का उपयोग करने का आदेश दिया है यह सूचित करने पर भी वे वही राग अलाप रहे थे. अंग्रेजी का बाल भी बाँका नहीं हुआ था और हिंदी के कारण अंग्रेजी का स्तर नीचे गिरा देने की अफवाह फैला दी गई. और अंग्रेजी के स्तर को बनाये रखने के लिए अंग्रेजी की खास संस्था हैद्राबाद में स्थापित की गई. स्वयं पं. नेहरू भी The Constitution is not sacrosanct अर्थात् संविधान पवित्रता की मूर्ति नहीं है, कहते रहे. एक आदेश था कि सारे केन्द्रीय कर्मचारियों को हिंदी सीखनी होगी अन्यथा छुट्टियाँ नहीं मिलेंगी. इस आदेश को भी नामंजूर कर दिया गया.

पं. नेहरू की आधुनिक देशी भाषाओं से अधिक संस्कृत पर अधिक अदावत थी. जब मैंने अपना मत प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रा. वा. वि. मिराशी से कहा तो उन्होंने कहा कि 'आपका यह खयाल गलत है. पं. नेहरू ने 'Discovery of India' में संस्कृत भाषा की प्रशंसा की है.' मैंने यह भी कहा कि 'Discovery of India' के लेखक पं. नेहरू और प्रधानमंत्री पं. नेहरू एक नाम में छिपे दो अलग-अलग व्यक्तित्व हैं. पं. नेहरू जो कुछ कहते हैं उस पर से पं. नेहरू को समझना होगा. गांधी युग में उन्होंने जो कुछ कहा है, उस पर मोहित होना उचित है.'

पं. नेहरू ने संस्कृत का भला निम्न तरीकों से किया—

कई पाठशालाओं से संस्कृत के लिए अधिक विद्यार्थी न होने का कारण बताकर संस्कृत पूरी तरह से बंद हो गया. ऐच्छिक विषयों का विभाजन इस तरह किया गया कि विज्ञान के विद्यार्थी संस्कृत पढ़ ही न पाये. ऐसी भी जिद की गई कि यदि संस्कृत के प्रचार-प्रसार का कार्य सम्पन्न करना हो तो उसके साथ अरबी-फारसी के प्रसार की योजना बनायी जाय. पं. नेहरू की संस्कृत संबंधी सोच का पता पी. व्ही. नरसिंहराव के कार्यकाल में दुनिया को चल गया था. सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका प्रस्तुत की गई, जिसमें 'सरकार पर ही संस्कृत सीखाने की जिम्मेदारी है, यह बात सरकार को समझायी जाय' ऐसा कहा गया था. तब सरकारी वकील ने कहा कि संस्कृत के प्रसार की जिम्मेदारी सरकार की है, ऐसा माना जाने पर यह भी मानना होगा कि 'अफ्रिका की झूलू भाषा के प्रसार की जिम्मेदारी भी सरकार की ही है.' इन विचारों को पं. नेहरू के नहीं, पी. व्ही. नरसिंहराव के हैं कहने का साहस कोई भी नहीं करेगा. क्योंकि पं. नेहरू को अधिकार प्राप्त होने से लेकर सत्रह वर्षों में संस्कृत के प्रति जैसा व्यवहार किया गया, उसका स्पष्ट प्रतिबिंब इन उद्गारों में नजर



आता है. पं. नेहरू का यह मत किसी न किसी फाईल में लिखा तो गया ही होगा.

### मेरी हिंदी तादजिकिस्तान में समझी गयी थी

ऐसा होते हुए भी पं. नेहरू व श्रीमति इंदिरा गांधी के लगातार संपर्क में रहनेवाले पी. व्ही. नरसिंहराव को तो इस संदर्भ में पं. नेहरू का रवैया क्या था, पता नहीं होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता. परंतु उनकी क्या मजाल थी कि पं. नेहरू के रवैये के खिलाफ जाने की सोच भी लें. पं. नेहरू का यही रवैया आगे भी जारी ही रहा. क्योंकि प्रचार के सारे माध्यमों द्वारा पं. नेहरू के ही विचार उनकी मृत्यु के बाद भी प्रसारित होते रहे हैं. तब तक सूचना व प्रसार मंत्रालय स्वायत्त बन गया था, किंतु पं. नेहरू के विचारों से सहमत अधिकारियों की ही वहाँ नियुक्ति की गई थी. वे और उनके बौद्धिक वंशज उनके ही अधीन कार्यरत दूरदर्शन व आकाशवाणी कहलाते हैं. अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्री बनने पर भी विदेशों में आकाशवाणी व दूरदर्शन देख-सुनकर जनता को लग रहा था कि अभी भी पं. नेहरू के ही वंशजों का शासन चल रहा है. श्रीमति सुषमा स्वराज ने दूरवाणी की भाषा में कुछ करने का प्रयत्न अवश्य किया था, तब उन्हें यह खबरदार किया गया कि यह विभाग स्वायत्त है. केवल एक कर्मचारी को निलंबित करने के लिए सरकार को अध्यादेश जारी करना पड़ा. शिक्षा के क्षेत्र में भी पं. नेहरू के ही विचारों को पढ़ाया जा रहा था. पं. नेहरू के सतरह साल, श्रीमति इंदिरा गांधीजी के भी लगभग उतने ही वर्ष और श्री राजीव गांधी के कार्यकाल मिलाकर कुल आधा शतक नेहरू वंश का राज्य चला था. इस कालावधि में नेहरूवाद भारत में पूरी तरह से रच बस गया. अतः संस्कृत द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में कहा गया था वह पी. व्ही. नरसिंहराव का अपना मत हो ही नहीं सकता.

पं. नेहरू के संस्कृत विरोधी प्रचार के फल साफ ही नजर आते हैं. आज संस्कृत भाषा सत्ताधारी वर्ग और उच्चभ्रू कहलानेवाले समूह में मजाक का विषय बन गया है. पहले बातें करते समय संस्कृत सुभाषितों का उपयोग प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी. अब संस्कृत सुभाषित कहा जाय तो पूछा जाता है कि 'यह कौन-सी भाषा है?' पहले प्रवचनकर्ता सुस्वरों में संस्कृत सुभाषितों का गाकर रसपूर्ण ढंग से उनके अर्थ बताते थे. इससे अशिक्षितों में भी संस्कृत के प्रति रूचि बढ़ती जा रही थी. अब प्रवचनकारों ने भी संस्कृत को भी बहिष्कृत कर दिया है, वे अपने प्रवचनों में अंग्रेजी में बतियाये बगैर इस बात का स्वीकार नहीं करते कि उनकी हरिभक्ति का प्रचार कार्य पूरा हुआ है.

जब संस्कृत की यह दशा है तो हिंदी की तो कुछ मत पूछिए. 'हिंदी प्रदेश पिछड़े हुए हैं, हिंदी बोलने में जीभ लड़खड़ाती है, हिंदी को सरकार व शिक्षा के क्षेत्र में उपयोग में लाने से पहले उसमें सुधार की आवश्यकता है, हिंदीवाले डण्डों के बल पर हिंदी का प्रचार करते हैं, हिंदी के समर्थक संकुचित वृत्ति (Chavinistic) के हैं आदि पं. नेहरू की सूक्तियाँ समाचार पत्रों में रोज पढ़ने को मिलती थी.

कुछ लोगों का कहना यह था कि पं. नेहरू का विरोध हिंदी से नहीं था, उसकी

क्लिष्टता से था. हिंदी क्लिष्ट भाषा है यह कहनेवाले पं. नेहरू से डॉ. रघुवीर पूछते थे कि 'आपका व हिंदी का परिचय ही कितना है?' पं. नेहरू ने हिंदी की एक भी पूरी किताब पढ़ी होगी, इस बारे में संदेह उत्पन्न होता है. फिर भी ऐसा स्वांग रचते हैं कि उन्हें हिंदी समझ में नहीं आती और इसे हिंदी का दोष कहते हैं. वे यह मानकर चलते थे कि वे बहुत ही सरल हिंदी बोलते हैं. परंतु एक बार एक रूसी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के समक्ष जब वे हिंदी बोल रहे थे तब उस अभ्यासक ने पं. नेहरू से कहा कि 'आप क्या कह रहे हैं, वह हम नहीं समझ पाये.' इस तरह की बात यदि कोई भारतीय पं. नेहरू से कहता तो पंडितजी उन्हें उनकी बुद्धिमत्ता की जाँच करने को कहते. परंतु कम्युनिस्ट रूस के 'पुरोगामी' व 'आधुनिक' लोगों से ऐसा कुछ कहने का साहस उनमें न था. परंतु वे यह अवश्य कहते रहे कि उन्होंने भारत में आकर यह प्रचार किया है कि 'हिंदीवालों ने हिंदी क्लिष्ट बनाया है और विदेशियों ने क्लिष्ट हिंदी को सही हिंदी बताकर सब की दिशाभूल की है.' अपने इस आरोप के लिए प्रमाण स्वरूप उदाहरण पं. नेहरू बताते हैं कि जब उन्होंने तादजिकिस्तान में हिंदी में भाषण किया था, तब वहाँ की जनता समझ पायी थी. तादजिकिस्तान के लोगों के समझ में आती है वह हिंदी सरल और भारत की जनता उसे समझ नहीं पाती, क्योंकि उनकी योग्यता 'गोबर संस्कृति' से उद्भूत है, वे क्या जाने गोमांस संस्कृति की श्रेष्ठता? पं. नेहरू को इस बात का अहसास जरूर रहा होगा कि वे हिंदी अच्छी तरह से नहीं जानते, फिर भी हिंदी के विषय में ढेर सारे अभिमत देते चले जा रहे हैं. परंतु पं. नेहरू तो हिंदी से द्वेष ही करते थे. जिस कुत्ते को गोली ही मारनी हो, उसे चार अपशब्द भी कह दिये जाय, तो नाहक हिंसा करने का मलाल बना नहीं रहता. और यह जरूरी नहीं कि अपशब्द वास्तव से ही जुड़े हों.

### मुहिम हिंदी के खिलाफ

अब चीन से पीट जाने के बाद घर की बुढ़िया, जो हिंदी थी, पर अपनी वीरता दिखाकर पं. नेहरू अपने मत की तसल्ली के लिए हिंदी को सान पर धरने के लिए आकाशवाणी की ओर अग्रसर हुए. उन्होंने कुछ पाठ आकाशवाणी के हिंदी कर्मचारियों को देकर बताया कि हिंदी कैसी होनी चाहिए. आकाशवाणी के तज्ञों ने पं. नेहरू की सूचना पर अमल करते समय यह पाया कि यह हिंदी नहीं, उर्दू है और ऐसा निर्णय लिया कि हिंदी को जस का तस ही रखा और उर्दू में स्वतंत्र प्रक्षेपण देना प्रारंभ किया. इस पर पं. नेहरू ने कहा कि उन्हें हिंदी व उर्दू के अलग-अलग प्रक्षेपण नहीं चाहिए. मैं चाहता हूँ कि दोनों प्रक्षेपण बंद किये जाय और 'हिंदुस्तानी' का एकमेव प्रक्षेपण जारी किया जाय. तब आकाशवाणी के हिंदी ज्ञाताओं ने कहा कि हम जिस उर्दू में प्रक्षेपण कर रहे हैं उसमें और हिंदुस्तानी में कोई भेद नहीं है. अतः उसे जारी ही रखा जाय और एक ही प्रक्षेपण जारी रखने का अर्थ यह होता है कि 'हिंदी प्रक्षेपण पूरी तरह से बंद कर दिया जाय.' आकाशवाणी के बेचारे हिंदी विद्वान! वे नहीं जान पाये कि पं. नेहरू ठीक यही चाह रहे थे. इसे समझ



लेने पर भी 'हिंदी बंद करो' ऐसा स्पष्ट हुक्म या आदेश की माँग पं. नेहरू से करना चाह रहे हों. और इतना साफ आदेश देने का अर्थ था संविधान को भूखों मारने के बजाय खुले आम कुल्हाड़ी से प्रहार करना था. संविधान की शब्द योजना देखें तो न्यायालय इस आदेश को स्वीकार ही नहीं करता. अतः पं. नेहरू ने ऐसा आदेश जारी नहीं किया.

पं. नेहरू ने यह कहकर कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है, सरासर झूठा प्रचार किया और मुसलमानों को हिंदी के खिलाफ भड़काया. हर राज्य के मुख्यमंत्री को बार-बार पत्र लिखकर उन्हें उनके राज्य में उर्दू के प्रचार के लिए बाध्य किया. उन्होंने ऐसा आदेश भी निकाला कि जहाँ मुसलमान बहुसंख्या में हो उन क्षेत्रों में उर्दू का उपयोग प्रादेशिक भाषा के रूप में हो. साथ ही यह भी आदेश दिया कि जिन प्रदेशों में मुसलमानों की संख्या नगण्य हो, वहाँ भी उर्दू को द्वितीय भाषा की तरह उपयोग में लायी जाय. उर्दू का जुआँ (जोखड़) हिंदी से बांध दिया जायेगा तो हिंदी व उर्दू दोनों का ही उपयोग कम होता जायेगा और अंग्रेजी का उपयोग अधिक होता जायेगा. यह पं. नेहरू की युद्धनीति थी.

इन बातों से एक बात साफ जाहिर है कि हिंदी को सरल बनाने के पीछे पं. नेहरू का उद्देश्य हिंदी का त्वरित प्रचार-प्रसार नहीं था. हिंदी पर रोक लगाने के लिए पं. नेहरू का उचित अनुमान यह था कि जिस भाषा का अधिकांश भारतीय समझते हैं कि उसका इस्तेमाल न करते हुए, भारतीयों से मुसलमानों का अलगाव बनाये रखने के लिए जिस भाषा का जन्म हुआ, उसका ही ढोल पीटना आवश्यक होगा. संविधान के आदेश के अनुसार संस्कृत निष्ठ हिंदी के प्रयोग के मार्ग पर जितनी हो सकें, उतनी रूकावटें यदि पं. नेहरू उपस्थित न करते, तो आज हिंदी का प्रसार सारे भारत भर हो जाता. ऐसी स्थिति में सौ करोड़ लोगों को ज्ञात एक भाषा के रूप में हिंदी भारत के बाहर आग्नेय एशिया के देशों में भी प्रचलित हो गई होती. आग्नेय एशिया की भाषाओं में केवल संस्कृत के शब्द ही नहीं, वरन् आधुनिक उपकरणों के लिए प्रयुक्त 'दूरशब्द', 'वाहनस्तम्ब' जैसे हजारों शब्द संस्कृत शब्दों से बनाकर प्रयोग में लाये जा रहे हैं. रूस, चीन, पश्चिम एशिया में हिंदी चलचित्र देखे जाते हैं. रूसी भाषा में भी संस्कृतोद्भव शब्दों की भरमार है. अंग्रेजों के समय में ही ब्रह्मदेश में हिंदी के प्रसार के बारे में शरतचन्द्र चटोपाध्याय ने अपने लेखन में कहा ही है. यदि हिंदी दुनिया में सबसे अधिक प्रचलित भाषा हो जाती तो दुनिया में भारत का स्थान कितना ऊँचा हो जाता! आज का भारत तो अंग्रेजी के मैदान के एक कोने में पड़ा दुर्लक्षणीय देश कहलाया जाता है.

पं. नेहरू तो यही चाह रहे थे. उन्हें दुनिया में भारत का स्थान ऊँचा उठाना ही नहीं था. उनका मकसद स्वयं विश्व स्तर पर एक ऐसा नेता बनकर ख्याति प्राप्त करनी थी, जो 'गोबर संस्कृति' के भारत को उन्नत अंग्रेजी गोभक्षक संस्कृति का अंग बनाने में जुटा था.

पं. नेहरू के भक्त कहते हैं कि भारत राष्ट्र है ही नहीं, अतः भारत में सभी भारतीयों

के लिए एक भाषा होने की जरूरत ही नहीं है. रूस स्वयं को बहुराष्ट्रीय देश कहता था, परंतु वहाँ सभी को रूसी भाषा सीखनी ही होती है. इस बात को वे अपनी सुविधा से भूल जाते हैं.

### प्रांतीय भाषाओं पर आपत्ति

किसी भी उच्चभ्रू व्यक्ति का भाषण हो, समाचार पत्र में लेख हो, आकाशवाणी पर चर्चा हो, या दूरदर्शन की मालिका हो, कुछ भी हो हिंदी का मजाक उड़ाया ही जाता था. मुझे, आकाशवाणी ने 'अंग्रेजी के संस्कृतोद्भव शब्द' विषय पर भाषण देने के लिए बुलाया था तब साफ-साफ कह दिया था कि 'अंग्रेजी के खिलाफ बोलना आकाशवाणी की नीति के खिलाफ है.' 'स्वाभिमान' शीर्षक मालिका काफ़ी लोकप्रिय हुई थी. उसमें पूजा नामक एक पात्र है, जिसने अंग्रेजी नहीं सीखी थी और खानदानी या पुराने रिवाजों में पली-बढ़ी थी. हर पुरुष उसे 'ना' ही कह देता था. फिर उसने अंग्रेजी लिखना-पढ़ना सीखा. साड़ी पहनना छोड़कर जीन्स पहनने लगती है और इस कारण थोड़ी-बहुत 'स्मार्ट' दिखने लगती है.

पं. नेहरू ने जिस केन्द्रीय सिंहासन पर विराजमान होने का हक हिंदी भाषा का था, उन्होंने उसे उसके आसपास भी फटकने नहीं दिया और इसके लिए उन्होंने हिंदी के खिलाफ मुसलमान व दक्षिण भारतीयों को उकसाया था. परंतु अंग्रेजी को तो, हिंदी के बजाय दूसरा आवाहन था देशी भाषाओं से. भारत में दुनिया की उन्नत भाषाओं के समकक्ष आठ-दस करोड़ लोगों के बीच बोली जानेवाली कम से कम सात भाषाएँ प्रचलित थीं. और शेष आधी दर्जन भाषाएँ कभी भी उपरोक्त श्रेणी हासिल करने को ही थीं. पंजाब की प्राथमिक पाठशालाओं में भी पंजाबी सिखायी नहीं जाती थी. वहाँ उर्दू पढ़ायी जा रही थी. परंतु इस सारी स्थिति में परिवर्तन हो रहा था, उर्दू की जगह हिंदी व पंजाबी द्वारा ली जाने की तैयारियाँ प्रारंभ हो चुकी थी. पं. नेहरू इस बात का अनुमान लगा चुके थे कि केन्द्र में चाहे कोई भी भाषा हो, परंतु जनता केन्द्र का कारोबार हिंदी के निकट की भाषा में होने की माँग अवश्य करेगी. फिर परभाषा के बिना भी सारा व्यवस्थापन सुचारू रूप से हो सकने का अनुभव प्राप्त होते ही, प्रांत इस बात को बिलकुल ही स्वीकार नहीं करेंगे कि इस भाषा से सर्वथैव भिन्न ऐसी अंग्रेजी में सरकार का कामकाज होवे. इसके अलावा हर प्रदेश में हिंदी सीखनी ही होती थी, साथ ही यह सूचना भी मान्य की गई थी कि जिनकी मातृभाषा हिंदी थी वें दूसरी प्रांतीय भाषा सीखें. इस कारण हिंदी प्रदेशों में भी शेष भाषाओं का प्रसार हुआ होता. प्रांतों में स्थायिक परंप्रांतियों को उस प्रांत की भाषा सीखने की सख्ती का परिणाम यह हुआ होता कि विविध भाषाओं के ज्ञाताओं का समूह एक प्रांत में एक साथ व्यवहार करता और बृहदतर भाषिक आदान-प्रदान से राष्ट्रीय एकता के दृढ़ बनने का संबल मिलता. ऐसे माहौल के परिणामस्वरूप अंग्रेजी का ही उच्चाटन हो ही जाता. परंतु पं. नेहरू के लिए मूलतः ही राष्ट्र न कहलाये जानेवाले भारत में हिंदुओं की एकता की बात बड़े तेज सिरदर्द

की थी. वे इस एकमात्र कल्पना से ही सिहर उठते थे कि भारत में अंग्रेजी को चीनी, जपानी, रूसी, जर्मन या फ्रेंच भाषा से अधिक स्थान नहीं मिल सकेगा. अतः भाषाधारित प्रांत-रचनाओं की धज्जियाँ उड़ाना ही उन्होंने अपरिहार्य समझा.

पं. नेहरू एक लम्बे असें तक यह जताते रहे कि भाषाधारित प्रांत-रचना की माँग के बारे में उन्हें कुछ पता ही नहीं था. यूँ जताना उन्हें आसान भी रहा क्योंकि संविधान में भाषाधारित प्रांत-रचना का साफ शब्दों में कालबद्ध आदेश नहीं दिया गया है. यह भी तो पं. नेहरू के ही जतन से संभव हुआ था. जब भाषाधारित प्रांत-रचना की माँग को संविधान में स्थान दिलाने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन ने जोर पकड़ा और तदनुसार माँग भी की गई तब पं. नेहरू ने उसका विरोध किया और सूचना की कि इस समस्या पर पुनर्विचार करने के लिए समिति का गठन किया जाय. इस सूचना को जारी करते समय पं. नेहरू बिलकुल ही झूठा विधान कर देते हैं कि 'कांग्रेस ने भाषाधारित प्रांतों की कल्पना का स्वीकार कभी भी नहीं किया था.'

संविधान सभा ने भाषाधारित समिति का गठन किया और उसका सभापतित्व पं. नेहरू को ही प्राप्त हुआ. इस समिति ने बताया कि देश की स्थिति ठीक न होने के कारण भाषाधारित प्रांतों की रचना का कार्य दस वर्षों बाद सम्पन्न किया जाय. पं. नेहरू की इस समिति की सिफारिश के कारण संविधान का कलम 3 कहता है कि भविष्य में कभी ऐसे प्रांत स्थापित किये जाय. अब जब संविधान में ही पं. नेहरू ने अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर ही लिया था तो कांग्रेस कार्यकारिणी पर भी दबाव डालकर ऐसा मान्य करवा ही लिया कि भाषाधारित प्रांतों की रचना की माँग को अधिक तानना नहीं चाहिए. (एस. गोपाल) उन्होंने हिंदी की उनके मतानुसार मानी गई आफत को पन्द्रह वर्षों के लिए दूर धकेल दिया. अब प्रांतीय भाषाओं की 'आपत्ति' को भी उसी रीति से अनिश्चित काल के लिए आगे टेल दिया था. इससे एक बात स्पष्ट होती है कि स्वराज्य में भारतीय भाषाओं को उचित स्थान दिलाने के किसी भी कार्यक्रम को पं. नेहरू नामक एकमात्र व्यक्ति का ही विरोध था.

जब देशी भाषाओं की स्थिति Unsettled है कहकर पं. नेहरू ने उपरोक्त प्रस्ताव को जब हामी भी दी थी तब उसका कोई आधार नहीं था. हिंदु-मुसलमानों के दंगे 1947 से 1950 की कालावधि की तुलना में काफी शांत हो चुके थे. और विदेशियों का भय पहले से अधिक था, आदि स्थितियों को जाना जा सकता था. परंतु देश के अस्वस्थ होने का झूठा कारण देकर पं. नेहरू ने भाषाधारित प्रांतों की रचना को आगे धकेल दिया. इससे यह स्पष्ट है कि देश भाषाओं के हित में, जो भी कार्यक्रम हो, उसे नकारने के लिए पं. नेहरू कोई भी कारण बता सकते थे.

### उद्यम मचा भाषा-भाषाओं के बीच

पं. नेहरू की आदत थी किसी भी बात पर कान न धरना/देना. उन्होंने दिखावा किया कि उन्हें प्रांतीय भाषाओं के अस्तित्व के बारे में कुछ भी मालूम नहीं है. परंतु आन्ध्र

प्रदेश के श्री सीतामलू इस बात को बरदाश्त नहीं कर सके. और उन्होंने आन्ध्र प्रदेश की निर्मितिके लिए उपोषण प्रारंभ कर दिया. इसी घटना के दौरान ही उनका देहांत भी हुआ और हैदराबाद में शामिल तेलगू भाषी प्रदेश छोड़कर शेष को आन्ध्र प्रदेश कहा गया. फिर इसी घटना के बाद से अंग्रेजी के पक्षधर कहने लगे कि सीतामलू के अनशन से ही भाषाधारित प्रांतों की रचना की सनक लोगों पर सवार हुई, अन्यथा अंग्रेजी के राह पर कोई भी रोडा न था. यह स्थिति इस बात का खेदजनक उदाहरण है कि भारतीय कितनी जल्दी अपने राष्ट्रीय निर्णयों को भुला देते हैं. वास्तव में भाषाधारित प्रांत-रचना का मुद्दा, स्वराज्य आंदोलन की एक राष्ट्रीय माँग था, न कि सीतामलू के अनशन से उपजा पिल्ला. भारत की सभी राष्ट्रीय माँगों की भ्रूण हत्या करना ही, पं. नेहरू का आजीवन कर्म था.

श्री राजीव गांधी ने कहा था कि भाषाधारित प्रांत-रचना स्थापित करना, यह पं. नेहरू की एकमात्र भूल थी. यह कथन साबित करता है कि देश के प्रधानमंत्री को भी अपने ही नाना के दिनों के भारत के इतिहास का कितना विपर्यस्त ज्ञान था. भाषाधारित प्रांत-रचना की माँग पं. नेहरू की नहीं थी. उन्होंने भाषानुरूप प्रांतों की रचना नहीं की. भारतीयों ने/देश ने उन्हें वैसा करने पर मजबूर किया. पं. नेहरू भाषिक प्रांतों के बारे में भारतीयों की सारी कोशिशों पर पानी फेरने के लिए जुटे हुए थे. पर वे सफल नहीं हुए.

आन्ध्र प्रदेश की स्थापना होते ही अन्य राज्यों ने भी अपनी माँग रखना प्रारंभ किया. तब उन्हें कचरे का डिब्बा दिखाने के लिए पं. नेहरू ने फाजल अली समिति नियुक्त की. इस समिति को तय करना था कि प्रांतों की रचना किस तरह की जाय. इस समिति के लिए एक बात बिलकुल स्पष्ट थी कि एक भाषा को बोलनेवाले कम से कम लोगों के समूह को उस भाषा को न बोलनेवालों के प्रदेश में जाना होगा, ऐसे ही तरीके से उसे प्रदेश की सीमाएँ तय करनी थी. किस भाषा के लोग कहाँ रहते हैं यह पता ही था. अतः इसे आधार मानकर सबसे छोटे कबीले को उसके मूल प्रांत से संलग्न गांव को, एक इकाई मानकर सीमा तय की जायेगी इसे सभी ने मान ही लिया था. फाजल समिति का बखेड़ा खड़ा न करते हुए इस रीति से प्रांतों की रचना की गई होती, तो किसी तरह का झगड़ा हुए बिना भाषाधारित प्रांत-रचना निर्विघ्न पूरी हो जाती. परंतु पं. नेहरू को वैसा होने ही देना नहीं था. उनका एकमात्र लक्ष्य था, इसे आधार बनाकर कलह निर्माण करना और भाषाधारित प्रांतों की रचना की संकल्पना को कबाड़ी की दुकान दिखाना.

भाषा के आधार पर संलग्न प्रदेश को प्रांत बनाना इस विचार को ताक पर रख दिया जाय तो किस तरह की समस्याएँ उद्भूत होंगी, इसका ताजा उदाहरण है, मुंबई. मुंबई की तीन दिशाओं में मराठी भाषी प्रदेश हैं, मुंबई की तत्कालीन जनसंख्या मराठी भाषी थी और तब स्वभावतः मुंबई महाराष्ट्र में रहना ही चाहिए थी. परंतु शोर यह मचाया गया कि 'मुंबई मराठियों ने नहीं बनायी, उसे गुजराथियों ने बनाया है. वह मराठी भाषी न होकर बहुभाषी है.' किसी नगर को किसने आकार दिया, इस बात पर जोर देना होगा तो कलकत्ता

को मारवाडियों ने बनाया कहना होगा. इतना ही नहीं, सारा भारत ही अंग्रेजों ने बनाया कहने पर स्वराज्य की माँग भी गलत साबित होती है. अब ऐसा भी कहा जाने लगा कि मुंबई मराठियों को दे दी जाय तो गुजरातियों का नुकसान होगा. अंग्रेजों द्वारा प्रयुक्त स्वराज्य के खिलाफ अल्पसंख्याक की समस्या का उपयोग पं. नेहरू ने भी अंग्रेजी की सुरक्षा के लिए किया. यह प्रसंग उसका जीवंत उदाहरण है.

गुजरातियों के हित का बहाना करके पं. नेहरू ने मुंबई को महाराष्ट्र में शामिल न करके उसे स्वतंत्र प्रांत बना दिया. यदि ऐसा मान भी लें कि गुजरातियों को बहुसंख्यांक मराठियों से भय लगता था तो भी मुंबई को स्वतंत्र घोषित करने से इस भय की समस्या दूर होने की संभावना भी नहीं थी. परंतु पं. नेहरू को गुजरातियों के हित की चिंता नहीं थी. उन्हें तो केवल प्रांत विभाजन की समस्या के बहाने दंगे फैलाने थे. उनकी योजनानुसार मुंबई में दंगे हुए. इन दंगों में गुजराती महिलाओं पर अत्याचार किये जाने के आरोप भी किये गये. एक बार दंगे होने पर सभी प्रकार के लोग अपना हाथ मार ही लेते हैं और अपना लक्ष्य हासिल कर ही लेते हैं, ऐसे ही दंगे असम में बंगालियों के खिलाफ फैलाए गए थे. ये मुंबई के दंगों से अधिक भयावह होने की बात कही जाती है. बेलगांव को कर्नाटक में शामिल करा देने से उत्पन्न झमेला अभी तक निपटाया नहीं गया है.

### महात्मा गांधी का गुजरात और अंतिम अंग्रेज

बेलगांव का वाद भी निष्कारण ही फैलाया गया था यह बात भी जल्द ही सिद्ध हो गयी थी. कन्नडियों ने महाजन समिति का निर्णय उनके खिलाफ होने पर भी उसे स्वीकार करने की हामी भर दी थी. बेलगांव की समस्या को 'कबीले को एक इकाई मान कर' हल किया गया होता तो इसमें संदेह नहीं था कि बेलगांव वासी उसे मान ही लेते. परंतु महाजन चाचा नेहरू के चले और अंग्रेजों के लिए देशी भाषा की अवहेलना करनेवालों में से एक थे. उन्होंने अपना निर्णय सुनाने से पहले भाषाधारित प्रांत-रचना कितनी नुकसानदेह है, यह कहने के लिए कई पृष्ठ लिख दिये. किसी ने 'भाषाधारित प्रांत-रचना की जाय या नहीं' इस पर उनकी राय नहीं माँगी थी. परंतु भाषाधारित प्रांत-रचना को हटाना ही होगा तो उससे संबंधित झगड़ों को बनाये रखना जरूरी था.

पं. नेहरू को दंगों के रूप में अमूल्य संपत्ति हासिल हुई थी, बल्कि उन्होंने हासिल कर ली थी. उन्होंने शोर मचाना प्रारंभ कर दिया कि 'देखिए, भाषावाद के कारण कैसे दंगे उठ खड़े हुए हैं.' परंतु दंगों का कारण भाषावाद नहीं था, वरन् भाषाधारित प्रांत-रचना न की जाना था. ऐसे दंगों को फैलाकर भाषाधारित प्रांत-रचना को उड़ा देना ही उनका एकमात्र लक्ष्य रहा है.

संयुक्त महाराष्ट्र बना, तब भी पं. नेहरू का दिल विदर्भवासियों के लिए रो रहा था. विदर्भवासियों को महाराष्ट्र में शामिल होने का आग्रह या जबरदस्ती नहीं की गई थी. विदर्भ के कुछ लोग स्वतंत्र विदर्भ की बात कर रहे थे, तो कुछ लोग इस माँग का विरोध

कर रहे थे. माँग करनेवालों की संख्या बहुत कम थी. अनेक चुनावों में यह बात सिद्ध हो चुकी है. ऐसी स्थिति में विदर्भ के लिए पं. नेहरू का 'आँसू बहाने' का अर्थ केवल इतना ही था कि संयुक्त महाराष्ट्र के खिलाफ विदर्भवासियों को उकसाने का प्रयत्न.

पं. नेहरू दिखावा कर रहे थे कि "भाषाधारित प्रांत-रचना के पक्षधर देश में फूट डाल रहे हैं और मैं भारतीय एकता का रक्षक हूँ." पं. नेहरू की भारतीय एकता का अर्थ था, अंग्रेजों की दासता. इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी राज अंग्रेजी भाषा से अधिक एकता के लिए पोषक था क्योंकि अंग्रेजी राज में पाकिस्तान भी समाविष्ट था. स्वराज्य की माँग ने देश को विभाजित कर दिया.

देश में 'एक राष्ट्र' की भावना को पनपाने में देशी भाषाओं का बहुत बड़ा योगदान है. अंग्रेजी ने केवल दासता का पोषण किया. समान राष्ट्रीयता का अर्थ है, समान दासता. पं. नेहरू की समान राष्ट्रीयता की कल्पना यही थी.

दंगों के कारण पं. नेहरू यह सोच रहे थे कि भाषाधारित प्रांत-रचना के कफन पर कील टोक दी गई है. और उन्होंने भाषाधारित प्रांत-रचना की कोशिशों पर रोक लगाकर पहले के ही प्रांतों को बनाये रखने का विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया. परंतु कांग्रेस के अध्यक्ष कामराज नादर ने इसका कड़ा विरोध किया. क्योंकि कांग्रेस के चालीस वर्षों के आंदोलन ने इन भाषाधारित प्रांत-रचना की संकल्पना का पोषण किया था. अतः जागृत अस्मिता की भावना का शमन नहीं हुआ था.

इस भारत में पं. नेहरू ने संविधान में शामिल हिंदी विषयक कलम हटाने का भी प्रयत्न किया होता तो इसी कारण से उसे पराजित कर दिया गया होता. लोग यही मानकर चल रहे थे कि पं. नेहरू हिंदी के संदर्भ में केवल टालमटोल कर रहे हैं, वे हिंदी के कलम को हटाना नहीं चाहते. परंतु इस बारे में तनिक भी संदेह नहीं था कि पं. नेहरू हिंदी को सीमा पार करने के उद्देश्य को स्पष्ट रूप से घोषित करने के बाद, यदि वैसा विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत कर भी देते, तो उसे भी ठोंक-पीट कर बाहर कर दिया जाता.

इसी समय मुंबई की समस्या को लेकर श्री चिंतामणराव देशमुख ने इस्तीफा दे दिया था. यह त्यागपत्र केवल इसलिए दिया गया था कि मुंबई को स्वतंत्र किया गया था. संयुक्त महाराष्ट्र नहीं बना यह इसका कारण कतई नहीं था. जल्द ही श्री देशमुख ने यह बात भी साफ कर दी और महाराष्ट्र व गुजरात मिलकर बननेवाले द्विभाषी राज्य के लिए उनका समर्थन होगा, यह घोषित किया. पं. नेहरू ने इस कल्पना को हामी भर दी और द्विभाषी मुंबई की स्थापना की गई.

इससे गुजराती जन नाराज हुए और महाराष्ट्र में भी संयुक्त महाराष्ट्र की माँग बनी रही. जो यह कह रहे थे कि गुजरातियों को मुंबई के बहुसंख्यक मराठी भाषियों से डर लगता है, उन्होंने ही गुजरातियों को मराठी बहुसंख्यकों की द्विभाषिकता में धकेल दिया. मुंबई का महाराष्ट्र में समावेश होने के बाद केवल मुंबई के गुजरातियों को मराठी बहुसंख्यकों के साथ

रहना पड़ा. द्विभाषिक मुंबई के कारण सारे गुजराती समाज को मराठी बहुसंख्यकों के अधीन रहना पड़ा.

### समृद्धिकरण याने अंग्रेजीकरण

उपरोक्त संदर्भों में पं. नेहरू संयुक्त महाराष्ट्रवादियों से पूछते थे कि 'देखिए आपको तो पहले केवल मुंबई ही चाहिए थी और हमने आपको सारा गुजरात भी दे दिया है. अधिक से अधिक भाषिक स्वायत्तता की माँग करनेवालों पर, इस तरह का आरोप करना कि 'आप दूसरी भाषा के लोगों पर प्रभुता स्थापित करने की मनीषा रखते हैं', विकृत मानसिकता के ही लक्षण जान पड़ते हैं.

अब गुजरात में भाषिक गुजरात के लिए आंदोलन छिड़ा. पं. नेहरू जब उसे शांत करने गये तब उनका स्वागत काले झण्डों के साथ हुआ. स्वराज्य प्राप्ति के बाद पहली बार पं. नेहरू को एक घोषित सभा में काले झण्डे दिखाई देने का अनुभव पहली बार हुआ. तब पं. नेहरू क्रोधित हुए और उन्होंने कहा कि 'आप भारत से कट जाना चाहते हैं, तो जाइये और अपने देश का झण्डा इन्हीं काले झण्डों को बनाइए. मैं आखरी अंग्रेज हूँ', भारत यह एक राष्ट्र ही नहीं है, कश्मीर का महाराजा भारत में शामिल होने को इच्छुक होते हुए भी कश्मीर को भारत में शामिल न करने के लिए शेख अब्दुल्ला से मिलकर षडयंत्र रचनेवाला, नागाओं का धर्मांतर करवाकर अंग्रेजी को स्वायत्त भाषा का स्थान देनेवाला और भारत के आयकर कानून का पालन न करनेवाले और एक प्रदेश को भारत से अलग करवानेवाला व्यक्ति आज महात्मा गांधी व सरदार पटेल के गुजरात पर राष्ट्र से अलगाव का आरोप लगाता है, इससे अधिक फूटे करम और क्या हो सकते हैं? गुजराती जनों का आग्रह सारे देश द्वारा चालीस वर्षों तक पोषित भाषिक प्रदेशों के तत्त्व को स्वीकार करने पर ही था. अब यह प्रश्न उभरने के सिवाय और कोई चारा शेष नहीं रहता कि उन पर भारत से छूट कर अलग होने का आरोप करनेवाले की प्रामाणिकता में तनिक भी सच्चाई है या नहीं?

पं. नेहरू के संयुक्त महाराष्ट्र बनने न देने पर संयुक्त महाराष्ट्र समिति गठित की गई. उसने संयुक्त महाराष्ट्र के मुद्दे पर चुनाव लड़े और बाईस कांग्रेस उम्मीदवारों को पराभूत किया. अब पं. नेहरू ने इस बात से डरकर भयभीत होकर कि लोकप्रिय माँग का स्वीकार न करने पर उनकी लोकप्रियता की नींव डगमगा जायेगी, मुंबई के साथ संयुक्त महाराष्ट्र की माँग को स्वीकारोक्ति दे दी.

इस तरह से भाषाधारित प्रदेशों की रचना को असफल बनाने के भगीरथ प्रयत्नों को पं. नेहरू पूरा नहीं कर पाये. परंतु वे उनके मुख्य उद्देश्य को पाने में सौ फीसदी सफल रहें. एक ओर मराठी कवि कुसुमाग्रज विलाप कर रहे थे कि संयुक्त महाराष्ट्र बनकर चालीस वर्ष हो गये परंतु मराठी आज भी वनवास भुगत रही है. तो दूसरी ओर कुसुमाग्रज के शब्द हवा में उड़ जाने से पूर्व ही महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री शरद पवार घोषित करते हैं कि मराठी

का वनवास समाप्त करने की उन की इच्छा नहीं है, अंग्रेजी के बिना हम अनाथ हो जायेंगे. पं. नेहरू का बल इसी बात पर तो था कि 'अंग्रेजी से चिपके रहो फिर सौ भाषिक प्रदेश ही क्यों न बने.' इसे सारे देश ने ही मान लिया था. अब भाषिक प्रदेशों के निर्माण का झंझट क्यों मोल ली गई? अब प्रदेशों को जैसे हैं, वैसे ही रहने देने में कोई बुराई नहीं होती.

देशी भाषाओं को शिक्षा और राज्य-व्यवहार की सरहदों से परे रखने की नीति में पं. नेहरू सफल रहे थे. परंतु उनकी संतुष्टि का एकमात्र बिंदु यही न था. उनकी नजरों में देशी भाषा का अस्तित्व ही कांटे की तरह गड़ रहा था. उसे नेस्तनाबूद करना संभव नहीं था. अब ऐसी स्थितियाँ निर्माण की गईं कि उनमें कोई साहित्य रचना ही न की जा सके. आदिवासियों की तरह उनका साहित्य भी केवल मौखिक ही बना रहे और निरक्षर लोगों तक ही वह सीमित रहे. इस लक्ष्य को हासिल करना संभव था. उसी राह पर पं. नेहरू चल पड़े थे. उन्होंने देशी भाषा को 'समृद्ध' बनाने का कार्यक्रम आँका. देशी भाषा की समृद्धता का अर्थ था उनमें अस्सी प्रतिशत शब्द अंग्रेजी के हों. यही तो पं. नेहरू की कल्पना थी. उन्होंने आकाशवाणी को इसी तरह की भाषा का उपयोग करने के आदेश दिये. इसके खिलाफ आकाशवाणी के अधिकारियों ने अपने-अपने मत लिखकर भेज दिये. इस पर पं. नेहरू ने प्रसिद्ध हिंदी-मराठी लेखक मामा वरेरकर की अध्यक्षता में एक समिति बनवाई और उसे पं. नेहरू के मतों की पुष्टि करने को कहा. परंतु यह समिति पं. नेहरू के उर्दू - डाह से परिचित न थी. अतः उन्हें लग रहा था कि पं. नेहरू देशी भाषाओं से अपरिचित या अज्ञानी होने के कारण, अंग्रेजी के शब्दों से समृद्ध करने की बात कह रहे हैं. अतः इस समिति इस ढंग से अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग की अनावश्यकता को स्पष्ट किया कि पं. नेहरू की गलतफहमियाँ दूर हो जायेंगी. और यह भी कहा कि 'जैसे थे' उसे ढरें पर आकाशवाणी पर देशी भाषाओं का प्रसारण होता रहे.

### विना स्वभाषा स्वराज्य मात्र वाक्ताड़न

असहाय जन क्या जाने कि पं. नेहरू के मतों की पुष्टि के लिए इस समिति का गठन किया था, ईमानदारी से उससे परामर्श लेने के लिए नहीं. पं. नेहरू ने इस समिति की सलाह को कचरे का डिब्बा दिखा दिया और देशी भाषाओं को 'सरल' बनाने की अपनी ही नीति जारी रखी. दस शब्द के वाक्य में आठ अंग्रेजी के शब्दों के प्रयोग से रचित एक उपन्यास को राज्य सरकार का पुरस्कार देकर गौरवान्वित किया. आज भी देशी भाषा में 'क्लीन चीट', 'मीन व्हाइल' आदि शब्दों के प्रयोग पर आकाशवाणी बल देती रही. अब जल्द ही देशी भाषाओं के पाठक भी उनका उपलब्ध साहित्य भी पढ़ नहीं पायेंगे. पं. नेहरू की सोच यह थी कि उपरोक्त स्थिति में शेष बचे अस्सी प्रतिशत अंग्रेजी की भरमार में लिखा देशी साहित्य पढ़ने-लिखने के बजाय देशी भाषाओं का ही संपूर्ण त्याग कर दिया जायेगा और देशी भाषाओं के समक्ष अंग्रेजी का स्वीकार करने के सिवाय दूसरा पर्याय ही नहीं



बचेगा।

ब्रिटिशों के समय भारत का बहुत बड़ा भूखण्ड देशी संस्थानों के ही अधीन था। इन संस्थानों के कामकाज की भाषा अंग्रेजों के आने से पहले जो थी, उसी में कार्य होता रहा। 'स्वराज्य' प्राप्त के बाद सारे संस्थानों का शेष भारत में विलीनीकरण हुआ और वहाँ राज्य के कामकाज की भाषा अंग्रेजी हो गई।

हायस्कूल तक अधिकांश विद्यार्थी रसायनशास्त्र, भौतिकीशास्त्र व जीवशास्त्र जैसे विज्ञान के विषय मातृभाषा व संस्कृत परिभाषा में सीखते थे। इसमें अंग्रेजी से दुरूह होने का अहसास किसी के भी मन में नहीं था। परंतु पं. नेहरू के कार्यकाल में यह सोच फैलाई गई कि विज्ञान केवल अंग्रेजी में ही व्यक्त हो सकता है और जोड़-घटाव सीखने के लिए भी अंग्रेजी की आवश्यकता महसूस होने लगी।

पं. नेहरू को अपने इस देशी भाषाओं के उच्चाटन में लच्छेदार (लबालब) सफलता मिली। अब ऐसी तीन पीढ़ियों का निर्माण हुआ है, जिन्हें कोई भी देशी भाषा ज्ञात नहीं है और इस कारण उनका भाव-बोध विश्व उनके ही देशबंधुओं के भाव-बोध विश्व से पूरी तरह से अलहिदा है। बीस वर्ष की आयु के एक बी.कॉम पास मराठी युवती को मैंने कुछ पंक्तियाँ सुनाई और उनका अर्थ पूछा। पंक्तियाँ थीं— “धन्य शिवाजी तो रणमाजि धन्यचि तानाजी । प्रेमे आजी सिंहगडचा पोवाडा गाजी ।” (स्वैर अनुवाद - धन्य वह शिवाजी रण में धन्य तानाजी । प्रेम से गुँजा सिंहगड का पवाडा जी ।) वह युवती अर्थ बता नहीं पायी। तब मैंने पूछा कि 'शिवाजी नाम किसका है?' तो उसने आजकल के पाठ्यक्रमों में शामिल (कुछ चार-पाँच पंक्तियों लिखी) शिवाजी की जानकारी सुना दी। परंतु इस नाम के उच्चारण में भी कहीं किसी स्नेहबंध का तनिक भी स्पर्श नहीं था।

जो हुआ सो अच्छा ही हुआ। अब संविधान की बात क्यों उकेरी जाय? संविधान तो भावनाओं के अधीन होकर लिखा गया था। मुझे ऐसे कई एक जन मिलते हैं जो यही सोचते हैं कि अंग्रेजी के बिना वे सचमुच अनाथ हो जायेंगे। उनसे मैंने सवाल किये कि यदि संविधान भावनाओं के बहाव में लिखा गया है तो क्या स्वराज्य का आंदोलन भावविहिन होकर लड़ा गया था? यदि भावनाधारित बात गलत कही जाती है, तो स्वराज्य का आंदोलन भी एक भूल ही है। पं. नेहरू के अनुसार, वे भी यही सोचते थे कि अंग्रेजों को वापस बुलाना चाहिए। सच बात यह है कि पं. नेहरू स्वयं मारुण्टबॅटन को बुलाने गये ही थे।

स्वभाषा का निर्णय यदि भावनाधिष्ठित है तो क्या आपके अंग्रेजी के प्रेम को भावना नहीं कहेंगे? आपकी संतान के आपको ममी-डैडी कहते ही आप खुशी से फूले नहीं समाते तो क्या इसे भावना नहीं कहेंगे? आपको अपनी ही भाषा से शर्म आती है, क्या यह भावना नहीं? फिर अंग्रेजी के प्रति आकर्षण का अन्य क्या कारण है? यदि पराधीनता की पूजा की खातिर अंग्रेजी का स्वीकार करना इसके व्यतिरिक्त कोई कारण होगा तो पराधीन देशों में ही परभाषा को प्रतिष्ठा क्यों प्राप्त होती है? तुर्कों के काल में फारसी को प्रतिष्ठा

मिली। तेरहवीं सदी में दिल्ली की मध्यवर्ती सत्ता तुर्कों के हाथों में थी और सारे देश में संस्कृत का महत्त्व कम हुआ और फारसी मुख्य भाषा बनी। 'मधुराविजयम्' विजयनगर पर लिखे काव्य में कवयित्री गङ्गादेवी कहती हैं—

*न तथा कटुघूकृताद्व्यथा मे हृदि जीर्णपवनेषु धूकलोकाद् ।*

*परिशीलितपारसीकाकभ्यो यवनानां भवने यथा शुकेभ्यः ॥*

अर्थात् “हमारे बाग-बागीचे सूख गये हैं, उल्लू घू-घू करते हैं। परंतु मुझे इस बात का इतना दुख नहीं है। वास्तव दुसह्य तथ्य यह है कि हमारा वैभव चुरा लेने व हमारे ही महलों में रहनेवाले परायों के तोते भी फारसी बोलते हैं।”

### खोंसे गये पर

मुगल भी तुर्की ही थे। उनकी राज्यभाषा फारसी ही थी और उनके शासन में देशी भाषाओं की कोई पूछ नहीं थी। परंतु अंग्रेजों ने भारत पर कब्जा कर लिया और फारसी के सिंहासन पर अंग्रेजी बैठ गई। 'पढ़े फारसी और बेचे तेल' यह थी फारसी की दशा।

कहना यह था कि भारत में अंग्रेजी का बोलबाला हुआ। इसका कारण अंग्रेजी भाषा के संपन्न होना नहीं था। इसी समय पाण्डिचेरी में फ्रेंच और गोवा में पोर्तुगीज भाषा सिंहासन पर बैठी थीं। परंतु ऐसा कोई गवाह या साक्ष्य नहीं है जो पोर्तुगीज भाषाएँ पड़ोस के मद्रास व मुंबई से अधिक संपन्न थीं। परदेसी भाषाएँ फ्रेंच व पोर्तुगीजी को छोड़ ही दीजिए, हैदराबाद-मैसूर-बडोदा की रियासतें, जहाँ देशी भाषा में काम हो रहा था, उनके ही पड़ोस के अंग्रेज शासित प्रदेश अधिक उन्नत होने के साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं।

स्वयं इंग्लैण्ड पर फ्रांस का राज्य कई शतकों तक चला और बतौर राज्यभाषा फ्रेंच का ही प्रयोग होता रहा। जब महात्मा गांधी इंग्लैण्ड में पढ़ने गये थे, तब वहाँ अंग्रेजी बोलना गँवारपन का लक्षण माना जाता था। प्रतिष्ठित लोग फ्रेंच में ही बातें करते थे। अतः गांधीजी ने भी फ्रेंच सीखना प्रारंभ किया था। पहले सहस्रक में इंग्लैण्ड पर रोम का राज्य था। और राज्यभाषा लैटिन थी। उस समय इंग्लैण्ड की किसी भी लोकभाषा को किसी तरह की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि लैटिन और अंग्रेजी के संबंध आधुनिक भारतीय भाषाएँ व संस्कृत के संबंधों जैसे नहीं हैं। आधुनिक भारतीय भाषाएँ संस्कृतोद्भव हैं परंतु अंग्रेजी का जन्म लैटिन से नहीं हुआ। लैटिन व अंग्रेजी का संबंध अंग्रेजी व देशी भाषाओं के संबंधों जैसा है। तात्पर्य यह है कि परभाषा और पराधीनता का अटूट संबंध है।

गांधी युग में केवल एक ही व्यक्ति पी. कोदण्ड राव थे जो कहे जा रहे थे कि “भारत को चाहिए कि वह अपनी दरिद्र भाषा को भुलाकर अंग्रेजी को अपनाएँ।” उनके कथनानुसार स्वभाषा व परभाषा इस तरह का कोई भेद होता ही नहीं है। मनुष्य अपने जन्म के साथ भाषा लेकर नहीं आता। वह जिसका इस्तेमाल करेगा वही उसकी भाषा। फिर हम अपनी भाषा की तुलना में जो सर्वतोपरि श्रेष्ठ है, उस अंग्रेजी को क्यों न अपनाएँ?



कोदण्ड राव के कथनों की पड़ताल करना जरूरी है.

स्वभाषा व परभाषा में यदि कोई भेद नहीं है तो स्वराज्य और परराज्य में क्या कोई अंतर हो सकता है? हम यदि अंग्रेजी का स्वीकार कर सकते हैं तो अंग्रेजी राज्य को भी हमें अपना लेना चाहिए. फिर कोदण्ड राव जैसे स्वभाषा का विरोध करनेवाले लोग स्वराज्य का विरोध क्यों नहीं कर रहे थे? जब यह दावे के साथ कहा जा रहा था कि अंग्रेजी भाषा देशी भाषाओं से श्रेष्ठ है तब इस बात पर बल क्यों नहीं दिया जा रहा था कि अंग्रेजी राज्य देशी राज्य से श्रेष्ठ है? फिर अंग्रेजी को स्वभाषा कहने वाले लोगों ने जब महात्मा गांधीजी अंग्रेजों से 'चले जाओ' की भाषा बोल रहे थे तब उसे मूर्खतापूर्ण कार्य क्यों नहीं कह सके? आज भारत में कानून व सुव्यवस्था की जो दुर्दशा है तथा भ्रष्टाचार में भारत का क्रमांक पहली सूची में ही है, ऐसी स्थिति अंग्रेजों के समय में नहीं थी. फिर अंग्रेजों को ही बुलाया जाय और यदि वे राजी न हुए तो क्यों न चीनियों को बुला लिया जाय? वे तो तैयार ही बैठे हैं, भारत पर कब्जा पाने को!

इसका जवाब यह है कि दूसरों को हमारे देश की व्यवस्था के सुचारू रूप से होने पर सवाल खड़ा होगा ही नहीं, वरन् स्थिति यह है कि ऐसा करने पर राज चलाने की बुद्धि हममें कभी भी पनप नहीं सकेगी और हम फिर कैसे व कब सीखेंगे? दूसरों का हाथ पकड़कर चलनेवाला स्वतंत्र रूप से चल ही नहीं सकता. इसे ही पंगुता कहते हैं. चलते समय हम दस बार गिर भी जाय तो क्या? पंगू न बनने के लिए चलना सीखना ही होगा. उसी तरह हमारी भाषाएँ समृद्ध नहीं हैं तो उन्हें समृद्ध बनाने के बजाय बनी-बनायी अंग्रेजी को अपनाकर शिक्षा में प्रगति करने का निश्चय करते हैं तब अपनी ही भाषा को समृद्ध करने की अकल हमें कभी भी नहीं होगी. इससे हमारा बौद्धिक जीवन अंग्रेजी भाषी राष्ट्रों की बौद्धिकता की प्रतिध्वनि मात्र ही रहेगी.

राजगोपालाचार्य राजाजी पूछते थे कि जब हमें उनकी रेलगाड़ी चल जाती है तो उनकी भाषा का स्वीकार क्यों नहीं कर सकते? इसका सीधा जवाब यह है कि जहाँ अंग्रेजों का राज नहीं था वहाँ भी रेल चलती रही है. परंतु देशी भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी का उपयोग करने की रीति केवल अंग्रेजों द्वारा जोते गये देशों में ही प्रचलित रही है. अर्थात् परभाषा व पराधीनता का अटूट रिश्ता है.

### बनने गए अंग्रेज, हो गए पिजन

यह बात सच है कि मनुष्य अपने साथ भाषा लेकर जन्म नहीं लेता, परंतु ऐसा भी नहीं होता कि वह किसी दूसरे समाज की भाषा को अपना मान ले. एक मराठी व्यक्ति जन्म से ही इंग्लैण्ड में रहा और उसके माँ-बाप घर में भी अंग्रेजी ही बोलते हों तो वह अंग्रेजी भाषा ही सीखेगा. यह बात सौ फीसदी स्वाभाविक भी है. परंतु इससे यह कतई साबित नहीं होता कि पूरा महाराष्ट्र इंग्लैण्ड जाकर बस जाय. यदि ऐसा कुछ होगा तो महाराष्ट्र को अंग्रेजी भाषी बनने के बजाय इंग्लैण्ड ही मराठीभाषी बन जायेगा.

संपूर्ण मानव जाति का इतिहास देखें, तो ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे, जिसमें पराजितों ने अपना धर्म छोड़कर विजयी समुदाय का धर्म, पोशाख, रीति-रिवाज आदि को हूबहू स्वीकार कर लिया है. परंतु पराजितों की भाषा नष्ट होकर उस जगह विजयी समुदाय की भाषा स्थापित होने का एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है. आयरिश भाषा केवल कुछ लाख लोगों की ही भाषा है. आयरलैण्ड पर सैंकड़ों वर्षों तक अंग्रेजों का शासन रहा, तब शिक्षा व राज्य-व्यवहार की भाषा अंग्रेजी ही थी. परंतु लोगों के बोलचाल की भाषा अंग्रेजी नहीं, आयरिश ही रही. फिर आयरलैण्ड के स्वतंत्र होते ही उसे राजभाषा का स्थान मिला. उस भाषा में साहित्य निर्मित भी कभी बंद नहीं हुई थी. तुर्कस्तान, इरान, अफगानिस्तान, बांग्ला देश, आग्नेय आशिया के देश इन सब को मिलाकर लगभग एक सौ सात करोड़ लोगों ने अपना पुरातन धर्म छोड़कर इस्लाम को अपनाया, उनके रीति-रिवाज भी मोटे तौर पर इस्लाम प्रणित अर्थात् अरबों जैसे ही हो गये. परंतु किसी की भाषा अरबी नहीं हुई. मुसलमान होने से पूर्व वे जिस भाषा में व्यवहार करते थे, वही आज भी जारी है. इस दृष्टि से अत्यंत तरोताजा उदाहरण है— बांग्ला देश. बांग्ला देश के मुसलमान होकर भी, पाकिस्तान से अलग होने का कारण उनकी भाषा का बंगाली होना था.

एक मित्र ने मुझसे कहा कि महाराष्ट्र में यदि बच्चों को स्कूल में कदम रखते ही अंग्रेजी सिखाई जाय तो महाराष्ट्र की भी भाषा मराठी न कहलाकर अंग्रेजी कहलायेगी. मैंने उन्हें पिजन अंग्रेजी का उदाहरण दिया. कुछ अफ्रिकन लोगों ने अपनी भाषा छोड़कर अंग्रेजी को स्वीकार करना तय किया. इसका परिणाम यह हुआ कि वे अंग्रेजों न होकर पिजनभाषी बन गये.

इस पिजन अंग्रेजी का उदाहरण देखिए—

Du de lawd, ome bac for earth a he go csll Ham-Buthudum had he no be for sat He go fer d lawd and ddonr or bushonre time. Again de lawd call Hadam. And He say with small voice `yesa lawd'. And de lawd, he say close me hadam close me. An hadam he close he lawd.

इसे पढ़कर समझ में कुछ भी नहीं आता. अँडम, लार्ड जैसे शब्दों के आधार पर बाइबल की किसी कहानी का अनुमान लग सकता है. यदि इस भाषा में कोई अनजान विषय लिखा गया हो, तो इसे क्या हम समझ पायेंगे?

जिस अंग्रेजी को अंग्रेज या आम अंग्रेजी शिक्षित समझ नहीं पाते हैं तो ऐसी अंग्रेजी से जिस अंतरराष्ट्रीय लाभ की बात की जाती है, उसे कैसे हासिल किया जा सकेगा? पिजन अंग्रेजी सीख लेने पर न अंग्रेजी का समृद्ध साहित्य पढ़ा जा सकेगा और न ही पिजन अंग्रेजी भाषा से अंग्रेजी भाषी दुनिया से संपर्क बनाया जा सकेगा. यह सब करने के लिए अंग्रेजों की अंग्रेजी को जानना अधिक आवश्यक है. अर्थात् अंग्रेजी का इस्तेमाल करना

होगा तो अंग्रेजों से व अंग्रेजी लेखन से संपर्क बनाये रखना जरूरी है. परंतु केवल लेखन से संपर्क बनाये रखने पर भाषा कैसी बोली जाय, यह सीखा नहीं जा सकता. अर्थात् हमारी शिक्षा व केवल राजव्यवहार ही नहीं, आर्थिक व पारिवारिक जीवन को संपूर्ण काल के लिए अंग्रेजियत का लबादा ओढ़ना होगा. अब जिसका सारा जीवन ही अंग्रेजियत से भरपूर हो क्या उस राष्ट्र को स्वतंत्र राष्ट्र माना जा सकेगा?

इससे यह स्पष्ट होता है कि जबतक सारे देशों के सारे क्षेत्रों में अंग्रेजों की प्रभुता प्रस्थापित नहीं होती तब तक अंग्रेजी भारत में स्वतंत्र रूप से जीवित नहीं रह सकती. यदि हम इस बात पर बल दें कि अंग्रेजी से संपर्क बनाये रखकर उनकी भाषा की बजाय अपनी भाषा को नहीं बदलेंगे तो कालांतर में हमारी ही भाषा अंग्रेजी इतनी परिवर्तित हो जायेगी कि उसे एक अंग्रेज समझ नहीं पायेगा और हम उनकी (अंग्रेजों की) अंग्रेजी नहीं समझ पायेंगे.

फिर अंग्रेजों का ज्ञान आत्मसात करना, अंग्रेजी भाषा से संपर्क रखना आदि से अंग्रेजी के लाभ हमें कैसे मिल पायेंगे? तात्पर्य यह है कि 'इस देश में अंग्रेजी यह परभाषा के रूप में ही रह सकती है' स्वभाषा के रूप में उसका स्वीकार किया जाने पर उसकी मृत्यु अटल है.

स्वभाषा किसे कहते हैं? परभाषा या विदेशी भाषा किसे कहते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर पिजन अंग्रेजी की सहायता से मिल सकता है. 'क' समाज की भाषा 'ख' समाज में 'क' समाज से संपर्क किये बिना पनप जाती है और इस पनपी भाषा को 'क' समाज समझ सके इतने स्वरूप में बदलना होगा अन्यथा 'ख' समाज की नजरों में 'क' समाज की भाषा को परभाषा या विदेशी भाषा ही कहलायी जायेगी.

### अंग्रेजी के संदर्भ में अन्धविश्वास

उपरोक्त कसौटी पर परखा जाने पर ही अंग्रेजी विदेशी भाषा कहलाती है. कोदण्ड महोदय यदि प्रतिज्ञा कर ही लेते हैं तो वह उनकी भाषा बन जायेगी. पर वह उनके समाज की, कन्नडिगों की भाषा नहीं हो सकती.

परंतु अंग्रेजी को स्वभाषा बनाने का अभागापन लेकर जीना ही क्यों? कोदण्ड महाशय इस प्रश्न के उत्तर में नीचे लिखी बातें कहते हैं—

1. अंग्रेजी हमारी सारी भाषाओं से श्रेष्ठ है.
2. अंग्रेजी दुनिया की सारी भाषाओं से श्रेष्ठ है.
3. अंग्रेजी दुनिया की भाषा है, केवल अंग्रेजों की नहीं.

मैंने कोदण्ड महोदय से स्पष्टतः पूछा था कि इन ढेर सारे विधानों के लिए प्रमाण क्या हैं? भाषाओं के श्रेष्ठता-लघुता किन नियमों के आधार पर तय होती है? आप कौन-कौन-सी भारतीय भाषाएँ जानते हैं? अंग्रेजी के व्यतिरिक्त दूसरी कौन-सी विदेशी भाषा आप जानते हैं? क्या इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण उपलब्ध है, जो यह बता सके कि स्वभाषा

के स्थान पर विदेशी भाषा का उपयोग करने पर किसी देश का हित हुआ हो?

इन सबके उत्तर में कोदण्ड महोदय कहते हैं कि— "मैं भाषा को ज्ञान का साधन मानता हूँ. भाषाओं का ज्ञान मेरी नजरों में ज्ञान नहीं कहलाता. ज्ञान का माध्यम अंग्रेजी है वह भाषा मुझे आती है तो मुझे दूसरी भाषा सीखने में समय गँवाना नहीं है. भाषा की श्रेष्ठता का निकष है उसकी अर्थव्यक्ति की क्षमता. अंग्रेजी के बराबरी से अभिव्यक्ति की क्षमता अन्य किसी भी भाषा में नहीं है. सारी दुनिया में अंग्रेजी का प्रचलन है. इसलिए मुझे अंग्रेजी छोड़कर दूसरी भाषा सीखने की आवश्यकता महसूस नहीं होती."

"जब आप दूसरी भाषा जानते ही नहीं है तो कैसे कह सके हैं कि अंग्रेजी की तुलना में दूसरी भाषाएँ अर्थव्यक्ति (अर्थ और अभिव्यक्ति) के संदर्भ में पंगु हैं? जिन्हें अंग्रेजी भाषा में व्यक्त ही नहीं किया जा सकता, देशी भाषा के ऐसे शब्दों को आपके समक्ष रखें तो उन्हें आप अंग्रेजी में कैसे व्यक्त करेंगे इसे कहना बड़ा कठिन है. संक्षेप में, यह मात्र आपका अंधविश्वास है कि अंग्रेजी देशी भाषाओं से सम्पन्न है.

जो मराठी भाषी यह मानकर चलते हैं कि अंग्रेजी की अर्थव्यक्ति की सामर्थ्य मराठी भाषा से अधिक है, उनके लिए मैं अपना विवेचन प्रस्तुत करता हूँ. इस विवेचन का आकलन कर पाना कोदण्ड महाशय की ताकत से बाहर की बात है. परंतु यह शक्ति मेरे पाठकों में अवश्य है—

अर्थव्यक्ति के साधन के रूप में किसी भी भाषा की श्रेष्ठता को तय करने के निकष इस प्रकार हैं—

१. भाषा के शब्दों की संख्या.
२. 'क' भाषा से 'ख' भाषा में या 'ख' भाषा से 'क' भाषा में अनुवाद करते समय कौन-सी भाषा अधूरी जान पड़ती है?
३. लाघव का अर्थ संक्षेप में, अर्थव्यक्ति का सामर्थ्य.
४. सटीकता, इस मुद्दे पर दर्शन/तर्कशास्त्र में विस्तार से विचार किया गया है. दुनिया की कोई भी भाषा सटीक नहीं है. अतः दर्शनशास्त्र ने इसे बहुत ही अधूरी पाया है और उन्होंने एक नई सांकेतिक भाषा का निर्माण किया है. कोई भी प्राकृतिक भाषा इस भाषा के समान सटीक नहीं हो सकती. परंतु एक भाषा दूसरी भाषा से अधिक सटीक हो सकती है.
५. लचीलापन, सटीकता दर्शनशास्त्रीय भाषा का गुण होता है. परंतु प्राकृतिक भाषा में सटीकता के मायने यह भी है कि अभिव्यक्ति में संदिग्धता बरतनी हो तो उतना लचीलापन उस भाषा में होना जरूरी है.

### संस्कृतरहित मराठी जैसे प्राणविहिन देह

डॉ. नारळीकर ने एक बार कहा था कि संस्कृत भाषा को अचूक भाषा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके एक शब्द प्रयोग से अनेकानेक अर्थ बोध हो सकते हैं. परंतु

अनेकानेक अर्थ बोध होने को हम भाषा का दोष नहीं कह सकते। यदि इन अनेकानेक अर्थों से एक ही बात को अलग-अलग ढंग से बताया नहीं जाता हो तो वह भाषा दोष कहलाता है। परंतु संस्कृत भाषा पर ऐसा आरोप नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ 'लोकनाथ' शब्द के दो अर्थ 'लोगों का नाथ' या 'लोग जिसके लिए नाथ समान है' ऐसा वह हो सकते हैं। संस्कृत भाषा में लोकनाथ यह शब्द संदिग्ध शब्द कहलाता है। उसी तरह इस शब्द के दो अलग अर्थ बताने के लिए दो विग्रह भी संस्कृत का व्याकरण बतलाता है— 1. नागों का नाथ, 2. लोग जिसके नाथ है।

किसी भी भाषा के शब्द द्वारा एकमात्र अर्थ व्यक्त न हो, एक ही समय में दस अर्थों की अभिव्यक्ति कर पाने की क्षमता शब्द में होनी चाहिए। जब भी आवश्यकता हो, भाषा को हम मधुर वा कर्कश, संक्षिप्त या भारी भरकम बना सके और दुनिया के किसी भी छंद में उसे रचा जा सके।

इस संदर्भ में मराठी व अंग्रेजी की तुलना की जाय तो मराठी की श्रेष्ठता हर तरह से सिद्ध की जा सकती है। परंतु इस समय केवल संस्कृत का आश्रय लेकर पनपी मराठी का ही प्रयोग आवश्यक है। इस बात पर मैं साशंक हूँ कि संस्कृत का बहिष्कार करनेवाली मराठी दैनिक व्यवहार भी कितना व्यक्त करती होगी! हम 'पाणी आण' कहकर आदेश नहीं दे सकेंगे। क्योंकि 'पाणी' शब्द पानीय का ही रूप है। 'स्वयंपाक कर' कहकर पत्नी को सूचना नहीं दी जा सकेगी, क्योंकि इस शब्द में प्रयुक्त मुख्य अंश 'पाक' शब्द संस्कृत का है। 'अन्न खातो' कहना मुश्किल है क्योंकि अन्न शब्द संस्कृत है। 'राजा शिवाजी' कर्ते श्री. कुंटे ने संस्कृत का बहिष्कार करके प्रस्तुत पुस्तक मराठी में लिखने का प्रयत्न किया था। उसका ही एक उदाहरण देखिए— "छबुकडा चिमणा करितो गुण, चिमुकले धरिले मग अंगण।" इन पंक्तियों में प्रयुक्त क्रियाओं 'करितो' व 'धरिले' की मूल धातु तथा 'गुण' व 'अंगण' शब्द संस्कृत से ही हैं।

शहरों की भाषा की तुलना में विदेशी भाषाओं से गांव की भाषाओं का संबंध कम ही आया है। अतः संस्कृत व संस्कृतोद्भव शब्दों का प्रयोग शहर की भाषा से गांव की भाषा या लोकभाषा में अधिक हुआ है। शहर का आदमी जिस वस्तु के लिए 'सर्पण' शब्द का प्रयोग करता है, उसी के लिए गांव का आदमी 'इन्धन' शब्द कहता है। शहर में जिसे 'गवत' कहा जाता है, गांव में वही 'तण' कहलाता है।

अतः संस्कृत के शब्दों को मराठी का ही मानकर मराठी की क्षमता आँकी जानी चाहिए। मराठी का व्याकरण पढ़ाते समय उसमें जो समास प्रक्रियाएँ सीखाई जाती हैं वह संस्कृत से ही ली गई हैं। गांव की मराठी में भी वही समास प्रयुक्त होते हैं— जैसे— 'चटणीभाकर', 'भाऊभाऊ' द्वन्द्व समास कहलाते हैं। अंग्रेजी में चिल्लीब्रेड या ब्रदरब्रदर ऐसे समास नहीं बनते। अतः 'मराठी में संस्कृत शब्दों का यथेच्छ प्रयोग करना उचित है तो अंग्रेजी शब्दों के यथेच्छ प्रयोग को क्यों नकारा जाता है?' इस तरह का युक्तिवाद मराठी

के प्रति घोर अज्ञान मात्र दर्शाता है। मराठी भाषा सौ फीसदी संस्कृतोद्भव भाषा है। मराठी से अंग्रेजी का किसी तरह का भी संबंध नहीं है। संस्कृत के बिना मराठी का अस्तित्व ही नहीं है और यदि मराठी को नितप्रति नये विचारों का वाहक बनाने के लिए सक्षम बनाना हो, तो संस्कृत के शब्दसिद्धि का ज्ञान आवश्यक है।

अंग्रेजी की शब्दसंख्या पाँच लाख बताई जाती है। मराठी में शामिल संस्कृत के शब्दों के साथ मराठी के शब्दों की गिनती का अंदाज इस प्रकार लगाया जा सकता है— मो. रा. काठे के व्याकरण में संस्कृत के 1400 मूल धातु बतलाये गये हैं, उन्हें 80 प्रत्यय जोड़कर  $100 \times 80 = 112000$  शब्द तैयार होते हैं। इनमें से दो या उससे अधिक शब्दों को जोड़कर समास बनाये जाते हैं। केवल दो शब्दों के समास ही गिने जाय तो  $[112000(112000-1)]/2$  इतने समास तैयार होते हैं। शब्दों का क्रम बदलने पर अर्थ भी बदल जाता है जैसे— सिद्ध-हस्त और हस्त-सिद्ध। अर्थात् इसके दुगने समास  $(12543880)$  हुए। यह संख्या ही बारह करोड़ से अधिक है। इसके व्यतिरिक्त 22 उपसर्ग हैं। केवल 1400 धातुओं से बने 112000 शब्दों को उपसर्ग जोड़े जाते हैं तो  $22 \times 112000 = 2464000$  शब्द और समासों को उपसर्ग जोड़े जाने पर  $22 \times 12543880 = 275965300$  शब्द तैयार हो जाते हैं। अब इनकी कुल शब्द संख्या 2762117800 हो जाती है। यह संख्या अब्ज से अधिक हो जाती है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि संस्कृत तथा उसकी सहायता से बने मराठी शब्दों की संख्या यकीनन अनंत है।

मराठी लेखकों को सदैव ही अंग्रेजी से मराठी में अनुवाद करना ही पड़ता है। ऐसे में, मराठी में अंग्रेजी का एक खास अर्थ सही ढंग से व्यक्त न हो पाने की शिकायत की जाती है। परंतु मराठी से अंग्रेजी में अनुवाद करने में भी उसी तरह की दिक्कतें आती ही हैं। इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता है। अंग्रेजी को मराठी में अनूदित करने में दिक्कतें उन क्षेत्रों में प्रयुक्त शब्दों के संदर्भ में आती हैं, जहाँ मराठी का प्रयोग किया ही नहीं जाता था। शासन, व्यवहार, कानून, विज्ञान आदि क्षेत्रों में मराठी के शब्दों का प्रचलन नहीं है। परंतु यह दोष मराठी का नहीं है। इन सारे क्षेत्रों में संस्कृत की सहायता से अच्छे शब्दों के प्रयोग का सुझाव रखा गया था। परंतु पं. नेहरू ने इसके सिवा झूठा व जहरीला प्रचार करते हुए उन्हें सीमा पार खदेड़ दिया। इस संदर्भ में डॉ. रघुवीर का कार्य उल्लेखनीय है। इस क्षेत्र में भी मतभिन्नता के आधार पर डॉ. रघुवीर के खिलाफ दूसरी कोशिशें भी की गई थीं। इस कारण वास्तविक दिक्कत यह है कि हम अभागों ने उसे अपनी संपत्ति न मानकर उसका प्रयोग ही नहीं किया और कूड़ा मानकर उसे कूड़े-करकट के ढेर पर फेंक दिया।

अब हम आपको संस्कृत शब्दसिद्धि के कुछ उदाहरण देकर यह बताते हैं कि मराठी किस तरह से अंग्रेजी से श्रेष्ठ है। कानून के क्षेत्रों के कुछ शब्दों को देखिए—

संस्कृत	ध्वनिसंख्या	अंग्रेजी	ध्वनिसंख्या
विधि	2	Law	1

संविधान	4	Constitution	5
वैध	2	Legal	3
संवैधानिक	5	Constitutional	6
विधेयक	4	Bill	2
विधापन	4	Legislation	5
कुल=21		कुल=22	

उपरोक्त तालिका से यह पता चलता है कि सारे शब्द एक विधि से निर्मित हुए हैं। यह शब्दसिद्धि के नियम से सिद्ध होते हैं। इसके विपरित अंग्रेजी के शब्द लॉ व कॉन्स्टिट्यूशन इन शब्दों से तथा बिल यह शब्द किसी भी कानून से संबंधित शब्द से नहीं बना है, जो इस शब्द को नहीं जानता। परंतु कानून से संबंधित सभी शब्दों के अर्थ जानता है, वह इस शब्द से क्या अर्थ बोध ग्रहण करेगा, इसे सोचा भी नहीं जा सकता। इसके व्यतिरिक्त अंग्रेजी शब्द अधिक लंबे हैं। यह शब्दों के नीचे दी गई कुल ध्वनिसंख्या के आंकड़े से स्पष्ट होता है।

अब अचूकता की दृष्टि से देखिए। लॉ शब्द का अर्थ है कानून (नियम मराठी में), गुरुत्वाकर्षण का नियम भी लॉ ही कहलायेगा। 'बहुपत्नीकत्व गुनाह है' यह भी लॉ ही है। अब इससे यह बोध नहीं होता कि इसे मानव ने बनाया है या सृष्टि का नियम है। इसके विपरित विधि शब्द में वि याने विशेष रूप से यह उपसर्ग तथा धा याने धारण करना इस धातु से बना है। इस शब्द का अर्थ है— विशेष रूप से धारण किया गया नियम (कानून) इसके विपरित सृष्टि के नियमों के लिए ऋत शब्द का प्रयोग किया जाता है। दोनों ही स्थितियों में मराठी शब्द, नियम लागू होता है। कॉन्स्टिट्यूशन का अर्थ है— किसी भी वस्तु के घटक या अंग और उनकी रचना। जिस तरह से पान का कॉन्स्टिट्यूशन है— पान, चूना, कत्था, सुपारी आदि का विशेष रीति से बना मिश्रण। इसके लिए घटना (संहिता) शब्द उचित है। परंतु कॉन्स्टिट्यूशन यह शब्द इस अर्थ में उपयोग में नहीं लाया जा सकता। देश का कॉन्स्टिट्यूशन उस देश के कानून के कौन-कौन से घटकावयव हैं, यह नहीं बतलाता। कॉन्स्टिट्यूशन का अर्थ है— देश का कोई भी कानून जिन तत्त्वों पर आधारित होता है वे तत्त्व। अर्थात् कानूनको भी सीमा में रखने का एक कानून है और ठीक यही अर्थ संविधान शब्द से द्योतित होता है। सम् इस उपसर्ग का अर्थ है बड़ा या समावेशक। गीत का अर्थ है गान व संगीत का अर्थ है नृत्य व वाद्य इनसे परिपूर्ण गीत। प्रकारान्तर से संविधान के मायने होते हैं— विशाल या तदन्तर्गत कानून से भी अधिक बंधनकारक होनेवाला कानून या सभी कानूनों का, जिस तत्त्व में संग्रह हो सकता है ऐसा 'नियम' या रीति तत्त्व कहना यह है कि लॉ या कॉन्स्टिट्यूशन शब्दों से बने शब्दों की तुलना में संविधान शब्द अधिक अचूक है। बिल शब्द का अर्थ है— विशिष्ट बातों का लिखित निर्देश। जिससे जो नियम

(कानून) उभरता है उसे सरकार को बंधनकारक बनाने के लिए विधानसभा (विधिसभा – मराठी शब्द) के समक्ष रखना पड़ता है। यह दूसरा अर्थ बिल शब्द द्वारा सूचित नहीं होता। इसके विपरित विधेयक शब्द में वि+धा. धातु के कारण 'जो नियम कानून में रूपांतरित किये जायेंगे वे' इतना विशाल अर्थ अवश्य द्योतित होता है।

### कुबेर के हाथों नरमुण्ड

अब कुछ वैज्ञानिक परिभाषाओं को हम देखते हैं।

संस्कृत	ध्वनिसंख्या	अंग्रेजी	ध्वनिसंख्या
शून्यलब्धि	4	Differential Calculus	10
पूर्णलब्धि	4	Integral Calculus	8
खगोल	3	Astronomy	4
ज्या	1	Chord	2
त्रिज्या	2	Radius	4
कुल=14		कुल=26	

डिफरेंशियल कैल्क्यूलस इस शब्द से उभरता अर्थ मात्र भेद का गणित तक ही सीमित है। इसे आधार मान लें तो जोड़-घटाव को भी डिफरेंशियल कैल्क्यूलस कहना होगा। परंतु संस्कृत शब्द शून्यलब्धि का अर्थ सप्तमी तत्पुरुष के नियमानुसार होता है— शून्य से लब्धि अर्थात् प्राप्ति। इसमें शून्यलब्धि का मुख्य उद्देश्य स्पष्ट होता है। वह उद्देश्य है— समीकरण के एक ओर की संख्या शून्य के निकट जब जाती है तब दूसरी ओर की संख्या क्या होती है, इसे हल करना। इण्टीग्रल कैल्क्यूलस से जोड़ का गणित इतना ही अर्थ स्पष्ट होता है। इसके विपरित पूर्णलब्धि से पूर्ण अर्थात् अनन्त शून्य कल्प संख्याओं का जोड़। यह अनगिनतता की अचूकता को द्योतित करता है। पूर्ण और कुल में अर्थ भेद है। कक्षा में कुल विद्यार्थियों की संख्या कक्षा के विद्यार्थियों की गणना से पता चल जाती है। परंतु पूर्ण शब्द में निहित अर्थ को अंग्रेजी का परफेक्ट शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है और जिसका अंत निश्चित है वह परफेक्ट नहीं कहलाता। अतः पूर्ण शब्द अनंत का सूचक है और पूर्णलब्धि में जिन घटकों का जोड़ किया जाता है वे भी अनंत ही होते हैं।

अस्टानॉमी का अर्थ है तारों का शास्त्र। परंतु खगोल में मात्र तारों का विचार नहीं होता। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी व अन्य ग्रहों का भी विचार किया जाता है। इस दृष्टि से खगोल का अचूक अर्थ है आकाश रूपी गोल का शास्त्र जिसमें आकाश में जो कुछ है उसका शास्त्र। कॉर्ड का अर्थ है— रस्सी। इससे ज्यामिति में वर्णित कॉर्ड का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। परंतु ज्या शब्द जिसका अर्थ है— धनुष्य की डोर। इससे एक अर्थ जरूर स्पष्ट होता है कि वह रेखा जो वर्तुल की दो बिन्दुओं को जोड़ती है। रेडियस शब्द का मूल अर्थ मात्र किरण ही है, उससे त्रिज्या शब्द द्वारा व्यक्त तीन रेखाएँ का भाव रेडियस से व्यक्त नहीं हो पाता। त्रिज्या

शब्द कहें, तो कान तक खींची गई धनुष्य की डोर का भाव उभरता है और धनुर्धर की ऊंगली से धनुष्य तक दो रेखाएँ और तिसरी गोलाकार धनुष्य की रेखा अर्थात् कुल तीन रेखाओं का मानसिक चित्र त्रिज्या शब्द के उच्चारण के साथ अवश्य साकार हो उठता है. वृत्त के किसी भी दो बिन्दुओं से निकालकर केन्द्र तक जानेवाली रेखा त्रिज्या कहलाती है. यही अर्थ त्रिज्या शब्द के उच्चारण से साकार होता है.

ध्वनिसंख्या गिनी जाय तो संस्कृत के शब्द अंग्रेजी शब्द की तुलना में लगभग पचास प्रतिशत छोटे हैं.

अचूकता के साथ लाघव व लचीलापन इन संदर्भों में भी संस्कृत शब्दों की रचना अधिक सक्षम है. एक ही धातू से अस्सी प्रत्यय व बाईस उपसर्ग जोड़कर 1760 रूप बनते हैं. यह लचीलेपन का जीवंत उदाहरण है.

हमारी भाषाओं के इन सारे गुणों को यदि सुरक्षित रखना है तो जहाँ तक हो सकता है संस्कृत शब्दसिद्धि से बाहर न जाने का संयम बरतना ही होगा. इससे 1000 धातू सीखकर अनंत शब्दावलियाँ हमारी सेवा में उपस्थित रहेंगी.

जो भारतीय भाषा में नहीं, किंतु अंग्रेजी में है, ऐसा एक प्रमुख दोष है— नियमरहित वाक्यरचना. इसे अंग्रेजी में ईडियम कहते हैं. ईडियम का अर्थ कहावतें नहीं हैं.

1. More haste less speed/ घाई तेथे दिरंगाई.

2. What can not be cured must be endured/ आलीया भोगासी असावे सादर.

इन्हें कहावतें कहते हैं जो एक सुभाषित होते हैं और उनमें एक काव्य गुण होता है. ईडियम न तो कहावत होती है और न उसमें काव्य गुण होते हैं. जैसे कि I will not go back on my word यह एक ईडियम है. जो इसे नहीं जानता वह यूँही कहेगा कि मैं अपने शब्दों की ओर नहीं लौटूँगा. अर्थात् वह शब्द ही रद्द कर दिया गया है. परंतु इस ईडियम का अर्थ इससे सर्वथा विपरित है. अर्थ है— मैं अपने शब्दों से पलटूँगा नहीं. ऑन शब्द का मूल अर्थ ऐसा कतई नहीं होता. और यह नियम अंग्रेजी का नहीं है. I will not go back on my duty का अर्थ 'मैं अपने काम पर वापस नहीं जाऊँगा' होता है. 'मैं अपना काम नहीं छोड़ूँगा' ऐसा अर्थ नहीं होता.

He was talking at me का अर्थ 'वह मुझसे बात कर रहा था' नहीं होता है. उसका बोलना अप्रत्यक्ष रूप से मुझसे संबंधित था, यह सही अर्थ है. अंत इस उपसर्ग का अर्थ अप्रत्यक्ष रूप से होता है. परंतु जब हम कहते हैं कि He was looking at me तो यहाँ अंत का अर्थ अप्रत्यक्ष रूप से नहीं होता. इन उदाहरणों से ईडियम की व्याख्या इस तरह से की जा सकती है— भाषा व कोश का अर्थ पता होकर भी जिस वाक्य का अर्थबोध नहीं हो सकता. अर्थबोध होने के लिए उसी वाक्य को अलग-अलग संदर्भों में पहले सुना हुआ होना चाहिए.

यह गुण विशेष होने पर भी अंग्रेजी भाषा दुरूह बन गई है. अतः उसमें नियमशून्यता प्रवेश कर गई है.

मराठी, संस्कृत या हिंदी में ऐसी ईडियम्स उपलब्ध नहीं हैं. परंतु इससे उनकी अर्थवाहकता में कोई कमी नहीं आयी है. I will not go back on my word का अर्थ 'मैं अपने शब्द से नहीं पलटूँगा' (मी आपला शब्द फिरविणार नाही.) में व्यक्त होता है. He was talking at me का अर्थ होता है 'वह मेरे बारे में बात कर रहा था' (त्याचे बोलण्याचे केन्द्र मी होतो.)

तात्पर्य यह है कि अंग्रेजी अर्थव्यक्ति के साधन के रूप में भारतीय भाषाओं से श्रेष्ठ होने की कोदंडराव का भ्रम केवल अज्ञानजन्य है.

अंग्रेजी सारी दुनिया की भाषा है. अतः वह अन्य कोई भी विदेशी भाषा अंग्रेजी का पर्याय नहीं बन सकती है यह सोच कोदंड महोदय तथा अधिकांश अंग्रेजी भगतों की है जो आधारहीन है. आल्मनैक में किस भाषा को बोलनेवालों की संख्या कितनी है इसके आँकड़े इस प्रकार हैं—

भाषा	स्वभाषिकों की संख्या	सीखकर बोलनेवालों की संख्या
चीनी मॅण्डरीन	87 करोड	उपलब्ध नहीं
हिंदी	36 करोड	48 करोड
अंग्रेजी	34 करोड	50 करोड
स्पॅनिश	32 करोड	उपलब्ध नहीं

भारत के सभी शासकों ने खासकर पं. नेहरू ने हिंदी के खिलाफ सरकार की सारी शक्ति का उपयोग करने के बावजूद भी हिंदी अंग्रेजी से केवल दो करोड से ही कम है. सरकार की शक्ति हिंदी के साथ रहती तो उसका प्रसार कितना अधिक हुआ होता इसका अंदाज अवश्य आ सकता है.

दुनिया की छह सौ करोड जनसंख्या में से केवल पचास करोड जनता अंग्रेजी जानती है. ऐसी भाषा को दुनिया की भाषा कहना कितना युक्तिसंगत होगा.

दिनांक 5.3.2005 के 'हितवाद' समाचार पत्र में दुनिया में हिंदी जाननेवालों की संख्या सौ करोड है और उनमें से बीस करोड अभागी हैं. इन संस्कारित आँकड़ों के अनुसार तो हिंदी को अंग्रेजी से अधिक जागतिक कहा जा सकता है.

कोदण्ड महोदय का दूसरा भ्रम यह है कि वे अंग्रेजी के साहित्य को सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध मानते हैं. यह सोच भी अज्ञानवश ही उत्पन्न हुई है. यह दावे के साथ कहा जाता है कि अंग्रेजी में दुनिया के विज्ञान का चालीस प्रतिशत हिस्सा उपलब्ध है. परंतु यह स्थिति दूसरे महायुद्ध के बाद की है. इससे पहले फ्रेंच व जर्मन भाषा में ही विज्ञान लिखा गया था. जल्द ही वह चीनी, जपानी व रूसी भाषा में भी संपन्न होना है. तात्पर्य यह है कि इसे हम नहीं मान सकते कि दुनिया की दौड़ में अंग्रेजी हमेशा ही आगे रहेगी.



दूसरी बात यह है कि विदेशी भाषा को सीखने का एकमात्र मकसद वैज्ञानिक जानकारी हासिल करना नहीं होता. विज्ञान के विद्यार्थी शेष विषयों के विद्यार्थियों की तुलना में कम ही होते हैं. अतः हर कोई अपने ही तरिके से यह तय करता है कि किस भाषा का ज्ञान किस विषय में अधिक है और किस भाषा को सीखना अधिक लाभदायक होगा. अतः विदेशी भाषाओं को समाविष्ट किया जाना आवश्यक जरूर है किंतु केवल उसे ही समाविष्ट करना नुकसानदेह साबित होगा. चीनी, जपानी, रूसी, फ्रेंच, जर्मन तथा स्पॅनिश इन्हें भाषा की शिक्षा में समान स्थान मिलना अत्यावश्यक है.

अंग्रेजी का अध्ययन स्वभाषा नहीं, विदेशी भाषा के रूप में किया जाना तय हो जाने पर पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी का कोई स्थान शेष नहीं रहता. वह केवल विश्वविद्यालयीन स्तर पर ही रहे, यह उचित होगा. विदेशों से व्यवहार, विशेष क्षेत्र में उन्नत ज्ञान की प्राप्ति आदि उद्देश्य विदेशी भाषा सीखने में समाहित होते हैं. यह हर किसी के क्षेत्र पर निर्भर होता है कि उपरोक्त उद्देश्यों को वह किस भाषा द्वारा हासिल कर सकेगा. उसी तरह विशिष्ट ज्ञान संपादन तथा विदेशों से व्यवहार करनेवाले नागरिक बहुत ही कम होते हैं. अधिकांश नागरिक तज्ञ नहीं होते और उनका व्यवहार केवल स्वदेश तक ही सीमित होता है. उनपर विदेशी भाषा को सीखने की सख्ती बरतना अन्यायपूर्ण होगा.

अतः शिक्षा के दो भेद किये जाना जरूरी है— एक, सबके लिए और दूसरा तज्ञों के लिए. एक किस्म का ज्ञान देश के लिए हितकारक है, यह निश्चित हो जाने पर यह जरूरी नहीं होता कि हर कोई उसे सीखे. कार कैसी बनती है और कैसे उनमें सुधार किया जाय, यह ज्ञान आवश्यक अवश्य है. परंतु पाठशाला में कदम रखते ही हर किसी को कार बनाने की शिक्षा दी जाय, यह सही नहीं है. कार के यंत्रों का ज्ञान रखनेवाले कुछ लोग ही इस जरूरत को पूरा कर सकते हैं.

एक और बात यह है कि उच्च ज्ञान के संपादन करने के लिए तथा विदेशी व्यवहार करने के लिए जितनी विदेशी भाषा का उपयोग जरूरी होता है उस स्तर की भाषा सीखने की बुद्धि हर किसी के पास होती है. ऐसा सोचना भी अज्ञानता की ही निशानी है. अंग्रेजी के समाचारपत्र व ग्रंथों को समझने के लिए आवश्यक अंग्रेजी जानने के लिए कम से कम दस वर्ष हर दिन का कम से कम आधा समय अंग्रेजी के लिए सुरक्षित रखना आवश्यक है. यदि हम मैट्रिक तक सीखनेवाले विद्यार्थियों की अंग्रेजी को देखें, तो बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है. मैट्रिक पास होने पर भी कई विद्यार्थियों को उपरोक्त स्तर की अंग्रेजी नहीं आती. पास होनेवालों की अगर यह स्थिति है, तो जो सात वर्ष खटकर भी अनुत्तीर्ण रह जाते हैं उन विद्यार्थियों के संदर्भ में क्या कहें? क्या यह सारा समय व धन जाया चले जाने की बात नहीं है?

### समान भाषा की आवश्यकता

यह बात हर किसी के गले उतारने की आवश्यकता नहीं है कि चित्रकला, संगीत

तथा अंकों के जोड़-तोड़ से परे का गणित सभी नहीं सीख सकते. मराठी लेखक हरिभाऊ आपटे जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को गणित न आने के कारण विश्वविद्यालय में दाखला नहीं मिला. परंतु भाषा का उपयोग किये बिना कोई भी जी नहीं सकता. अतः मातृभाषा का ज्ञान तो लगभग सभी हासिल कर ही लेते हैं. परंतु दैनिक आचरण के लिए आवश्यक ज्ञान व साहित्य, समाजविज्ञान आदि क्षेत्रों के लिए आवश्यक भाषा-ज्ञान सभी के बस की बात नहीं होती. अतः विदेशी भाषा को सीखने की सख्ती करना भी चित्रकला, संगीत आदि को आवश्यक करने जैसा ही सर्वथा विवेकशून्य निर्णय जान पड़ता है.

सबके लिए कोई भी विदेशी भाषा का अनिवार्य कर देना गलत बात है. उसी तरह विदेशी भाषाओं का अध्ययन किस स्तरों तक, किसे करना होगा यह तय करना भी आवश्यक है. मैक्समूलर आदि पाश्चात्य पंडितों को संस्कृत सीखना आवश्यक जान पड़ा था. परंतु आजीवन संस्कृत का अध्ययन करने के बाद भी उन्होंने संस्कृत बोलने या लिखने का कभी भी कोई भी प्रयत्न नहीं किया. क्योंकि उनका एकमात्र उद्देश्य था संस्कृत ग्रंथों में जो कुछ लिखा था उसे समझकर उस पर संशोधन करना. उन्हें भारत में आकर संस्कृत में व्याख्यान देना नहीं था. इस प्रक्रिया में हम सोच सकते हैं कि उनकी कितनी मेहनत जाया होने से बच गई और उसी शक्ति का उपयोग उन्होंने मौल्यवान संशोधन में किया! इससे हमारे शिक्षाविदों को पाठ मिलना चाहिए. विज्ञान के भारतीय विद्यार्थियों ने इतनी अंग्रेजी तो सीखनी ही होगी, जिससे वे विज्ञान के ग्रंथों को समझ सकेंगे और स्वभाषा में अनुवाद कर सकेंगे. वे अंग्रेजी बोलने और लिखने का लालच न करें. ऐसा करने पर इस स्तर की अंग्रेजी सीखने में मात्र दो-तीन वर्ष काफी हैं. कोठारी आयोग ने अंग्रेजी को लायब्ररी लैंग्वेज अर्थात् ग्रंथालयीन भाषा कहा है. यह शब्द अत्यंत बोधक है. अंग्रेजी शिक्षा का अर्थ यही है कि अंग्रेजी के ग्रंथालयों का उपयोग किया जा सके. ऐसा न करते हुए झूले में पड़े शिशु के कानों में अंग्रेजी के अलावा अन्य किसी भी भाषा की ध्वनि न पड़े इस किस्म की अंग्रेजी की शरणागति को अपनाने का अर्थ, विज्ञान व साहित्य की किसी भी तरह से सेवा करना नहीं हो सकता. यह 'कौवा चला हंस की चाल' वाली बात हो गई है. भारतीय व अंग्रेजों के बीच दुभाषिये का काम करनेवाले व्यक्ति द्वारा अंग्रेजी सीखने का मकसद सर्वथा भिन्न है. अनुवाद यह एक स्वतंत्र कला है. अंग्रेजी और मराठी इन दोनों भाषाओं पर प्रभुता पानेवाले कई व्यक्ति हैं और वे दोनों भाषाओं में स्वतंत्र रूप से सुंदर व्याख्यान भी प्रस्तुत कर सकते हैं. परंतु अंग्रेजी का एक-एक वाक्य लेकर उसका मराठी में और मराठी का अंग्रेजी में अनुवाद करने में उनके लिए बड़ी दिक्कत पेश आयेगी. संयुक्त राष्ट्र संघ की सभा के भाषण को तत्काल अलग-अलग भाषाओं में अनुवाद करनेवालों का जिस तरह का द्विभाषिक प्रशिक्षण लेना होता है, वह एक भाषा पर प्रभुत्व दिलानेवाली शिक्षा से सर्वथा भिन्न ही होगा. हमारी विदेशी भाषा की शिक्षा में ऐसा कोई विमर्श नहीं किया गया है.

कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले भारत में एक और बात आवश्यक जान पड़ती

है। यदि भिन्न प्रदेशों के भारतीय जब मिलेंगे और यदि आपस में वे दुभाषिये की सहायता के बिना बोल नहीं सकेंगे तो दोनों को कतई यह महसूस नहीं होगा कि दोनों एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं। अतः सभी भारतीय नागरिकों के लिए एक ऐसी समान भाषा की आवश्यकता है जिसके माध्यम से वे आपस में दैनिक व्यवहार संपन्न कर सकेंगे। और ऐसी भाषा केवल हिंदी ही है। सरकार की सारी शक्ति पिछले पचास वर्षों में अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार में व्यय होती रही। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि सरकार ने अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार के अलावा और कुछ किया ही नहीं। इतना होकर भी भारत में अंग्रेजी का सही ज्ञान रखनेवालों की संख्या तीन करोड़ से अधिक शायद ही होगी और ऐसी स्थिति में अंग्रेजी को भारत की समान भाषा नहीं कह सकते। अतः हिंदी विरोधी जन कहने लगे हैं कि भारत राष्ट्र नहीं है और उसे समान भाषा की आवश्यकता नहीं है।

ऐसे लोग कश्मीर से कन्याकुमारी तक तथा मुंबई से गुवाहाटी तक चलनेवाली रेलगाडियों में हर दिन यात्रा करने वालों की संख्या की ओर ध्यान दें।

इन करोड़ों लोगों के बीच समान भाषा न होगी तो उनके दैनिक व्यवहार की दिक्कतें कितनी बढ़ जायेंगी? केवल हिंदी ही नहीं, सभी स्वभाषाओं का विरोध करनेवाले यह कहने लगे हैं कि भारत को राष्ट्रीय भावनाओं तथा स्वावलंबन की आवश्यकता नहीं है। ये सभी जन केवल एक ही स्थिति के अनावश्यक होने की बात अभी तक नहीं कर रहे हैं और वह है आर्थिक संपन्नता। पर जिस भारत में एक स्थिर शासन नहीं रहेगा, लोग आपस में लड़ते-झगड़ते ही रहेंगे, वे एक दूसरे की भावनाओं को समझने की कोशिश भी नहीं करेंगे, वे सभी बातों के लिए दूसरों पर निर्भर रहेंगे तो उन्हें आर्थिक संपन्नता का लाभ भी क्यों कर होगा?

स्वेच्छया स्वीकृत अंग्रेजी की दासता ने दो बातें स्पष्ट कर दी हैं। १. हमने बड़े ही सहज भाव से भारतीय भाषाओं का सच जाने बगैर ही यह स्वीकार कर लिया कि हमारी भाषाएँ नालायक हैं, उनमें कभी भी योग्यता पनप नहीं सकती और साथ ही अंग्रेजी के वास्तविक गुण-दोषों की परख किये बिना ही अंग्रेजी को श्रेष्ठ मानकर अंग्रेजी भाषी बनने का प्रयत्न करते रहे। संक्षेप में कहें, तो यह कह सकते हैं कि हममें वस्तुनिष्ठ दृष्टि से सोच नहीं सकते और आत्मावहेलना से निसृत किसी भी विचार को हम सरआँखों पर बिठा लेते हैं। आम आदमी अपने बीमार होने की बात को स्वीकार करना ही नहीं चाहता। क्योंकि औरों की तरह स्वस्थ रहने की उसकी आम इच्छा के प्रति वह सजग है। अतः अपनी बीमारी की योग्य चिकित्सा करने के कोशिश में लगा रहता है। इसके विपरित सच से आँखें चुराकर आत्मघात करने की वृत्ति जिसमें होगी वह चिकित्सा के उपाय न करते हुए अपने मन को तसल्ली दिलाता रहता है कि उसे कुछ हुआ ही नहीं है। उसकी यह विकृति जब तक चरम बिंदु तक पहुँचती नहीं है तब तक वह इलाज टालता ही रहता है। और जब इलाज के लिए उसका मन तैयार हो जाता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। एक और तीसरे किस्म

का बीमार भी होता है। ऐसा व्यक्ति उसके रोगग्रस्त न होने पर भी स्वयं को रोगी मान लेता है और इससे उसमें रोग के झूठे लक्षण भी आरोपित कर लेता है। इसे हिपोकॉन्ड्रिया, व्याधिचिंता कहते हैं। यह एक किस्म की मनोविकृति है। इसकी अगली अवस्था यह है कि अपनी बीमारी को वह भूषणावह मान लेता है। हर बात में अपनी बीमारी का कारण आगे करता रहता है। भारत इसी चरम विकृति से ग्रस्त हुआ है। न होते हुए भी रोगग्रस्तता की भावना के बलवती होते ही अब रोग की कल्पना चिंता का विषय नहीं रह जाता वरन् आत्मश्लाघा का स्वरूप पा लेती है। ऐसी स्थिति में हम स्वभाषाओं का त्याग करके अंग्रेजी को अपना लेने में किसी प्रकार की शर्मिन्दगी महसूस नहीं करते, वरन् उसे भूषणावह मानकर जिये चले जाते हैं।

अब ऐसी संभावना भी नहीं थी कि भूषण मानने की वृत्ति भाषा तक ही सीमित रहे। अब जिन्हें परभाषा की दासता स्वीकारने में किसी तरह का अपमान महसूस नहीं हो रहा था, उन्हें भला भ्रष्टाचार करने में कैसी हिचक महसूस होती? अतः भ्रष्टाचार करता है, पर पकड़ा नहीं जाता, सही सलामत छूटकर गम्बर बनने में कोई 'कोफ्त' नहीं वरन् सम्मान के साथ लोगों को दिखाते फिरने में वे बडप्पन महसूस करने लगे हैं। इस वृत्ति ने काफी सिर उठा रखा है। हर्षद मेहता को हमारे देश में विभूति के रूप में पूजा जा रहा था। जघन्य अपराध के लिए दण्डित लोग चुनाव जीतते हैं। पहले भी बहुओं को छला जाता था, परंतु भारत में दहेज-प्रथा की बली के नाम पर कोई किस्से पहले देखने-सुनने में नहीं आये थे। परंतु अंग्रेजी बोलने पर आधुनिक कहलाने की सोच ने दहेज-प्रथा की बलि जैसी जघन्य अपराध वृत्ति बड़े पैमाने पर पनपती जा रही है। पहले भी व्यभिचार होते थे, परंतु उच्चपदस्थों के व्यभिचारों की श्लाघा करने की प्रथा नहीं थी। अब जब विवाह के अवसर पर समाज के सामने ली गई शपथ को तोड़ने पर, मन में यकिंचित भी मलाल नहीं उभरता, तब लोकसभा में ली गई संविधान की रक्षा तथा व्यावसायिक नीतिमत्ता की शपथों को पवित्र ही माना जाय, ऐसा अनुमान हम क्यों करें?

ऐसी दशा को मनोविज्ञान में irradiation (प्रदीपन/किरणन) कहते हैं। तेल की एक बूँद पानी पर गिरते ही वह संपूर्ण जल सतह पर फैल जाता है उसी तरह एक क्षेत्र में पनपी अनिष्ट प्रवृत्ति दूसरे क्षेत्र में भी फैल जाती है।

□□

## ॥ पंडित नेहरू : व्यक्तित्व-मीमांसा ॥

### शिवाजी से श्रेष्ठ

पिछले पृष्ठों में भारत के प्रधानमंत्री की हैसियत से पं. नेहरू के सतरह वर्षों का विवेचन किया गया है। इसे पढ़कर कई पाठकों के मन में एक प्रश्न उभरा ही होगा— “इस सारे विवेचन को समझने के लिए प्रथम यह जान लेना जरूरी है कि यह सारी दिमागी माथापच्ची से आँकी योजना है, जिसमें यह जताने का प्रयत्न है कि पं. नेहरू ने जो कुछ किया उससे भारत को अधिकाधिक हानि पहुँची है। क्या कारण हो सकता है कि पं. नेहरू योजनाबद्ध रीति से भारत का नुकसान करें? यदि ऐसी योजनाबद्ध रीति से कोई काम करेगा भी, तो क्या उसे शत प्रतिशत सफलता मिलती भी है? अतः इस विवेचन की संभाव्यता पर सदेह उभरता है।”

संभावना को आधार बनाकर यूँ आलोचना करनेवाले पाठकों से मुझे कुछ कहना है। “मेरे विवेचन में ऐसी कौन-सी बात कही गयी है जो तत्कालीन समाचार-पत्रों और पं. नेहरू के निकट परिचितों ने उन पर लिखे पुस्तकों द्वारा साबित नहीं की जा सकती?” मैं इस चुनौती को स्वीकार करता हूँ कि मुझ पर आलोचना के शब्द कसनेवाले, मेरे एक विधान को उपरोक्त विचार को नींव मानकर, झूठ साबित कर दिखाएँ। पं. नेहरू व उनके बाद भी नेहरूवादी सरकार के कार्यकाल में मैंने रोज समाचार-पत्र पढ़े हैं, आकाशवाणी के भाषणों-समाचारों को प्रतिदिन सुना है। युद्ध काल में, मैं शत्रु राष्ट्र की आकाशवाणी भी सुनता था। पाकिस्तान के ‘डॉन’ जैसे समाचार-पत्र उस समय भारत में सुलभता से मिल जाते थे। उन्हें भी मैंने जब मिले, तब पढ़ा ही था। मुझे प्रधानमंत्री के नाते पं. नेहरू ने, जो कुछ किया, वह मेरे ही चरित्र की तरह स्पष्ट याद है। घटित घटनाओं का निश्चित काल सभी जानते हैं। तत्कालीन कोई भी समाचार-पत्र देखा जायेगा, तब मेरे निवेदन का समर्थन होने में तनिक भी देर नहीं लगेगी।

“आपने लिखीं बातें सच होंगी किंतु आपने केवल बुरी बातों का ही चुनाव किया है। चुना हुआ सत्य और चुना हुआ असत्य इसमें कोई भेद नहीं होता और इस दृष्टि से आपका विवेचन असत्य जान पड़ता है।” ऐसा कुछ कहनेवालों से मेरा निवेदन है कि वे बताएँ मैंने ऐसी कौन-सी बातें छिपाकर रखी हैं। मैं आभारी रहूँगा। मेरे देश के प्रधानमंत्री पं. नेहरू के बारे में कुछ अच्छा कहने की मेरी दिली ख्वाहिश है और ऐसा कुछ मैं कह सकूँगा तो मुझे बड़ी खुशी होगी।

पं. नेहरू के बारे में चुन-चुनकर बुरी बातें लिखने का मेरा उद्देश्य भला क्या हो सकता है? पं. नेहरू की निंदा करने की लालच मुझमें पैदा हो, ऐसा पं. नेहरू ने मेरा बुरा

किया ही क्या है? पं. नेहरू ने मुझ पर कृपा करने के लिए कुछ भी नहीं किया, किंतु विदेशों से सीखकर आनेवाले वैज्ञानिकों को उत्तम अवसर मिले, उनकी इस नीति के कारण मुझे विज्ञान के क्षेत्र में संशोधन करने का सुअवसर और अपना परिवार-प्रपंच चलाने की चिंता नहीं रहेगी, ऐसी नौकरी अवश्य मिली। पं. नेहरू की नीति के समान नीतिवाला अन्य कोई नेता न होता तो मुझे ऐसी नौकरी हासिल करने में भी 10-15 वर्ष अवश्य संघर्ष में गुजारने पड़ते। अतः पं. नेहरू के किसी व्यवहार ने, मेरा बुरा किया होगा, ऐसी कल्पना करना भी व्यर्थ होगा। मेरे लेखन पर लगा यह आक्षेप आधारहीन है।

ऐसा भी बार-बार पूछा गया कि यदि पं. नेहरू की नीति इतनी राष्ट्रविधातक थी तो उन्हें सारे देश ने इतना सिर चढ़ाकर क्यों रखा था? वास्तव में यह प्रश्न मुझे सरे करने की अपेक्षा देश से ही किया जाय। पं. नेहरू के प्रति पूज्यभाव रखनेवाले इस प्रश्न का उत्तर यूँ देंगे— “देश को स्वराज्य दिलानेवाले कांग्रेस तथा महात्मा गांधी के वे उत्तराधिकारी थे। उन्होंने अमीरी का त्याग करके सालों-साल कैद की सजा भुगती है। जब प्रधानमंत्री थे तब उन्हें अंतरराष्ट्रीय ख्याति हासिल हुई और इससे भारत को भी दुनिया में सम्मान प्राप्त हुआ। उन्होंने पंचवार्षिक योजनाओं द्वारा देश का औद्योगीकरण किया। ‘सेक्युलरिज्म’ के प्रचार से देश में एकता स्थापन की। संपूर्ण भारत पर राज्य करनेवाला भारतीय पं. नेहरू से पूर्व कोई हुआ ही नहीं था। इस दृष्टि से देश के एक कोने में राज्य करनेवाले शिवाजी से वे अवश्य महान थे।”

आखरी वाक्य काल्पनिक नहीं है। यह एक नेहरू भक्त का कथन है। इस न्याय के बल पर यह कहना होगा कि शिवाजी से श्रेष्ठ महात्मा, स्वराज्य प्राप्ति के बाद, इस देश में हर पांच वर्षों बाद या कभी-कभी पांच वर्ष पूरे होने से पहले ही निर्माण हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि शिवाजी ही नहीं, वरन् सम्राट अशोक व संवत्कर्ता विक्रमादित्य से अधिक श्रेष्ठ जनों की निर्मित स्वराज्य में कम से कम दर्जनों की संख्या में भारत ने निर्माण किये हैं। इन नररत्नों की मालिका में— गुजराल व देवेगौडा के नाम भी शामिल किये जा सकते हैं।

### बेचारे सुभाष चंद्र बोस और तात्या टोपे

तात्या टोपे की जीवनी के विमोचन के अवसर पर अपने भाषण में एक नेहरू भक्त ने कहा कि “जिस ग्रंथमाला के अंतर्गत यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है उसकी अगली कड़ी के रूप में पं. नेहरू की जीवनी भी प्रकाशित होने को है। तात्या टोपे ऐसी ग्रंथमाला में स्थान पाने योग्य नहीं हैं। परंतु जीवनी-लेखक ने इसे इतनी अच्छी तरह से इसे प्रस्तुत किया है कि संपादक को इस ग्रंथमाला में स्थान देने का निर्णय लेना ही पड़ा।”

अब जो पं. नेहरू को तात्या टोपे से श्रेष्ठ मानकर चल रहे हैं उनकी नजरों में पं. नेहरू नेताजी सुभाष चंद्र बोस से भी श्रेष्ठ होंगे ही। क्योंकि तात्या टोपे की तरह ही नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी पराजित हुए थे। इसके विपरित पं. नेहरू तो सिंहासनारूढ होने की स्थिति

में ही परलोकवासी हो गये. जब पं. नेहरू ने सत्ता हथियायी, तब महात्मा गांधी जीवित थे. कांग्रेस में सरदार पटेल का बहुमत था. सरदार पटेल इस बहुमत के बल पर, पं. नेहरू को अमान्य नीति के साथ-साथ उनकी अपनी नीति पर अमल भी करते रहे. उदाहरणार्थ, सोमनाथ जीर्णोद्धार, जुनागढ़ व हैदराबाद का विलीनीकरण और पाकिस्तान से आये दस लाख हिंदु शरणार्थियों का उचित अवधि में पुनर्वसन. पाकिस्तान में गये लाखों मुस्लिम शरणार्थियों का पुनर्वसन आज तक नहीं हो पाया है. इसे देखें, तो सरदार पटेल का यह कार्य अत्यंत प्रशंसनीय है. परंतु यह सब सरदार पटेल ने पं. नेहरू के गृहमंत्री के नाते से पूरा किया था. अतः इसका श्रेय तो पं. नेहरू को ही मिलना था. इधर पं. नेहरू का विरोध होते हुए भी सरदार पटेल ने इन कार्यों को संपन्न किया, इस बात का जनता को पता चल जाना इतना आसान नहीं था. क्योंकि यह विरोध घोषित रूप में नहीं था.

पं. नेहरू को खुला मैदान मिलने का एक कारण यह भी था कि पं. नेहरू से अपनी लोकप्रियता के बल पर टक्कर लेनेवाला व्यक्तित्व पं. नेहरू के कार्यकाल में भारत में नहीं था. सरदार पटेल को कांग्रेस में बहुमत अवश्य था किंतु संपूर्ण जनता में उनकी लोकप्रियता की तुलना पं. नेहरू की लोकप्रियता से नहीं कर सकते. जब सरदार पटेल लोकप्रिय होने को ही थे, वे इस पृथ्वीलोक को ही छोड़कर चल बसे. नेताजी सुभाषचंद्र बोस भारत आ ही नहीं पाये. पं. नेहरू के समक्ष उनके तुल्यबल प्रतिस्पर्धी कोई न होने के कारण उनका सच्चा रूप जनता के समक्ष कभी खुलकर सामने आया ही नहीं.

पं. नेहरू द्वारा निर्मित प्रचंड बांध तथा विज्ञान की गगनचुम्बी इमारतें आदि पं. नेहरू के कर्तृत्व के नाम पर आँखें फाड़कर देखने योग्य प्रदर्शनीय वस्तुएँ थीं. इन विशाल बांधों ने भारत की दरिद्रता को कम करने में कोई हाथ नहीं बँटाया और विज्ञान के इन प्रासादों से विज्ञान के क्षेत्र में कोई भी मौलिक परिवर्तन संभव नहीं हुआ, इस बात का अहसास होने के लिए भी वैज्ञानिक और संशोधकों को अनेक दशक व्यतीत करने पड़े. फिर आम जनता के मन पर पं. नेहरू का असर गहराता ही रहा, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात ही नहीं है.

पं. नेहरू की नीति से किसी का भी भला नहीं हुआ, ऐसा तो नहीं कह सकते. अंग्रेजदाँ या अंग्रेजीशिक्षित वर्ग को इनकी नीति का पूरा-पूरा लाभ हुआ है. अंग्रेजों के समय यह वर्ग एक तरह से बेरोजगारी से त्रस्त था. दो-तीन भाइयों के परिवार में केवल एक को ही अच्छी नौकरी हुआ करती थी और बाकी सब उनके ही आश्रय में जी रहे थे. पं. नेहरू के कार्यकाल में इस स्थिति में काफी सुधार आया. अतः भारत में रहनेवाला एकमात्र शिक्षित वर्ग पं. नेहरू का ऋणी था और जनमत बनाने के काम तो उनका ही होने के कारण ऐसा मानकर चला ही नहीं जा सकता था कि यह वर्ग पं. नेहरू की नीतियों की बुराइयों को जनता को समझाने का प्रयत्न भी करेगा.

दूसरी बात यह थी कि आपसी कलह से हाल ही में मुक्त हुए चीन की तुलना

में तो रहने ही दें, परंतु हाल ही में स्वतंत्र हुए दूसरे देशों की तुलना में भी पं. नेहरू का कार्य अत्यंत हलका या मिलावटी होने के बावजूद भी मानव विकास की दृष्टि से अंग्रेजों से बेहतर या अच्छा ही था. 1999 के प्रजासत्ताक दिवस पर भारत के राष्ट्रपति ने कहा कि स्वराज्य प्राप्ति के पचास वर्षों बाद प्रति व्यक्ति जीवन की आयुरेखा दुगुनी तथा साक्षरों की संख्या में लगभग तिगुनी वृद्धि हुई है. अर्थात् निचले से निचले तबके के इन्सान ने उन्नति की थी. जनता के लिए दूसरे देश में क्या हो रहा है, यह जानना उतना आसान नहीं होता. इसके विपरित, खुद की दशा में सुधार का प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें सुख दे जाता है. अतः हर क्षेत्र में देश की हानि होते हुए भी पं. नेहरू लोकप्रिय बने रहे.

### यह लीजिए अभियोग-पत्र

अंग्रेजों के युग के बाद देश के समक्ष तत्काल ध्यान देने योग्य संकट खड़े थे, उनमें से कुछ हैं— भारत के सैनिकों की क्षमता में ह्रास या कमी, देश के विविध घटकों के आपसी कलह, कानून व सुव्यवस्था की दुर्गत, भ्रष्टाचार में विक्रमी बढ़ोत्तरी तथा देशी भाषाओं की दुर्दशा.

इनमें अंग्रेजीशिक्षित वर्ग देशी भाषाओं का सिमटकर अंग्रेजी के साम्राज्य का फैलना, प्रियतर स्थिति समझ रहे थे, परिणामतः आम अशिक्षित जनता भी इसे सही समझ रही थी. अब जनता को यह विश्वास हो गया था कि 1857 के गदर को बड़ी क्रूरता से खत्म कर देने के बाद, अंग्रेजों को पराजित करने की महत्वाकांक्षा केवल स्वप्ररंजन ही है और इस दिशा में कुछ सोचने की भूल न करते हुए, जो दशा टल नहीं सकती उसे दूर करने की लालच मन में पनपाने के बजाय जो दशा है उसका स्वीकार करते हुए खुद का भला किस तरह कर सकेंगे, इस दिशा में सोचने की वृत्ति जनता में पनपने लगी.

तब विदेशी शासन के साथ जो हुआ था, वही आज स्वभाषा के साथ हुआ है. केवल अंतर यही था कि स्वराज्य के लिए बलिदान देने के बाद तथा परिस्थिति की बलशाली प्रतिकूलता का अनुभव होते ही पराधीनता के समक्ष घुटने टेकने पड़े. देश ने विदेशी भाषा का स्वीकार उपरोक्त अगतिकता से नहीं किया वरन् स्वराज्य के आंदोलन में जो अग्रस्थान पर था, वही स्वयं को अब आखरी अंग्रेज समझने लगा था और उसने ही विदेशी भाषा की पूजा के पाठ पढ़ाए! इसी काल में अंग्रेजी भाषा ही नहीं, परंतु अंग्रेज शासकों की महती के पवाड़े गाये जा रहे थे, लोकप्रिय हो रहे थे. स्वयं मार्क्स ने 1857 के गदर को 'स्वतंत्रता का युद्ध' कहा था. परंतु मार्क्स के गँवार अनुयायी इसे 'सामंतशाही की पुनःस्थापना का प्रयत्न' कहकर नाक भौं सिकोड़ रहे थे. भारत सरकार अब इतिहासकारों से ऐसे ग्रंथ लिखवाकर लेने लगी, जिसमें मराठीशाही को लुटेरों की टोली के रूप में प्रतिपादित किया जाने लगा था. इतना ही नहीं, श्री. दिघे, श्री. आठवले जैसे मराठी संशोधक भी वही तोतारटंत गाये जा रहे थे. स्वयं प्रधानमंत्री भी ऐसा प्रचार करने लगे कि भारत अंग्रेजों के आने से पहले कभी राष्ट्र था ही नहीं. संक्षेप में, कहना यह है कि स्वभाषाओं

के सिमटने का अर्थ केवल स्वभाषा की अवहेलना तक ही सीमित नहीं था वरन् पराधीनता की पूजा की उफनती लहर का ही एक अंश था. अतः अत्यंत खेद के साथ यह कहना है कि स्वराज्य की मानसिकता व मूल्य को देश इतनी जल्दी बिसरा देता है, इसका अर्थ यही है कि महात्मा गांधीजी द्वारा निर्मित-पोषित राष्ट्रीयता की लहर शिवाजी द्वारा निर्मित-पोषित लहर से बहुत ही कमजोर साबित हुई है.

देश ने परभाषा की पूजा को सोच-समझकर ही स्वीकार किया था किंतु कानून व सुव्यवस्था की दुर्गत तो देश ने सोच-समझकर नहीं की थी. अंग्रेजों के समय में कभी किसी ने हत्या की हो और वह पकड़ा न जाय या पकड़ा जाने पर उसे फांसी की सजा न मिले ऐसा शायद ही होता था. परंतु स्वराज्य में अपराध को हजम कर जाना और मंत्री पद तक पहुँचना एक आम बात हो गई है. जिसके पास दो लाख की संपत्ति है ऐसे व्यक्ति को भगा ले जाना और उसकी मुक्तता करवाने के लिए कर या खिराज वसूल करना यह एक संघटित धंधा (व्यापार) बन गया है. पुलिस के पास ऐसी शिकायत ले जाने पर उनका जवाब होता है— “भगा ले जाने से मिलकर आपस में ही तय कर लें.”

आज के युवा यह जानते ही नहीं हैं कि इस स्थिति का निर्माता पं. नेहरू ही हैं. परंतु जो नेहरूयुग में जी चुके हैं, उन्हें पता ही होना चाहिए. तेलंगना, नागभूमि आदि प्रदेशों के विद्रोहियों से पं. नेहरू का जिस तरह का व्यवहार रहा, उसी से यह स्थिति निर्माण हुई है. परंतु फिर भी जनता का उनसे रूष्ट न होने का कारण यह हो सकता है कि यह सब कुछ नागा व तेलंगना जैसे छोटे प्रदेशों तक सीमित था. और समाचार-पत्रों में भी इनका स्थान किसी कोने में ही रहा करता था. इसके अलावा इस विशाल देश का सीधा संबंध उन प्रदेशों की घटनाओं से नहीं था.

भारत की सैनिकों की असामर्थ्यता की बात पहली बार चीन से युद्ध के समय जनता के सामने उजागर हुई थी. परंतु पं. नेहरू को जनता को यह समझाने में सफलता हासिल हुई कि चीनी सेना ने भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में से केवल कुछ ही बंजर प्रदेश को ही हस्तगत किया है और आक्रमण के कारण इससे अधिक भयावह स्थिति निर्माण नहीं हुई थी. समाचार-पत्रों में लिखनेवालों को भी चीन व्याप्त प्रदेशों के नाम पता नहीं थे.

### पानिपत और चीनी युद्ध

पानिपत-पराजय महाराष्ट्र के सीने पर गहरी जखम कर गया था और इस संकट के लिए, जो खेद मराठी जनता के मन में बसा था, वह साहित्य में भी प्रतिध्वनित हो रहा था. सच कहें तो चीनी युद्ध में 20000 जवानों का कत्ल कर दिया गया था. पानिपत के संपूर्ण मराठा सेना में 60000 सैनिक थे. यह संभव नहीं है कि उनमें से 20000 से अधिक सैनिक मारे गये होंगे. क्योंकि तब दस प्रतिशत सेना के आहत होते ही पराजय घोषित किया जाता था. इस हिसाब से 20000 के मारे जाने का अंदाजा गलत साबित होता है. पानिपत पर एक लाख मांगों को उजाड़ने की बात अतिशयोक्ति ही लगती है. इसके अलावा पानिपत

की रणभूमि में पराजित होने के बाद भी तुरंत ही पेशवा स्वयं 40000 की फौज लेकर वहाँ उपस्थित हुए ही थे. अतः हस्तगत की गई दिल्ली छोड़कर शत्रु को स्वदेश लौटना ही पड़ा था. कुल मिलाकर पानिपत का पराभव चीन से युद्ध में पराजित होने जैसा शर्मनाक कदापि नहीं था. चीनी युद्ध में तो चीनियों ने एक ओर से ‘गोली बंद’ की घोषणा की थी और भारत को ताकीद दी थी कि ‘इन-इन प्रदेशों में कदम रखोगे तो खबरदार.’ केवल इन शाब्दिक ताकीद से ही भारत उन प्रदेशों में कदम रखने का साहस नहीं जुटा पाया.

दस प्रतिशत सेना के खत्म होने का अर्थ है पराजय. इस दृष्टि से चीन को लड़ाई में 20000 सैनिकों का मर-खप जाने की बात अविश्वसनीय जान पड़ती है. परंतु यह सोच चीन से युद्ध पर लागू नहीं होती. क्योंकि इस लड़ाई में भारतीय सेना शस्त्र-अस्त्रों के साथ वापस नहीं आ सकी थी. उनके पास जो बंदूके थी, उनसे एक गोली दागने में पांच मिनट का वक्त लगता था और चीनियों के हाथों में एक घोड़ा दबाते ही गोलियों की बारिश शुरू हो जाती थी, ऐसी बंदूकें थी. अतः यह लड़ाई नहीं थी, एकपक्षीय कत्तल थी. इसके अलावा इस युद्ध से संबंधित समकालीन कागज़-पत्र उपलब्ध होने के कारण 20000 की संख्या को कागज़ी-पुलाव नहीं कहा जा सकता. अब हम इस युद्ध में कितने सैनिक धराशायी हुए थे, इसे भारतीय सेना नहीं जानती, ऐसा नहीं कह सकते.

पानिपत में मराठे बड़ी मात्रा में मारे गये थे, यह बात सच जरूर है. शत्रु पर रोबदाब पड़े इतने या उससे अधिक शत्रु के सैनिक मारे गये थे. फिर भी पानिपत महाराष्ट्र को घायल कर गया. वास्तव में चीनी युद्ध में भारत का पराजय, पानिपत के युद्ध से सौगुना अधिक व गहरा था और इस युद्ध में ऐसा कोई भी पराक्रम नहीं दिखाया गया था, जिसके पवाड़े या शौर्यगाथाएँ गाई जाय. परंतु इस पराजय से देश के आहत होने की बात, तो दूर ही रही, भारत के सुशिक्षित कहलानेवालों के भी स्मरण में नहीं रहा है.

पं. नेहरू को यदि कोई विरोध होता भी था, तो वह प्रमुख रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अनुयायियों से होता था. उनका मुख्य मुद्दा पं. नेहरू के हिंदू विरोधी होना था. परंतु यही आरोप वे महात्मा गांधी पर भी करते थे. ये संघवादी महात्मा गांधी व पं. नेहरू के अंतर को कभी जान ही नहीं पाये. उन्हें एक बात साफ तौर से कभी भी नजर नहीं आयी कि कांग्रेस महात्मा गांधी के वैचारिक नेतृत्व को स्वीकार करती थी, पं. नेहरू के नहीं. जो समूह समाजवादियों का था, वह कांग्रेस से बाहर हो गया था. ऐसी स्थिति में भी वह कहता ही रहा कि ‘हमें गांधीवाद नहीं, गांधी चाहिए, वे हमारे राष्ट्रपिता हैं.’ महात्मा गांधीजी स्वयं को समाजवादी मानने के लिए कभी भी तैयार नहीं थे. फिर भी नेताजी सुभाषचंद्र बोस के खिलाफ कांग्रेस के समाजवादियों ने गांधीजी का ही साथ निभाया. इनमें से एक पक्ष पं. नेहरू को नेता मान रहे थे. परंतु डॉ. राममनोहर लोहिया का पक्ष पं. नेहरू से द्वेष भाव रखता था. इसके दो कारण थे. यह पक्ष समाजवादी था और कम्युनिस्टों के सरख्त खिलाफ था. क्योंकि कम्युनिस्ट भारतीय राष्ट्रवाद के ही खिलाफ थे. डॉ. लोहिया



समाजवाद के अधिकांश प्रखर राष्ट्रवादी थे. पं. नेहरू के कांग्रेस में होने पर भी डॉ. लोहिया यह जानते थे कि उनमें और कम्युनिस्टों में अधिक अंतर नहीं है. लोहिया के पं. नेहरू से डाह का दूसरा कारण था— पं. नेहरू भारतीय भाषाओं से घृणा-भाव रखते थे और अंग्रेजी के भक्त थे. लोहिया अंग्रेजी को हटाना चाहते थे. नेताजी सुभाषचंद्र बोस भी समाजवादी ही थे. परंतु उनका राष्ट्रवाद समाजवाद से अधिक प्रखर था. उन्हें यह कतई पसंद नहीं था कि समाजवाद के नाम पर रूस में बारीश होने पर भारत में छाता खोलकर बैठे रहे. पं. नेहरू का समाजवाद कम्युनिस्टों से अधिक भिन्न न था. समाजवाद को नींव बनाकर कांग्रेस के सारे समाजवादियों का नेता पं. नेहरू नहीं, सुभाषचंद्र बोस थे. क्योंकि नेताजी गांधी की तरह प्रमुख रूप से राष्ट्रवादी थे. संक्षेप में कांग्रेस के अधिकांश सदस्य पं. नेहरू के विचारों के खिलाफ ही रहे थे. परंतु संघवादी जैसे गांधी व नेहरू के भेद को नहीं समझ सके वैसे ही कांग्रेस व पं. नेहरू के बीच का भेद न जानकर दोनों के लिए अपशब्द कहते रहे.

### संघ का नेहरू-प्रेम

आगे चलकर तो नत्थूराम गोडसे ने गांधीजी का वध ही कर दिया था. पं. नेहरू ने प्रचार किया कि गोडसे हिंदुत्ववादी है अर्थात् संघवादी है. परिणामतः पहले से ही पं. नेहरू के खिलाफ रहनेवाला संघवादियों का एक बड़ा-सा समूह राष्ट्र-प्रेम ही गँवा बैठा. फल यह हुआ कि पं. नेहरू को बना-बनाया अभेद्य कवच मिल गया. अब जनता यह सोचने लगी कि संघवादियों द्वारा की गई पं. नेहरू की आलोचना राष्ट्रपिता से द्रोह करनेवाली है और इसलिए वह राष्ट्रविरोधी भी हैं.

इस मामले में सारी गलती जनता की नहीं थी. नत्थूराम गोडसे ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने आत्मसमर्थन में दिये गये बयान में देश के विभाजन का जिम्मेवार महात्मा गांधी को ही ठहराया और कहा कि यदि 'मैं गांधी को नहीं मारता तो वे हैदराबाद से संबंधित कार्यवाही पर रोक लगा देते.' ऐसा कहकर उसने अपने कृत्य का समर्थन किया. अब गोडसे भले ही संघ का स्वयंसेवक न हो, परंतु गांधी के खिलाफ उसके दिये दोनों आरोप संघवादियों के मुख से सुनाई देते हैं. विभाजन व हैदराबाद विलीनीकरण के आरोपों के निराधार होने का अहसास जनता को था. जुनागढ़ पर कार्यवाही हो रही थी तब गांधीजी उसके आड़े नहीं आये थे. पाकिस्तान को मान्यता न दी जाती, तो अंग्रेज मंत्रीमंडल योजना पर अमल करके देश के दो नहीं, दो सौ टुकड़े कर देते. महात्मा गांधीजी के प्रभाव से ही सीमा प्रांतों में कांग्रेस ने मुस्लिम लीग का पराभव किया था. अतः अंग्रेजों को पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करना भारी पड़ रहा था. महात्मा गांधी पर खुले आम झूठी तोहमत लगानेवाले संघवादी पं. नेहरू पर जो भी आरोप कर रहे थे, उनके निराधार होने की संभावना को जनता मान भी लेती है तो जनता कुछ गलत तो नहीं थी.

पं. नेहरू की परराष्ट्रीय नीति का राष्ट्र विघातक होना, यह बात चीनियों के आक्रमण के समय संदेहरहित रूप से स्पष्ट हो चुकी थी. ठीक उसी समय संघ ने पं. नेहरू

पर प्रहार नहीं किया और यह सोचकर कि राष्ट्रीय संकट उद्भूत होने के अवसर पर हमें सरकार को सहयोग देना चाहिए, संघ ने पं. नेहरू की चीन व तिब्बत नीति के संदर्भ में राष्ट्रवादी प्रचार नहीं किया. इसके विपरित संघ की पत्रिका 'आर्गनाइजर' ने 'उनका महान क्षण' (His finest hour) इस शीर्षक के तहत संपादकीय लिखकर विदेशी आक्रमण का सामना करने के लिए तैयार वीर के रूप में पं. नेहरू का चित्र आँका. इसी समय संसद में पं. नेहरू को हटाने के संदर्भ में विचार-विमर्श हो रहा था. यूँ तो संघ का संसद में अधिक बल नहीं था. फिर भी वह नेहरूवादियों के खिलाफ राष्ट्रव्यापी आंदोलन पुकार सकता था. संघ ने ऐसा नहीं किया.

मैंने आर्गनाइजर के संपादक श्री मलकानी को मेरी अंग्रेजी पुस्तक 'The Nemesis of Nehru-Worship' दिखलाई और उनसे विनति की कि 'आप श्रीमान वाजपेयी के निकटतम में से हैं, मेरी किताब पर एक नजर डालने का आग्रह करें.' तब उन्होंने कहा कि 'वाजपेयी यह मानते हैं कि पं. नेहरू की आलोचना करने से काम नहीं बनेगा.' तब मैंने मलकानी जी से कहा कि 'यदि ऐसा है, तो लोग सोनिया गांधी को छोड़कर वाजपेयी को क्यों मत दे रहे हैं? यह प्रश्न आप मेरी तरफ से वाजपेयी जी से ही पूछिए.' वाजपेयी जी के मन में स्वयं पं. नेहरू और उनकी नीतियाँ दोनों के प्रति आकर्षण का भाव है. इसी कारण वे पोप को भारत आने का न्यौता दे आते हैं और पोप भी उन्हें आश्वस्त करते हैं कि वे भारत आकर संपूर्ण भारत को ईसामय बना देंगे. अर्थात् भारत से हिंदू धर्म के उच्चाटन की उनकी मनीषा साफ तौर पर व्यक्त की. वाजपेयी जी एक बात से अनभिज्ञ तो अवश्य नहीं थे कि लोगों का उनकी तुलना में सोनिया गांधी की ओर अधिक झुकाव है क्योंकि वे नेहरू परिवार से ही हैं.

वाजपेयी की तरह ही नाना देशमुख भी सोचते हैं. उन्होंने 'नागपूर टाइम्स' में मेरा पं. नेहरू के खिलाफ लिखा लेख पढ़कर नाक-भौं सिकोड़ ली थी. और कहा था कि 'पं. नेहरू पर छिटकशी करना देश के हित में नहीं है.'

पं. नेहरू की जनमानस पर छाये बिम्ब को मिटाये बिना राष्ट्रवाद को भारत में कोई स्थान नहीं मिल सकेगा. यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि इस बात को बड़े नेता समझ ही नहीं पा रहे हैं.

राममनोहर लोहिया की नेहरू-निंदा का भी कुछ खास असर नहीं हुआ था. वे 'अंग्रेजी हटाव' आंदोलन खड़ा करते समय जनता को यह समझा नहीं पाये कि कैसे पं. नेहरू ने देशी भाषाओं के खिलाफ जेहाद पुकारा था. वे सोच रहे थे कि दक्षिण भारतीय मुसलमान आदि के विरोधों के कारण पं. नेहरू अंग्रेजी का साथ दे रहे हैं. वे जान ही नहीं पाये कि पं. नेहरू देशी भाषाओं को जड़मूल से उखाड़कर फेंकना चाहते थे.

### लोहिया की नेहरू खिलाफी

लोहिया के भाषणों में संविधान द्वारा अंग्रेजी के उच्चाटन का आदेश प्राप्त होने

के बावजूद भी पं. नेहरू के युग में देशी भाषाओं का, अंग्रेजों के युग से भी अधिक ह्रास क्यों हो रहा था, इस बात पर कही भी कुछ भी नहीं कहा गया था।

पं. नेहरू हर रोज बीस हजार रूपये खर्च करते हैं, यह लोहिया का सबसे बड़ा आरोप था। यह जानना मुश्किल है कि ऐसा हिसाब उन्होंने कैसे किया होगा। यह खर्च प्रधानमंत्री का खर्च है या व्यक्तिगत, इसका स्पष्टीकरण उनके विवेचन से नहीं मिलता। उनका एक आरोप यह भी था कि 'आवश्यक नहीं है, वहाँ भी पं.नेहरू के लिए हवाई अड्डा बनाया जा रहा है।' अब इस अड्डे का तफसील, तो उन्होंने दिया ही नहीं। यदि यह सच है तो सबूत आज भी मिलेंगे।

बादशाही व्यय के संदर्भ में जनता की एक खास और विचित्र सोच रहती है। पं. नेहरू का व्यय बादशाही था कहने में ऐसी कोई बात कतई नहीं थी कि इससे सभी दुखी हों। अधिकांश जनता से पं. नेहरू के व्यय के लिए प्रशंसोद्गार ही निकलते थे। जनता का उन्हें सवाल हुआ करता था कि 'पं. नेहरू नहीं, तो क्या लोहिया करेंगे बादशाही व्यय?' क्योंकि पं. नेहरू बादशाही परिवार से थे और यह प्रचार पं. नेहरू की छवि को महान बनाने में सहायक साबित हो रहा था। बड़े लाड़ से कहा जाता था कि उनके कपड़े पेरिस धुलने जाते हैं, वे मदिरा से भरे टब में नहाते हैं।

लोहिया ने पं. नेहरू की सरकार के खिलाफ अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया था। परंतु उसमें यह जताने की कतई कोशिश नहीं की गई थी कि पं. नेहरू की नीति कितनी देश विधातक थी। ऐसा दर्शाया जाने पर प्रस्ताव पारित हो जाने-जैसी कोई बात नहीं थी। परंतु लोकसभा में तो पं. नेहरू का सही रूप दिखलाई दे जाता और आज की जनता के मन में जो उनके प्रति घोर अज्ञान फैला हुआ है, वह तो न होता। शायद इससे लोहिया के नेहरू खिलाफी को चुनाव में अधिक सफलता प्राप्त हो जाती।

जब पं. नेहरू पर यह आरोप किया जाय कि उन्होंने योजाबद्ध तरीके से देश का नुकसान किया, तब एक सवाल अवश्य उपस्थित होता है कि योजनाबद्ध तरीके से देश को हानि पहुँचाने में पं. नेहरू का मकसद क्या हो सकता है? पं. नेहरू इतने बेवकूफ तो बिलकुल भी नहीं थे कि वे यह जान ही न सकें कि उनके कृत्यों से देश का नुकसान होगा। विज्ञान में केम्ब्रिज की उपाधि हासिल करनेवाला तथा बड़े ही सुंदर तरीके से अंग्रेजी में तीन सरस पठनीयता वाली पुस्तकें लिखनेवाला पुरुष, इतना बेवकूफ तो हो ही नहीं सकता। पं. नेहरू के लेखन से उच्च स्तरीय काव्य-गुण या कवित्व शक्ति की प्रचीति मिलती है। उनके लेखन में सुभाषितों की भी प्रचुरता है। उसमें से मेरा अति प्रिय सुभाषित यह है—

“If there is a god it will be necessary not to worship him.”

यदि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान तथा सर्वगुणसंपन्न ईश्वर द्वारा यह दुनिया बनायी गयी है तो ईश्वर को इतनी सारी बुरी बातों के लिए भी जिम्मेदार ठहराया जा सकता है कि उसकी पूजा करने की इच्छा किसी में भी उत्पन्न हो पाना मुश्किल है। अतः यह वाक्य वास्तव में

बहुत ही सटीक है।

इस सारी चर्चा से भले ही यह साबित हो जाय कि पं. नेहरू आम आदमी से अधिक बुद्धिमान थे, फिर भी यह गुंजाइश बनी रहती है कि प्रधानमंत्री के लिए आवश्यक, बुद्धिमत्ता का उनमें अभाव था। जो अंग्रेजी के अलावा दूसरी कोई भाषा जानता ही नहीं हो, अच्छी अंग्रेजी भी लिख लेता हो, इन बातों को उसके बुद्धिमान होने के लक्षण रूप में स्वीकार करना काफी मुश्किल है। भाषा विना मनुष्य का काम चल नहीं सकता और स्वभावतः एक भाषा पर अधिकार होना अपवाद नहीं कहा जा सकता। हाँ, नरसिंहराव जैसा व्यक्तित्व जिनका अनेक भाषाओं पर अधिकार है, इसे बुद्धिमान होने का अपवादात्मक लक्षण कहा जा सकता है।

पं. नेहरू के पुस्तकों के स्वरूप से भी उनकी मर्यादाएँ स्पष्ट होती हैं। उनके तीनों ही ग्रंथ ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययनशील कथन के उत्तम उदाहरण हैं। सारी घटनाएँ किसी भी इतिहास से संबंधित ग्रंथों में उपलब्ध हैं ही। पं. नेहरू ने उन्हें संशोधन के साथ खोजा नहीं है। साथ ही इसमें वकालत या दर्शन के क्षेत्र में आवश्यक युक्तियों की तर्कपूर्ण सोच प्रस्तुत करने की क्षमता कहीं भी तिलमात्र भी नजर नहीं आती।

### पं. नेहरू के ग्रंथ

पं. नेहरू की कथन-शैली की विशेषता यह है कि पढ़ी हुई तफसीलों से पाठक ऊबता नहीं है। उनकी आत्मकथा में भी अधिकांश पृष्ठों पर तत्कालीन राजनीति के बारे में समाचार-पत्रों में प्रकाशित बातों को ही लिखा गया है। मोटे तौर पर यह माना जाता है कि आत्मकथा निजी जीवन से संबंधित स्मृतियों को दोहराती है। इसे हम उस तरह की आत्मकथा नहीं कह सकते। अतः इस पुस्तक का स्वरूप भी शेष ग्रंथों की तरह ही है। 'Glimpses of World History' में भी पं. नेहरू अपनी पुत्री को अंतरराष्ट्रीय मुद्रा-चलन की जटिलता या उलझाव को समझाते हैं। सारी बातें समझने में सरल तथा मनोरंजन से भरपूर भी हैं। परंतु केवल इससे यह साबित नहीं किया जा सकता कि पं. नेहरू जटिल से जटिल विषय को सरल बनाकर प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि इसे लिखते समय भी कोई न कोई सर्वसामान्य सी पुस्तक ही उनके समक्ष रही होगी। परंतु यह कहा जा सकता है कि इन तीनों पुस्तकों में एकमात्र कोशिश यह बनी रही है कि कठिन विषय को स्पष्ट करना। इसी दृष्टि से इनके सुभाषितों के संदर्भ में कहें, तो कह सकते हैं कि बचपन से ही अंग्रेजी का पठन के कारण आवश्यक अर्थ के वाक्य कहीं न कहीं पढ़े गये ही होते हैं। अतः लिखने के समय उनका स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। तात्पर्य यह है कि पं. नेहरू के पुस्तकों में कहीं भी यह नजर नहीं आता कि वे तर्कशुद्ध विचार करने की सामर्थ्य और मौलिकता से भरेपूरे थे।

ऐतिहासिक विषयों पर किताबें लिखने वाले राजनेताओं में वि.दा. सावरकर का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। उनकी पुस्तक '1857 का स्वतंत्रता युद्ध' पं. नेहरू के

किसी भी पुस्तक से अधिक रसीली है। साथ ही उस पर मौलिकता की छाप है। 1857 का सारा वृत्तांत उन्होंने प्रसिद्ध पुस्तकों से ही चुना है। इन आधारभूत पुस्तकों में कहीं भी ऐसा नहीं लिखा गया है जिससे पाठकों के मन पर इन घटनाओं की छाप स्फूर्तिदायक घटनाओं के रूप में बनी रहे। साथ ही उन्होंने किसी भी काल्पनिक घटनाओं का समावेश अपनी पुस्तक में नहीं किया है। वर्णित हर घटना का कहीं न कहीं साधारण अवश्य है परंतु वह ज्ञात वृत्तान्त का पुनःकथन नहीं है। यह एक प्रकार की नवनिर्मिति है, परंतु उपन्यास सदृश्य नहीं, वरन् ऐतिहासिक यथार्थ का भावनात्मक आकलन करवानेवाली नवनिर्मिति है। इस आकलन में इतिहास का अवास्तवीकरण नहीं होता। वास्तव-दर्शन के नियम की परिभाषा यँ नहीं होती कि स्त्री-पुरुष के बीच के संबंधों को प्रेम कहकर अवास्तविक करार दे दें और उपभोग दृश्यों को वास्तव कहें। प्रेम का अर्थ केवल देह से ही निगडित न होकर उनके परस्पर व्यवहार पर भी निर्भर है अतः केवल देहभोग और व्यवहार के समिश्र अर्थ से उभरता विचार ही वैज्ञानिक कहलाया जायेगा। 1857 के संदर्भ में भी इसी तरह का समग्र विचार सावरकर अपनी पुस्तक में भावनात्मक होकर भी वास्तविक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इस भावनात्मक वास्तव के सृजन के लिए प्रतिभा की आवश्यकता होती है। उसके लिए केवल कथनकुशलता ही काफी नहीं होती। सावरकर की पुस्तक पढ़ते समय हर पाठक ने बार-बार महसूस किया कि वे सावरकर जैसे प्रतिभाशाली पुरुष का ही संपर्क पा रहे हैं। ऐसी प्रतिभा का दर्शन पं. नेहरू की किसी भी पुस्तक में नहीं होते।

पं. नेहरू की किताबें उनकी बुद्धिमत्ता की एकमात्र गवाह हैं। उनका विद्यार्थी-जीवन साधारण ही था। उन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय की कौन-सी परीक्षा, किस श्रेणी में उत्तीर्ण की, इसका कहीं भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। वह श्रेणी अवश्य ही सामान्य ही रही होगी, अन्यथा उसका प्रदर्शन शोरशराबे के साथ होता। भारत में अपनी उम्र के चौदहवें वर्ष तक कहीं पढ़ते रहे, परंतु उनकी असामान्यता का अहसास किसी को भी नहीं हुआ था। यह सिद्ध हो चुका है कि बुद्धिमत्ता आनुवंशिक होती है। नेहरू परिवार की बुद्धिमत्ता का आनुवंशिक रिपोर्ट शोचनीय ही थी। मोतीलाल नेहरू बी.ए. की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुए थे और मुनसिफ की परीक्षा देकर वकालत करने लगे थे। परंतु वकालत में मोटे तौर पर नजर आनेवाली उनकी साफ सफलता देखकर उनके बुद्धिमान होने का निर्णय कोई ले भी लेता है तो उसका विरोध नहीं किया जा सकता। हाथ लगाते ही काम बन जाने की ख्याति पाने वाला भी किसी भी प्रकार की उपाधि न पाकर भी, अन्य किसी भी बड़े-बड़े चिकित्सकों से सौगुना कमाई करनेवाले रोग-उपचारक मैंने देखे हैं। परंतु उनके रोगी बड़े पैमाने पर स्वस्थ हुए ही हैं, ऐसा मैंने नहीं देखा। कोई मूर्ति जागृत देवता/देवी के रूप में प्रसिद्ध हो जाती है। ऐसा ही कुछ उपरोक्त स्थिति है। अतः इस बात को निर्णायक नहीं माना जा सकता। पं. नेहरू की बहन कोई भी उपाधि प्राप्त नहीं कर पायी। और उनकी किसी भी बेटे ने बहिःशाल परीक्षा पास नहीं की। अतः आनुवंशिकता की बात करें तो पं. नेहरू की बुद्धिमत्ता

सामान्य थी, इसे स्वीकार करने में कोई हर्ज नहीं है।

### पाठशालेय सफलता व बुद्धिमत्ता

सर्वत्र यह कहा जाता है कि पाठशाला की परीक्षाओं की सफलता बुद्धिमत्ता का निकष नहीं बन सकती। केवल मोतीलाल नेहरू ही नहीं, कई वकील वकालत की परीक्षा में अत्याधिक चमचमाता यश हासिल नहीं कर पाये किंतु उनके वकालत में चाँदी कटवाने के कई उदाहरण मिल जायेंगे।

इस उदाहरण में भूल यह हो सकती है कि वकालत की परीक्षा में प्रथम क्रमांक पर उत्तीर्ण होनेवाले सौ विद्यार्थियों में जितने नाम रोशन करते हैं, उतने ही तीसरे क्रमांक पानेवाले विद्यार्थी भी चमक जाते हैं। यह साबित करनेवाले आंकड़े प्रस्तुत नहीं किये जा सकते और उपलब्ध भी नहीं हैं। उपलब्ध हो जाने पर ही परीक्षा में यशस्वी होना और व्यवसाय में नाम रोशन करने का परस्पर संबंध नहीं है यह अनुमान लगाया जा सकता है।

राजनीति की सफलता और विद्वत्ता में कोई संबंध नहीं होता, ऐसा विधान कर पाना, कम से कम स्वराज्य पूर्व के राजनेताओं के उदाहरणों से साबित नहीं किया जा सकता। दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानडे, गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, नेताजी सुभाषचंद्र बोस तथा डॉ. आंबेडकर सभी बुद्धिमान व्यक्ति थे। महात्मा गांधी बुद्धिमान विद्यार्थी के रूप में जाने नहीं गये थे, परंतु मंद विद्यार्थियों में भी उनका नाम शामिल नहीं था।

लोकमान्य तिलक गणित विषय लेकर एम.ए. में दो बार अनुत्तीर्ण रहे और कभी भी एम.ए. कर नहीं पाये। यह मनोवैज्ञानिकों के लिए संशोधन का विषय हो सकता है। लोकमान्य तिलक की गणना बी.ए. तथा उससे पहले के पाठ्यक्रमों में बुद्धिमान विद्यार्थी में की जाती थी। लोकमान्य तिलक की जीवनी-लेखक न.चिं. केलकर उनके निकटतम व्यक्तियों में से एक थे। उन्होंने लो. तिलक के एम.ए. में अमुत्तीर्ण होने का कोई कारण जीवनी में नहीं लिखा है। यह बड़े आश्चर्य की बात जान पड़ती है। मुझे इसके दो कारण दिखलाई देते हैं— (1) एम.ए. में अध्ययन करते समय लो. तिलक रोजी-रोटी के लिए भी काम कर रहे थे अतः पूरे समय के विद्यार्थी नहीं थे। (2) लो. तिलक की अध्ययन करने की रीति परीक्षा में अच्छे क्रमांकों में उत्तीर्ण होनेवाले विद्यार्थी से भिन्न थी। यदि कोई गणित हल नहीं पाता था तो अन्य सभी कामों को छोड़कर वे उसे हल करके ही दम लेते थे। इस बीच शेष कामों में उनका मन लगता भी नहीं था। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए ऐसा करना हानिकारक ही होता है। क्योंकि अवधान सभी विषयों पर होना आवश्यक होता है। कहना यह है कि एम.ए. में अनुत्तीर्ण होना लो. तिलक को अबुद्धिमान विद्यार्थी या मंद विद्यार्थी साबित नहीं कर सकता।

परीक्षा में अच्छी सफलता हासिल करने के लिए बुद्धिमत्ता के अलावा और कई गुण आवश्यक हैं। उनमें महत्वपूर्ण बात है— एक, अध्ययन करने के लिए मेहनत करने की तत्परता; दूसरा, शीघ्र तथा सुवाच्य अक्षरों में लिखने की क्षमता, इस गुण का बुद्धिमत्ता

सेव कोई संबंध नहीं है। परंतु यह गुण विद्यार्थी में न हो, तो सभी विषयों की तैयारी पूरी कर लेने के बावजूद भी निश्चित समय में उसे कागज पर वह उतार नहीं सकेगा। तात्पर्य यह है कि परीक्षा में सफल होने के लिए बुद्धिमान होने के अलावा अन्य गुणों का सहभाग होता ही है परंतु परीक्षा व बुद्धिमत्ता के बीच कोई संबंध ही नहीं है, यह धारणा भी गलत ही है।

### रॉबर्ट क्लार्क तथा वॉरेन हेस्टिंग्स

क्लार्क तथा वॉरेन हेस्टिंग्स अंध-खोपड़ी के ही थे। माँ-बाप ने उनके अंधे भविष्य को देखते हुए उन्हें कनिष्ठतम स्तर की क्लर्की करने के लिए भारत में भेज दिया था। ईस्ट इंडिया कंपनी में निम्नतम श्रेणी का क्लर्क राइटर कहलाता था। क्लार्क तथा वॉरेन हेस्टिंग्स दोनों राइटर की तरह नौकरी कर रहे थे, फिर भी ब्रिटिश साम्राज्य के संस्थापक बन गये। इस उदाहरण को बार-बार यह साबित करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है कि पाठशाला की सफलता व बुद्धिमत्ता का कोई संबंध नहीं होता। परंतु इनका पाठशाला में यशस्वी न होने का कारण था अध्ययन में उनकी रूचि न होना। वे गृहकार्य या अभ्यास करते ही नहीं थे। फिर उनकी बुद्धिमत्ता क्यों कर प्रगट होगी? उनका अधिकांश समय मटरगश्ती करने में ही गुजरता था। मैंने भी ऐसे कई बुद्धिमान विद्यार्थियों को देखा है, जिन्हें पढ़ना-लिखना नहीं आता है। मेरे परिचित एक विद्यार्थी चौदह वर्ष की उम्र में ही कह रहा था कि 'पढ़-लिखकर क्या क्लर्की करनी है, व्यवसाय करना चाहिए।' परंतु माँ-बाप कह रहे थे कि 'पहले शिक्षा पूरी कर ले फिर व्यवसाय के लिए भी सहायता करेंगे।' परंतु उसे वह जाँचा नहीं और व्यवसाय के लिए पूँजी इकट्ठा करने के लिए उसने घर में ही चोरी की ताकि वह उसके माँ-बाप को यह दिखला सके कि व्यवसाय में बहुत पैसे मिलते हैं और उन्हें चुप कर दे। उसने अपने मन में यह बात धँसा दी थी कि व्यवसाय का कोई अनुभव न होते हुए भी व्यवसाय में उसका दिमाग तेजी से काम करेगा। पहले ही अनुभव में वह जान गया कि उसकी सोच गलत थी। उसके साथियों ने उसकी पूँजी लूटकर उसे ठग लिया था।

अर्थात् जब उसने व्यवसाय में प्रवेश किया तो उसके पास पूँजी थी और उसके सहयोगी के पास अनुभव था। जब उसने व्यवसाय छोड़ दिया तो उसके सहयोगी के पास पूँजी रह गई और उसे अनुभव मिला! विवश होकर वह अपने माँ-बाप की शरण में वापस लौट आया और पढ़ाई में उसने मन लगाया। उसने औद्योगिक रसायन के क्षेत्र में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की।

इससे स्पष्ट होता है कि पाठशाला में पढ़ते समय बुद्धिमान प्रतीत होते विद्यार्थी को आगे चलकर अभ्यास में रूचि नहीं रहती, ऐसा भी संभव है। अतः पाठशाला में असफल होने को कमजोर बुद्धिमत्ता के निश्चित लक्षण नहीं कहा जा सकता।

विचार शक्ति यह बुद्धिमत्ता का एक पहलू है। किसी भी तथ्य के पक्ष-विपक्ष पर

विचार करने के बाद उचित निर्णय लेने के लिए विचार शक्ति की आवश्यकता होती है। ऐसी शक्ति न्यायाधीश के पास होना आवश्यक है। परंतु न्यायाधीश के समक्ष दोनों प्रति पक्षों के द्वारा तथ्य के पक्ष विपक्ष वकीलों द्वारा तैयार करके रखे जाते हैं। परंतु यह सुविधा हर क्षेत्र में उपलब्ध नहीं होती। बुद्धिमान मनुष्यों के सामाजिक तथा राजकीय समस्याओं पर उनके अपने मत होते हैं। साथ ही जिसे अंग्रेजी में आयडियॉलॉजी (तत्त्वप्रणाली) कहते हैं, उसे निश्चित करने के लिए इन व्यक्तियों के समक्ष कोई वकील आकर बने-बनाये पक्ष-विपक्ष लाकर धर देने के लिए उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः स्थिति का, तत्त्वों का मूल्यमापन करने के लिए स्वयं ही स्वयं का अध्ययन करना होता है। इसके अलावा किसी भी विशिष्ट विचारप्रणाली के प्रति आकर्षण का भाव उत्पन्न होने के लिए कुछ भावनापरक कारण भी जिम्मेदार होते हैं। सामान्य बुद्धि के लोग इस संदर्भ में फैशन के प्रवाह में बह जाने की मानसिकता रखते हैं। फैशन का अर्थ रूढ़ियाँ नहीं हैं। फैशन रूढ़ियों से किंचित विपरित होती है। परंतु नयेपन की होड़ में दौड़ लगानेवालों का समर्थन उसे अवश्य होता है। फैशन का स्वीकार करनेवाला विवेचक नहीं होता। वह रूढ़ियों का विरोध करता है। क्योंकि एक खास वर्ग उसका विरोध करता है और वह फैशन को अपनाता है, क्योंकि उसे उसी वर्ग विशेष की स्वीकार्यता चाहिए होती है। यही नियम तत्त्वप्रणाली के संबंध में भी लागू होती है। तत्त्वप्रणालियों पर काफी साहित्य उपलब्ध है। परंतु उसे पढ़कर कोई तत्त्वों का स्वीकार नहीं करता। विचार व अध्ययन से अधिक फैशन के प्रभाव के तहत ही विचारप्रणाली का स्वीकार किया जाता है।

इस क्षेत्र में एक वर्ग ऐसा है जिसे वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर स्वीकार्य-अस्वीकार्य में से किसी एक के प्रति निर्णय लेना आवश्यक होता है। ऐसा कुछ करने के लिए उच्च स्तरीय वैज्ञानिक बुद्धि व संबंधित विषय का गहरा अध्ययन आवश्यक होता है। यह स्तर बहुत ही बिरला होता है।

तत्त्वप्रणाली के संदर्भ में कहें, तो पं. नेहरू फैशनवादी थे। उन्होंने मार्क्सवाद का अंगीकार किया था। परंतु उनके लेखन व भाषणों से यह प्रतीत नहीं होता कि मार्क्सवाद पर उन्होंने काफी कुछ पढ़ा भी होगा। उन्होंने मार्क्सवाद का वैज्ञानिक विश्लेषण कहीं भी नहीं किया है। जब पं. नेहरू केम्ब्रिज में थे, तब वे मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित हुए थे। बीसवीं सदी के दूसरे व तीसरे दशक कम्युनिज्म के प्रभाव से आच्छादित थे। तीसरे दशक के बाद यह प्रभाव कमजोर पड़ता गया और आज स्वयं रूस ने भी कम्युनिज्म को छोड़ दिया है। पं. नेहरू जब प्रधानमंत्री बने थे तब कम्युनिज्म कोई नई बात नहीं रह गई थी। परंतु पं. नेहरू ने तत्कालीन विचारों को पढ़ा नहीं था और उन्हें लगता था कि उनके कम्युनिस्ट विचारों के प्रति विरोध करनेवाले लोग पुरातनपंथी हैं। इस बारे में ..... मसानी ने लोकसभा में उन्हें बड़ी खरी-खोटी सुनाई थी। उन्होंने साबित कर दिया था कि पाश्चात्य देशों में स्वयं को मार्क्सवादी कहलानेवाले अधिकांश व्यक्ति पं. नेहरू के ही हम उग्र थे।



वहाँ युवाओं में मार्क्सवाद प्रिय विचार नहीं था. अतः अब पुरातनपंथी यदि कोई होगा भी तो वह पं. नेहरू ही हैं. कुल मिलाकर तत्त्वप्रणाली के संदर्भ में, पं. नेहरू फैशनवादी ही थे. इस क्षेत्र में भी उनका व्यवहार एक बुद्धिमान तथा एक वैज्ञानिक की तरह नहीं था. वे उच्चकुलीन घरानों का व्यक्ति प्रतिष्ठा के लिए अपने पास कलाकार, विद्वानों का जमावड़ा बनाये रखते थे. सामंत काल की प्रतिष्ठा की कल्पना 'अंगवस्त्र' से मुखरित होती थी. इसी के नक्शे कदम पर कदम धरने के लिए पं. नेहरू यह सोचते रहे हैं कि प्रतिष्ठित जीवन जीने के लिए किसी न किसी तत्त्वप्रणाली का अंगीकार करना आवश्यक है. तत्त्वप्रणाली उनके लिए शौकिया तौर पर अपनाया गया आवरण या आच्छादन मात्र था, जिससे जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ेगी. प्रतिष्ठा के लिए तत्त्वप्रणाली का स्वीकार करना हो, तो ऐसी ही तत्त्वप्रणाली का स्वीकार करना होगा जिससे अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हो. शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से संपन्न किंतु अप्रतिष्ठित विचारधारा या तत्त्वप्रणाली को अपनाया नहीं जा सकता.

### चावल नहीं हैं, केले खाओ

तत्त्वप्रणाली का स्वीकार करते समय पं. नेहरू ने कभी भी वैज्ञानिक अचूकता का अवलंब नहीं किया था. यह बात यदि वे सर्वशक्तिमान शासनकर्ता न होते तो अधिक नुकसानदेह साबित नहीं होती. परंतु शासनकर्ता होने के नाते उन्हें कई निर्णय लेने होते हैं. यदि इन निर्णयों की नींव फैशन के तौर पर अपनायी गई तत्त्वप्रणाली पर आधारित होगी और उनमें कोई वैज्ञानिक अचूकता नहीं होगी तो देश की सर्वाधिक हानि होना तय है. आर्थिक योजनाएँ, भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप तथा परराष्ट्रीय नीति के क्षेत्रों में पं. नेहरू के अधिकांश निर्णय कम्युनिस्ट दृष्टिकोण से प्रभावित हैं. अंग्रेजी में ऐसे व्यक्ति को Doctrinaire अर्थात् मतवादी या अव्यावहारिक या तत्वाल कहते हैं जो उसके निर्णय वस्तुस्थिति को प्रमाण मानकर निर्णय नहीं लेता, वरन् किसी पूर्वकल्पित तत्त्व के अनुरूप निर्णय लेता है. ऐसी प्रणाली के सिद्धान्त मूलतः वैज्ञानिक अचूकता के साथ संशोधित करते हुए तय नहीं किये जाते. अतः ऐसे निर्णयों के गलत होने की संभावना अत्याधिक होती है. पं. नेहरू ने भारत की आर्थिक योजनाएँ तथा परराष्ट्र नीति का निर्धारण रूस को अनुकरणीय मानकर किया था. यहाँ भारत की स्थितियों और भारत के हितों को समक्ष रखकर निर्णय नहीं लिया गया था. कम्युनिज्म में राष्ट्र को पूँजीवादी संकल्पना मानी गई है. अतः पं. नेहरू भारत को राष्ट्र नहीं माना. इसके विपरित चीन के नेताओं ने कम्युनिस्ट होकर भी अपने राष्ट्र के हित को ही प्रधानता दी है. व्यावहारिक निर्णयों की आवश्यकता होती है वहाँ तत्वाल निर्णय निम्न बुद्धिमत्ता के निर्णायक बन जाते हैं.

कभी-कभी पं. नेहरू की बुद्धिमत्ता स्तब्ध कर जाती थी. भारत में जब अनाज की कमी आयी तो उन्होंने कहा कि 'अनाज ही क्यों खाया जाय? अनाज नहीं मिलता तो केले खाओ.' यह वाक्य भी मेरी अॅण्टायनेट के उद्गार 'ब्रेड नहीं मिलता, केक खाओ.' की तरह ही हैं. जब यह बात मैंने एक नेहरूभक्त से कही तो उन्होंने कहा कि "आप खेती

के अर्थशास्त्र नहीं जानते. प्रमुख अनाज की तरह केले का उत्पादन अधिक या मूल्य कम नहीं होता है. परंतु कृषिशास्त्र की नई खोज यह है कि अनाज की तुलना में केले की पैदावार अधिक बढ़ाना संभव है!"

मैं कृषि अर्थतज्ञ नहीं हूँ अतः नेहरूभक्त के इस विचार को निराधार बताने का साहस नहीं कर पाया. परंतु अनेक कृषितज्ञों से पूछने पर उन्होंने ऐसा कुछ पढ़ने में आने की बात से इन्कार कर दिया था.

एक बार कुछ देहात बाढ़ में, बह गये थे तब पं. नेहरू ने उन देहातियों को सलाह दी कि 'आप अपनी कुटिया टीलों-पहाड़ों पर बनाए.' किसान के लिए ऐसी कुटिया से रोज दूर के खेत पर आना-जाना आसान नहीं होगा. अतः मैंने कहा कि "देहातियों को माथेरान व महाबलेश्वर में रहना चाहिए और कार से खेती करने के लिए आना चाहिए. पं. नेहरू के वाक्यों से इसी अर्थ का बोध होता है. तब नेहरूभक्त ने कहा कि पं. नेहरू के कथन का इस तरह विपर्यास करना, विकृत मानसिकता का द्योतक है. खेतों के आसपास ही ऊँची जगहों पर कुटिया खड़ा करना संभव है." यह किस तरह से संभव है, उसे मैं आज तक नहीं जान पाया. क्योंकि नेहरूभक्त को ऐसा प्रश्न मेरे पूछने से पहले ही पहले से उपस्थित मित्र ने विषयांतर कर दिया. आगे चलकर कुछ दिनों बाद देहात के भूगोल से पं. नेहरू जितना ही ज्ञान रखनेवाले उस मित्र से उसके उपरोक्त कथन का स्पष्टीकरण पूछा, तो उन्होंने अपने कानों पर हाथ रखते हुए कहा कि "पं. नेहरू ने ऐसा कुछ कहा ही नहीं था अतः इस तरह से उनके कहने का समर्थन मैं करूँ, यह संभव ही नहीं है."

उपरोक्त दो उदाहरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अंग्रेजी में जिसे कामनसेन्स (व्यवहार बुद्धि या ज्ञान) कहते हैं, वह नेहरू में न के बराबर ही थी. अनाज की तुलना में केले महँगे और दुर्लभ होते हैं तथा खेती के आसपास ही कुटिया बनाने के लिए टीले उपलब्ध नहीं होते, इन दो बातों को तो आम आदमी भी जानता ही है. हमेशा प्रासादों में रहनेवाले गाडी से बाहर निकलते होंगे, वह उपरोक्त बातें नहीं जानता होगा. यह सही लगता है. क्योंकि ऐसा व्यक्ति यदि विश्व की यात्रा भी करता होगा तो अपनी अमीरी तौर-तरिकों के बीच आम आदमी के जीवन से दूर रहकर ही संपन्न करता है. परंतु पं. नेहरू के स्थान पर दूसरा कोई अज्ञ राजकर्ता होता तो जो बात उसे ज्ञात नहीं है, उसकी सच्चाई को जानकर गरीबों को सयानापन सीखाने का प्रदर्शन तो नहीं किया होता. इस संदर्भ में यदि उसे कुछ करना भी होता तो पहले अपने सहयोगी सलाहकारों से बातचीत की होती.

### जवानों के लिए हवाई जहाज का संरक्षण नकारा

देहात का भूगोल तथा खेती का अर्थशास्त्र दोनों के बारे में मात्र पं. नेहरू ही नहीं, बंगलों में रहनेवाले और केवल सैर के लिए देहातों में जानेवाले क्या जाने कि वे जो खाते हैं, वह कहाँ से आता है? कैसे पकता है? उसका मूल्य क्या होता है? जिन्हें इन सब बातों की पूछताछ नहीं करनी होती, ऐसा कोई भी दूसरे उच्च मध्यमवर्गीय मनुष्य इन स्थितियों



से अनजान ही रहता है. अतः मात्र इतनी-सी बात से, पं. नेहरू की सामान्य बुद्धि के बारे में संदेह व्यक्त करना उचित नहीं होगा. परंतु जिन बातों से एक राजनीति से जुड़े व्यक्ति के अनजान बने रहने का कोई कारण नजर नहीं आता, उन स्थितियों के बारे में भी पं. नेहरू के जो विचार थे, वे सब उपरोक्त सामान्य बुद्धि को ताला लगाने जैसे ही थे. पं. नेहरू को केवल सरदार पटेल ही नहीं, परराष्ट्र सचिव ने भी कहा था कि 'तिब्बत को चीन के हाथों मत सौंपिये.' उन्होंने सुना नहीं और जबाब दिया कि 'मुझे सीमाओं पर मैत्रीपूर्ण माहौल चाहिए. चीनियों को तिब्बत दे देने से चीन से सीमा संबंधी वाद-विवाद नहीं होंगे.' इस पर के.पी.एस. मेनन ने सलाह दी कि "पहले तिब्बत व भारत की आज की सीमाएँ और अंग्रेजों व तिब्बत द्वारा मानी गयी सीमाओं पर चीन की स्वीकृति ले लीजिए फिर तिब्बत में चीनियों को प्रवेश करने दीजिए." इसे भी पं. नेहरू ने नहीं माना. वे जानते थे कि चीन उपरोक्त सीमाओं को अस्वीकार ही करता है. ऐसा संभव ही नहीं कि जो बात समाचार-पत्रों में बार-बार छप रही है, उसे पं. नेहरू न जानते हो! चीनियों को वह तह मान्य ही नहीं था जिसके अनुसार तिब्बत में भारतीय सेनाएँ रखी गई थीं और तिब्बत/भारत की सीमाएँ तय हो चुकी थीं. अतः यदि यह मानकर चलें कि पं. नेहरू यह समझ ही नहीं पाये थे कि चीन को तिब्बत दे देने से सीमा पर शांति बनी रहने के स्थान पर सीमा-विवाद भड़क उठेगा तो केले खाना और पहाड़ों पर झोपड़ियाँ बाँधना आदि उनके उद्गार केवल एक अमीर का गरीबों के जीवन के प्रति अज्ञानता के द्योतक मात्र न होकर सामान्य बुद्धि के अभाव से निस्तृत थे! ऐसा अनुमान करना भी टालना मुश्किल था.

पं. नेहरू ने कभी युद्ध का अनुभव लिया ही नहीं था. उन्होंने केवल युद्धों का इतिहास पढ़ा था और वह भी युद्धों को समर्पित इतिहास से नहीं पढ़ा था. केवल इतनी सी पूँजी पर वे अपने आपको युद्धतज्ञ मान बैठे थे. और चीन के आक्रमण के समय उन्होंने सेनापति के निर्णय को नामंजूर करके निर्णय लिया कि चीन के खिलाफ हवाई जहाज का इस्तेमाल न किया जाय क्योंकि ऐसा करने पर चीन के हवाई जहाज हमारे बड़े शहरों पर आक्रमण करेंगे. इस कारण आम तौर पर न होती, उतनी बड़ी संख्या में जवानों का कत्ल हुआ. यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि आक्रमण कर्ता की सेना का मुख्य उद्देश्य आक्रमण-सेना का पराभव करना. उसे छोड़कर हजारों मील दूर के शहरों पर बम फेंकने के लिए महँगे बम व पेट्रोल खर्च करने में कोई सयानापन दिखाई नहीं देता. यदि ऐसा किया भी जाता तो कुछ नागरिकों के मरने और कारखानों के उद्ध्वस्त होने के अलावा और कुछ नहीं होता. साथ ही रणभूमि पर लड़नेवाली सेना को पराभूत करने में प्रत्यक्ष इससे कोई सहायता मिलनी भी न थी.

दूसरी बात यह है कि चीन इस युद्ध में हवाई जहाज का उपयोग नहीं करता है तो इसका अर्थ यही है कि तिब्बत में हवाई अड्डा बनाये नहीं गये थे. चीन से हवाई जहाजों को लाना चीनियों को लाभदायक नहीं लगा क्योंकि हमने भी हवाई जहाजों का उपयोग किया

नहीं था. अतः उन्हें इसकी आवश्यक महसूस नहीं हुई. यूँ भी चीन हवाई जहाजों के इस्तेमाल करने की स्थिति में नहीं था. इसका लाभ उठाकर यदि हम हवाई जहाज का उपयोग कर लेते तो चीन का झपट्टा या आघात की तीव्रता कम की जा सकती थी. सेनापतियों की भी सोच ऐसी ही थी.

फिर पं. नेहरू द्वारा हवाई जहाज का उपयोग न करने के आदेश दिया जाना और अपने निर्णय की पुष्टि हेतु कमजोर फुसफुसा-सा कारण देना उनकी निर्बुद्धता का ही प्रमाण मानना गलत नहीं होगा.

पं. नेहरू जब अमरिका गये थे तब उनका जैसा स्वागत किया गया था उसका कारण उनका किसी एक देश का पंतप्रधान होना था. और अपने देश के प्रधानमंत्री का स्वागत किस तरह हुआ इसे जानने का हक हर नागरिक का है. परंतु पं. नेहरू सोच रहे थे कि वे दुनिया के शांति दूत होने के कारण उनका स्वागत हो रहा है. उसी अवसर पर पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली खान का भी उसी तरह से स्वागत हुआ. परंतु पं. नेहरू व्यथित हुए थे और अपनी बहन विजयालक्ष्मी पंडित के पास वे कहने लगे कि 'दुनिया का नेता नेहरू और पाकिस्तान का प्रधानमंत्री लियाकत इन दोनों में अमरिका भेदभाव नहीं करता.' यदि इसे निम्न बुद्धि का लक्षण कहें तो गलत भी क्या है?

पं. नेहरू चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने की बात पर जोर दे रहे थे. उनका कहना था कि चीन को यह सदस्यता दी जाने पर दुनिया में शांति बनाये रखना आसान होगा और भारत को तंग करने की चीन की नीयत पर रोक लगेगी.

### बीसवीं सदी का पं. नेहरू का दिमागी चित्र

उपरोक्त कथन पं. नेहरू के उस कथन की याद दिलाता है जिसे उन्होंने तिब्बत के संदर्भ में कहा था कि चीन को तिब्बत दान में दे दिया जायेगा तो भारत की सीमाएँ मित्र की सीमाएँ हो जायेंगी. संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन जाने पर चीन का सामर्थ्य बढ़ेगा या कम होगा? भारत के अधीन जो हजारों वर्गमील भूमि पर अपना अधिकार जताते समय चीन ने संयुक्त राष्ट्र की मंजूरी नहीं ली थी. इसके अलावा चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं है अतः चीन के खिलाफ संयुक्त राष्ट्र संघ में आवाज उठाने का अधिकार नष्ट नहीं होता. चीन के सदस्य न होने पर भी संयुक्त राष्ट्र संघ ने चीन द्वारा दक्षिण कोरिया पर किये गये आक्रमण का विरोध प्रदर्शित किया था. यहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ ने ऐसी भूमिका नहीं ली कि चीन इस लड़ाई में प्रवेश कर रहा है अतः कोरिया में स्थित संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना वापस आ जाय, चीनी सेना को प्रत्युत्तर न दें. इसके विपरित चीन संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बन गया होता तो भारत के कब्जे में चरण के अनुसार उसकी जो जमीन थी, उसे वापस पाने के लिए फर्याद करते हुए समर्थन प्राप्त करना अधिक आसान हो जाता. चीन के संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बन जाने पर उसे यह कहकर संयुक्त राष्ट्र में बहुमत हासिल करना मुश्किल नहीं ता कि 'हमारी भारत सत्ता ही समर्थनीय नहीं लगती' ऐसा कबूल करनेवाला ब्रिटेन जब

भारत छोड़ जाता है, उसने ही अपनी सत्ता को मजबूत बनाने के लिए तिब्बत पर आक्रमण करके उनपर अपनी सुविधा के लिए संधि लाद दी थी. वह साम्राज्यशाही सुलह थी. उसे रद्द या समाप्त कर दिया जाय और चीन व तिब्बत की ब्रिटिशपूर्व सीमाओं को समर्थन दिया जाय. पं. नेहरू स्वयं एक महान वकील के सुपुत्र थे, स्वयं भी बॅरिस्टर थे और प्रधानमंत्री होने के नाते ब्रिटिश/चीन संबंधों की पूरी जानकारी परराष्ट्र विभाग ने दी ही थी. अतः वे उपरोक्त संभाव्य स्थिति का अंदाजा ले सकते थे. परंतु चीन के संदर्भ में उनके निर्णय अज्ञान के तहत लिये गये कहना बहुत बड़ी भूल जान पड़ती है. क्या इसे सामान्य बुद्धिमत्ता का अभाव नहीं कहा जा सकता है?

पं. नेहरू की एक और अव्यावहारिक सोच थी कि बीसवीं सदी में एक देश, दूसरे देश पर आक्रमण नहीं करेगा. वस्तुतः यह सोच बीसवीं सदी के साथ जोड़ने की अपेक्षा द्वितीय महायुद्ध के बाद निर्मित परिस्थितियों के संदर्भ में कही जाती तो अधिक समर्थनयोग्य मानी जाती. मुसोलिनी ने बीसवीं सदी में ही अबिसीनिया पर केवल आक्रमण ही नहीं किया वरन् उस देश को अपने साम्राज्य में शामिल भी कर लिया था. जपान ने चीन पर खुलकर धावा बोला और उनका मांचूरिया प्रदेश अपनी जेब में डाल दिया.

द्वितीय महायुद्ध के बाद एक देश दूसरे देश पर आक्रमण नहीं करेगा, ऐसा प्रतीत होने का कारण यह था कि अब युद्धों का स्वरूप आणविक बन रहा था. और कोई भी देश ऐसे युद्ध को बुलावा नहीं देगा. ऐसी स्थिति को यदि पं. नेहरू सच मान रहे होंगे तो शांतिपूजक पं. नेहरू को यह महसूस होना चाहिए था कि अणु बम की निर्मिति दुनिया के लिए धोखादायक न होकर जगत्शांति की अग्रदूता है. परंतु पं. नेहरू ने ऐसा सोचा था कि अणु बम के भय से राष्ट्र युद्ध टल जाने की स्थिति निर्माण करेंगे, कोई पुख्ता आधार नहीं था. अमरिका के पास अणु बम था फिर भी रूस ने हंगेरी व आगे चलकर अफगानिस्तान पर आक्रमण किया ही था. अतः बीसवीं सदी के संदर्भ में पं. नेहरू की अंधश्रद्धा संबंधित तफसीलों के अज्ञान से उद्भूत कदापि नहीं थी. इसे हम निर्बुद्धता का तांडव क्यों न कहें?

एक और कारण भी था जो पं. नेहरू बीसवीं सदी और दूसरे पर आक्रमण के संदर्भ में कहते ही जा रहे थे. वह कारण था— लगभग सभी साम्राज्यवादी या उपनिवेशवादी देशों ने अपने उपनिवेशों को स्वेच्छया छोड़ दिया था. क्योंकि इस निर्णय में उनकी सोच यह थी कि उपनिवेशों से लाभ कुछ भी नहीं मिलता था बल्कि उलटे उनकी रक्षा की जिम्मेदारी को वहन करना पड़ता था और इस जिम्मेदारी को पूरा करना पराजित देशों के सहयोग के बिना संभव नहीं था. सोच तो कुछ ऐसी है कि बने बनाये साम्राज्य भी, जब बलशाली देशों को छोड़ देते हैं तो दूसरे देशों पर आक्रमण करके वहाँ शासन करने का झंझट कोई क्यों मोल ले?

ऐसी सोच में कई प्रकार के उद्देश्यों का आभास मिलता रहता है. चीन की भूमिका यह थी कि “उपनिवेशवादियों द्वारा छीना गया प्रदेश हम वापस ले रहे हैं. हम दूसरे देशों

पर आक्रमण नहीं कर रहे हैं. चीन ने यह जान लिया था कि यह काम जितनी जल्दी पूरा होगा तो उतनी ही उससे विश्व युद्ध के धधकने की संभावना कम होती जायेगी. हैदराबाद की कार्यवाही भी पांच दिनों में पूरी नहीं की जाती और मास-दर-मास चलती ही रहती तो उसने भी अंतरराष्ट्रीय झमेले अवश्य निर्माण हो जाते.

### चीन का अनुकरण

यदि बल प्रयोग विद्युत्गति से होता है, तो कोई भी समस्या अंतरराष्ट्रीय रूप धारण करने की संभावना कम हो जाती है. चीन ने यह जान लिया था कि विश्वशांति में बाधा उत्पन्न न होनेवाले किसी भी प्रश्न की ओर किसी का भी ध्यान आकर्षित नहीं होता. और पं. नेहरू में ऐसी दृष्टि ही नहीं थी कि वे ऐसी कोई नई बात को ढूँढ सकें. चीन के अनुकरण पर पूर्व प्रधानमंत्री लाल बहादूर शास्त्री ने भी 1965 में कश्मीर के प्रश्न को हल करना चाहा था. परंतु हमारी सेना उतनी सक्षम नहीं थी, इसे न तो सेनापति जान पाये और न प्रधानमंत्री. यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है. क्योंकि पराधीन राष्ट्र के पास स्वतंत्र विचार करने की योग्यता ही नहीं होती. प्रस्तुत घटना इसका ही जीवंत उदाहरण है.

तिब्बत देने में एक विचार या पक्ष अवश्य हो सकता है. चीन को तिब्बत देकर तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की उसकी सदस्यता का समर्थन. पृष्ठपोषण करने से चीन भारत के उपकारों को याद करता रहेगा या यदि उपकार महसूस नहीं करेगा तो चीन यही सोचता रहेगा कि भारत हमसे युद्ध नहीं करना चाहता और मित्रता बनाये रखने को इच्छुक है. ऐसी सोच से उसकी सरहद भी सुरक्षित रहेगी.

पं. नेहरू ने एक बात ताड़ ली थी कि उनकी शिफारिस पर चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता मिले या न मिले, चीन पर मेहरबानी की खातिर चीन को तिब्बत भारत द्वारा दान में देना, चीन के लिए अपमानजनक ही था. पं. नेहरू ने यह भी उद्गार कहे थे कि “हमारी दोस्ती का इतना सस्ता मूल्यांकन चीन द्वारा होता है. यह बात बड़ी शोचनीय है. मित्रता का मोल आंकने के लिए शत्रुता भी उतनी ही भयावह होना आवश्यक है. चीन ने भारत का मूल्यमापन यँ ही किया था कि भारत शत्रु बने या मित्र बने, उससे उन्हें क्या फर्क पड़ता है? जो कुछ घटित हुआ, उससे यहीं मूल्यमापन सही साबित हुआ है. यहाँ संस्कृत महाकवि भारवी का वचन उद्धृत करने का मोह टाला नहीं जा सकता—

*अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहादेंत न विद्विषादरः ।*

अर्थात् जो क्रोधरहित है उसके शत्रु होने वा मित्र होने से क्या होना है? ऐसी स्थिति से राहत या भय का भाव मन में बनाये रखने में कोई अर्थ नहीं है.

पं. नेहरू के चीन से संबंधित सभी अनुमान निर्बुद्धता के परिणाम नहीं थे, ऐसा कहना बोझिल-सी बात लगती है.

पं. नेहरू की बुद्धिमत्ता के प्रति मैं कुछ साशंक बना था, वह घटना उनके प्रदानमंत्री बनने के दस वर्ष पूर्व की है. 1937 के आसपास वे शुक्रवार तलाव के तट पर

अभ्यंकर स्मारक के उद्घाटन के अवसर पर नागपूर आये थे। उस समय उन्होंने जो भाषण दिया था उसका एक भी वाक्य पूरा नहीं था। एक वाक्य के पूरे होने तक भी उस वाक्य का विचार उनके मन में बना नहीं रहता था और दूसरे विचार मन में उभरते ही उससे संबंधित वाक्य वे कह रहे थे। लग रहा था कि दो मिनट के स्वप्न में परस्पर असंबद्ध दृश्य दिखायी दे रहे थे अतः एक स्वप्न एक प्रसंग का दृश्य न होकर दस प्रसंगों के दृश्यों की कतरनों को इच्छानुरूप इकट्ठा करके देखा जा रहा है और एक किस्म का ऊधम मचाने जैसा वह भाषण जान पड़ रहा था। उसमें 'अभ्यंकर एक बहादूर व्यक्ति थे।' यह वाक्य एक दो बार कहा गया था। अतः वे किस अवसर पर बोल रहे हैं यह पता चल रहा था। परंतु इस वाक्य को भाषण से हटा दें तो अभ्यंकर के बारे में कुछ भी कहा नहीं गया था। इस भाषण में अभ्यंकर से संबंधित वाक्यों को तो भूलना ही होगा पर शेष वाक्य भी ऐसे थे और बार-बार कह रहे थे कि उनका भारतीय राजनीति से भी सीधा संबंध ही नहीं था। जैसे— जपान यह कह रहा है, मुसोलिनी क्या करता है? हिटलर ने ऐसा किया।

इस प्रसंग का प्रभाव मुझ पर ऐसा गहरा हुआ था कि पं. नेहरू का हर भाषण उनके प्रति मेरी भावना को और अधिक दृढ़मूल बनाता जा रहा था। प्रधानमंत्री बनने के बाद पं. नेहरू ने अपनी आदत बदलने की बहुत कोशिश की। अब उन्होंने अपने वाक्यों को अधूरा छोड़ने तथा असंबद्ध बोलने को सजग रहकर टालना सीख लिया था। फिर भी उनका भाषण सुनकर कभी भी ऐसा नहीं लगा कि वह व्यक्ति अचूक और सुसंगत सोचने की काबिलियत रखता है।

ऐसी आशा कदापि नहीं की जाती कि प्रधानमंत्री किसी तर्कशुद्ध विचार पद्धति जनता के समक्ष रखे। ऐसी बुद्धिमत्ता जिसके पास नहीं है, वह भी प्रधानमंत्री बन सकता है। प्रधानमंत्री के पास जिस अत्यावश्यक शक्ति का होना जरूरी है, वह है समस्या को हल करने की शक्ति। महात्मा गांधी जानते थे कि हमारा देश इतना निर्बल था कि ब्रिटिश सरकार से युद्ध करने की बात स्वप्न में भी नहीं सोची जा सकती थी। अतः गांधीजी ने सत्याग्रह के अभिनव शस्त्र से इस समस्या का हल खोज निकाला था और समस्या हल कर दी थी।

### महापुरुषों के मन में पं. नेहरू का चित्र

'भला अहिंसा से कभी स्वराज्य मिल सकता है?' कहकर सत्याग्रह की खिल्ली उड़ाई जा सकती है, जैसाकि सावरकर ने अपने सारे साहित्यिक हथियारों का उपयोग करके सत्याग्रह का मजाक उड़ाया था। परंतु हैदराबाद में उन्होंने पिस्तौलधारी क्रांतिकारक न भेजते हुए सत्याग्रहियों को ही भेजा और उनकी आलोचना ने दम तोड़ दिया। महात्मा गांधीजी और उनके आंदोलन में शामिल लोगों ने यह नहीं सोचा था कि सत्याग्रह से अंग्रेज देश छोड़कर चले जायेंगे। परंतु सत्याग्रह ने स्वराज्य की भावना के इर्दगिर्द लोगों को जागृत करने का काम अवश्य किया। यही तो महात्मा गांधीजी चाहते थे।

आगरा से सटकने के समय छत्रपती शिवाजी महाराज ने समस्या को हल करने

में अपनी संपूर्ण बुद्धि का उपयोग किया था। और उससे अधिक बड़ी या जटिल समस्या का समाधान उन्होंने खोज निकाला था और वह था— ढेर सारी साधन-संपत्ति से युक्त शत्रु से साधन-संपत्ति के संदर्भ में सर्वथैव अभावग्रस्त जनता को कैसे लड़ना चाहिए और कैसे जीतना भी चाहिए। उनका यह तंत्र आनेवाले सौ वर्षों तक उनके उत्तराधिकारियों के लिए सहायक बनता रहा। पं. नेहरू की बुद्धि इस तरह की समस्याओं का हल नहीं कर सकती थी। और प्रधानमंत्री के पास ऐसी ही बुद्धि का होना आवश्यक होता है।

किस व्यक्ति से कैसे बर्ताव किया जाय, जिससे उनका व्यवहार हमारे लिए लाभदायक हो सके। इससे समझने की योग्यता होना भी बुद्धि का ही एक प्रकार है। इसे सामाजिक बुद्धिमत्ता कहते हैं। प्रधानमंत्री के लिए यह अत्यावश्यक है। यह कहा जाता है कि पं. नेहरू लोकप्रिय थे, अतः उनके पास ऐसा दिमाग था। परंतु यह गलत है। पं. नेहरू की लोकप्रियता की मीमांसा पहले ही हो चुकी है। पं. नेहरू में सामाजिक बुद्धिमत्ता थी या नहीं इस बात पर सोचते समय उनके भारत से बाहर के महत्वपूर्ण व्यक्तियों से व्यवहार किस तरह का था, यह जान लेना जरूरी है। क्योंकि भारत के किसी भी व्यक्ति पर, वे कृपा की बरसात कर ही सकते थे अतः अपने ही चारों ओर बुभुक्षितों का काफिला इकट्ठा करना उनके लिए कतई मुश्किल काम न था।

पं. नेहरू जिन व्यक्तियों पर अपनी कृपा बरसाते रहे, उनमें से कइयों के मन में उनके लिए वैसे ही सद्भाव नहीं थे। इनमें शेख अब्दुल्ला, मौलाना आजाद तथा कृष्ण मेनन के नाम मुख्य हैं। कश्मीर के विलीनीकरण के संदर्भ में पं. नेहरू ने शेख अब्दुल्ला की मित्रत-मनुहार की, परंतु शेख अब्दुल्ला ने उनकी एक न सुनी। शेख अब्दुल्ला के पं. नेहरू से व्यवहार के संदर्भ में शेषराव मोरे ने अपनी कश्मीर संबंधी पुस्तक में जो कुछ वर्णित किया है, उससे स्पष्ट होता है कि शेख अब्दुल्ला के मन में पं. नेहरू के लिए जरा भी आदरभाव नहीं था। मौलाना आजाद ने भी पं. नेहरू के संदर्भ में जो संस्मरण लिखे हैं और प्रसिद्ध भी हुए हैं, उनमें उन्होंने पं. नेहरू को उनकी कई भूलों के लिए जिम्मेदार ठहराया है और उनमें कहीं भी पं. नेहरू के सहवास को महापुरुष के साहचर्य का लाभ कह सकें ऐसे उद्गार मौलाना आजाद ने व्यक्त नहीं किये हैं। पं. नेहरू के बारे में चर्चा करते समय एक बार डॉ. जाकिर हुसैन ने मुझसे कहा था कि "पं. नेहरू के पास जानेवाले सभी बड़ा फायदा पाने की लालसा से जाते थे और महात्मा गांधीजी के पास कुछ त्याग करने के लिए जाते थे।"

कृष्ण मेनन ने लिखा है कि "पं. नेहरू ने गोवा कार्यवाही की गुप्त दिनांक पोर्तुगीजों को दो बार बता दी थी। अतः तीसरी बार पं. नेहरू को सूचित किये बिना हमें गोवा में सेना को घुसेड़ना पड़ा।"

कृष्ण मेनन द्वारा वर्णित इस घटना में पं. नेहरू की बुद्धिमत्ता का भी गवाह मिल जाता है। पोर्तुगीजों को आक्रमण की तारीख बताने में पं. नेहरू का उद्देश्य क्या था? शायद

इससे अलग हेतु की संभावना नहीं हो सकती कि पं. नेहरू स्वयं को एक सच्चा शांतिदूत जताना चाहते थे और कृष्ण मेनन को बुरे लोगों की तरह लड़ाई-झगड़ा करनेवाला जताना चाहते थे। अब पोर्तुगीज को तारीख सूचित करने का अर्थ क्या हो सकता है, इसका अंदाजा कोई भी सुबुद्ध लगा सकता है।

इस घटना से जुड़ी एक दुखद बात पं. नेहरू के साथ जुड़ जाती है और वह है— पोर्तुगीज उन्हें भला कहें, अब अगर भारत के पाच-पचास जवान नाहक बलि चढ़ जायें, तो उसका कोई मलाल पं. नेहरू को नहीं था।

इन सब बातों से नेहरूभक्तजन यही अटकलें लगाते रहेंगे कि कृष्ण मेनन यह बुरा व बातुनी किस्म का व्यक्ति था। परंतु इन अटकलों से यह ज्ञात होता है कि पं. नेहरू किससे कितनी दोस्ती की जाय, यह नहीं जानते थे। विदेशियों में केवल बर्टरंड रसेल पं. नेहरू की मुक्त प्रशंसा करते हैं। परंतु पं. नेहरू के पुस्तकों को मात्र पढ़कर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया था, उनके निकटवर्ती होने के नाते नहीं। पं. नेहरू सदैव ही चीन के कम्युनिस्ट शासन तथा मुसलमानों का पक्ष लेते रहे हैं। रसेल भी भारत की तुलना में चीन का और हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों का पक्ष अधिक न्याय्य मानते थे। क्योंकि उन्हें चीन और मुसलमानों में खासकर अरब के प्रति अधिक आदरभाव था। अतः ब. रसेल को लग रहा था कि इसी मत की पुष्टि करते हुए अपने ही बांधवों की भूल को खुलकर कहनेवाला पं. नेहरू एक न्यायबुद्धि की मूर्ति है। परंतु चीन के युद्ध के समय ब. रसेल को उनकी भूल का पता चल गया था। क्योंकि चीनी सेना पर डिक्लिजनल कल्प संख्या से आक्रमण प्रथम पं. नेहरू की सेना ने किया था। उन्होंने (रसेल ने) चीनी कम्युनिस्टों को समझदारी की बातें बताने के बजाय पं. नेहरू को ही अपने कृत्य की अनुचितता दर्शानेवाला पत्र लिख भेजा। क्योंकि बर्टरंड रसेल ब्रिटेन के लार्ड घराने से एक था और भारत तथा भारत के महात्मा गांधी के स्वतंत्रता आंदोलन के बारे में उनके मन में तुच्छता की भावना ही थी।

### पं. नेहरू का प्रथम दर्शन

महात्मा गांधी के विचार रसेल को विवेकवाद का संपूर्ण विरोध करते जान पड़ते थे और यह कोई भी मान सकता है अतः रसेल के मन में महात्मा गांधीजी के प्रति कोई आदरभाव नहीं था। वे जिस विश्वविद्यालय में पढ़ते थे, वहीं पं. नेहरू ने भी पढ़ाई की अतः स्वभावतः सहशिक्षित नेहरू भी गांधी व भारत के प्रति उनकी जैसी ही वृत्ति का लगा और उन्हें विवेकवादी माना और आकृष्ट भी हुए।

अल्बर्ट आइन्स्टाइन गांधीजी की ओर आकृष्ट हुए थे। क्योंकि वे भी भारतीयों की तरह आक्रमणकारियों के अत्याचारों के समक्ष बलि का बकरा बने ज्यू जमात में उत्पन्न हुआ था और उन्हें दलित जाति का दर्द महसूस होता था। पं. नेहरू की तुलना में इस दर्द-यातना के अधिक प्रभावपूर्ण प्रतिनिधि तो महात्मा गांधी थे।

पं. नेहरू से, जिन्हें व्यवहार करना पड़ा, उनमें रूस का सर्वेसर्वा स्टालिन,

अमरिका के राष्ट्रपति जॉन एफ केनेडी, चीन के नेता माओ-त्से-तुंग व चौ-एन-लाय, पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिना व भुट्टो का समावेश था। इनमें स्टालिन पं. नेहरू के पत्रों की प्राप्ति-सूचना भी नहीं देते थे। पं. नेहरू ने अपनी बात विजयालक्ष्मी को रूस में भारत की राजदूत के तौर पर भेजा था किंतु स्टालिन ने कभी उनसे मुलाकात भी नहीं की। केनेडी को पं. नेहरू भारत के प्रधानमंत्री न लगकर चीन के दूत लग रहे थे। माओ-त्से-तुंग पं. नेहरू को 'साम्राज्यवादी कुत्ता' के रूप में देखते थे। चौ-एन-लाय को पं. नेहरू उद्धत गुस्ताख लगे। बं. जिना इन्हें Peter Pan तथा Impetuous Pandit कहते थे। इनमें से इम्पेच्युअस पंडित का अर्थ गुस्ताख भड़कर (भट – ब्राह्मणों का कुत्सित उल्लेख) ही होता है। बेचारे पं. नेहरू! उन्होंने और उनके सारे परिवार ने हिंदुओं का लज्जास्पद खानदान छोड़कर अंग्रेज बनने का प्रयत्न किया। परंतु जिना को वे भटजी (पुरोहित) ही लगते थे।

पीटर पॅर नामक किसी इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति का नाम नहीं है। शब्दकोश में इसका अर्थ है— स्त्रियों के गले के इर्दगिर्द रहनेवाली गोल तथा पूर्णतः बंद कालर। इसकी सूचकता पं. नेहरू की पोशाख की ओर कदापि नहीं थी क्योंकि बं. जिना इस मामले में अधिक चुस्त थे, उनके भी गुरु थे। शायद इसमें पं. नेहरू के संकुचित विचारों से घिरे मन के वलय की ओर निर्देश हो। जब पं. नेहरू स्वयं के स्वार्थ पर बीतती थी तभी वे अपने विचारों को कुछ मोड़ देते थे। इस तरह के झुकाव या परिवर्तन का कारण चर्चा के बाद बात के जाँज जाना कतई नहीं होता था।

भुट्टो पाकिस्तान के दूसरे राष्ट्रपति थे। वे कहते थे कि पं. नेहरू से अधिक उनके बारे में मिथ्या बातें ही हैं।

तात्पर्य यह है कि जिनसे पं. नेहरू को व्यवहार करना होता था उन्हें वे महान् व्यक्ति कभी भी नहीं लगे। उन्हें वे सर्वसाधारण राजकर्ताओं से भी निम्न स्तर के जान पड़ते थे।

मेरा भी व्यक्तिगत अनुभव यही है कि वे संबंधित व्यक्ति पर अनुकूल प्रभाव करनेवाले व्यक्तित्व के नहीं थे। यही मेरा पं. नेहरू का प्रथम दर्शन था। उनका भाषण सुनने के लिए लाखों की तादाद में लोग इकट्ठा होते थे। हर कोई पं. नेहरू के गुणगान किये जा रहा था। एक ने कहा कि पं. नेहरू के कपड़े पेरिस से धुलकर आते हैं, दूसरा कहता वे शराब में नहाते हैं, तीसरा कहता उनकी त्वचा इतनी कोमल है कि खादी के मोटे-मोटे कपड़ों में उनकी त्वचा ही छील जाती है, उसे रेशमी वस्त्रों की ही आदत है। फिर भी गांधी के आंदोलन में सहभागी होने के कारण खादी के कपड़े पहन रहे थे।

### माउण्ट बॅटन तथा महारानी एलिजाबेथ

सभी यही सोच रहे थे कि पं. नेहरू वही सिद्धार्थ गौतम है, जो राजवैभव को ठोकर मार कर संसार के हित के लिए दारुण तपस्या के लिए चल पड़ा है। तीसरा व्यक्ति कहता है कि उनके पिता, मोतीलाल जब जेल में थे तब उत्तर प्रदेश के गवर्नर ने उनके

लिए खास अपनी स्कॉच व्हिस्की भेजी थी. क्योंकि मोतीलाल तो सीधे स्कॉटलैण्ड से ही अपनी स्कॉच मंगाते थे.

एक घंटा बीत गया, दो घंटे गुजर गये फिर भी पं. नेहरू के आने की खबर नहीं मिल रही थी. मैंने सोचा, वापस लौट जाऊँ. पर वापस जाने में भी बहुत समय व्यतीत होना था सो रूक ही गया और साथ ही बीच-बीच में घोषणाएँ दी जा रही थी कि पं. नेहरू अभी आ रहे हैं.

अंततः पं. नेहरू आ ही गए. उनके हस्ताक्षर पाने की इच्छा से एक विद्यार्थी मंच पर चढ़ आया, उसने अपना पेन पं. नेहरू को दिया. अब उस पेन से सियाही कागज पर उतर ही नहीं रही थी. तब पं. नेहरू ने तपाक से उस विद्यार्थी के गाल पर तमाचा जड़ दिया और उसकी पुस्तिका फेंक दी.

### पं. नेहरू व माऊण्ट बॅटन

उस विद्यार्थी ने अपनी पुस्तिका उठायी और मंच से उतर आया. उसके चेहरे पर क्रोध का भाव भी न था. सीताराम गोएल ने लिखा है कि पं. नेहरू उनको चरण छूनेवालों को भी वे जूते पहने पैरों से लताड़ते थे.

उपरोक्त दृश्य देखकर भला कितनों के मन में पं. नेहरू के लिए अनुकूल विचार जागे होंगे? अपने प्रति आदर व्यक्त करने के बावजूद भी उस अपरिचित व्यक्ति को थप्पड़ लगाने वाले नेता के बारे में क्या जनता में आदर भाव बढ़ा होगा? इस व्यवहार से क्या हम कह सकते हैं कि पं. नेहरू को सामाजिक व्यवहार की कुशलता अवग थी?

यह कहना कठिन है कि थप्पड़ और लातों से मारने पर कुछ लोगों के मन में पं. नेहरू के बारे में आदर भाव में बढ़ोत्तरी ही हुई होगी. क्योंकि गुरु ने चूस कर गन्ने की सीठी को चूसनेवालों की चर्चा संत महात्म्य में वर्णित है. प्रियतमा की लातों की मार खाने वाले श्रृंगार प्रिय पुरुषों के वर्णन काव्य में उपलब्ध है. परंतु ऐसी वृत्ति अपवाद स्वरूप या प्रणय के खास प्रसंगों में व्यक्त होती है. ऐसा क्या कदापि संभव नहीं कि भारतीय यूँ सोचे कि पं. नेहरू उन्हें तुच्छ मानते हैं अतः भारतीय जनता के मन में उनके प्रति आदर भाव था. यदि ऐसी ही स्थिति हो तो जनता के उत्कर्ष की आशा क्यों की जाय?

पं. नेहरू खुबसूरत थे तथा खादी के कपड़ों के इस्तेमाल में भी उनके साफसुथरे मन का भान/अवधान अचूक था. क्या जनमानस पर पड़नेवाले प्रभावों में एक कारण यह भी था? श्रद्धालु खासकर आध्यात्मिक श्रद्धा के लोग सभी प्रकार के गोबर-गणेश की वृत्ति के साथ ही पोशाख की अस्तव्यस्त व बेढंगेपन की प्रशंसा ही करते थे. कुछ अभिनेत्रियाँ व अभिनेताओं के संदर्भ में उनकी केशभूषा और देहगत सुंदरता ही आकर्षण का प्रमुख कारण होता है. परंतु राजवैभव ही पं. नेहरू के लिए आकर्षण का प्रमुख कारण होने के कारण उनके प्रतिष्ठित पोशाख को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ होगा.

पं. नेहरू का गौरवर्ण तथा सीधी नाक थी. यह उनकी सुंदरता का प्रमुख कारण

था. भारत में गौरवर्ण को कुछ अधिक ही महत्त्व प्राप्त है क्योंकि पिछले पांच-छह शतकों के इतिहास में भारत पर राज्य करनेवाले अधिकांश विजेता— तुर्क, पठान तथा अंग्रेज गौरवर्णी ही थे. इस गौरवर्ण को छोड़ दें तो पं. नेहरू की शरीररयष्टि में विशेष प्रभावपूर्ण कुछ भी नहीं था. माऊण्ट बॅटन उनकी तुलना में अधिक खुबसूरत थे. मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि यदि माऊण्ट बॅटन ब्रिटन वापस न लौटते और भारत की राजनीति के अखाड़े में उतर कर अपने नेतृत्व को दर्शा दिया होता तो यह पं. नेहरू के लिए भारी या सरजोर साबित हो सकता था. क्योंकि खुबसूरती के व्यतिरिक्त उनके व्यक्तित्व को पराक्रम की पार्श्वभूमि भी थी. और भारत को स्वराज्य दिलवा देने की घोषणा कर सकते थे. वे भी बता सकते थे कि 'पं. नेहरू ही उन्हें यह बिनति करने आये थे कि भारत का राज्य आप ही संभाले.' महारानी एलिजाबेथ, जब भारत आयी थी, तो उनके दर्शन के लिए पं. नेहरू के समय से अधिक भीड़ इकट्ठा हुई थी. ऐसी जनता ने माऊण्ट बॅटन को राजा के रूप में स्वीकार कर ही लिया होता और तब भारत में स्वराज्य की धधकती आग सदैव के लिए बुझ ही जाती.

ऊपर पहले ही कहा गया है कि एक प्रधानमंत्री के लिए आवश्यक बुद्धिमत्ता का अभाव पं. नेहरू में था. मनोवैज्ञानिक गिलफर्ड ने बुद्धिमत्ता के 120 भेद बताये हैं और संशोधन किया जाय तो यह संख्या बढ़ सकती है. ये सभी 120 भेद एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र हैं. एक किस्म की तीव्र बुद्धिमत्ता का व्यक्ति दूसरे प्रकार की बुद्धिमत्ता में औसत या निम्न हो सकता है. इसकी सच्चाई जानने के लिए 120 प्रकार की कसौटियाँ तय करके उन्हें इतना शुद्ध व अचूक बनाया जाय कि एक कसौटी दूसरी कसौटी से कोई मेल न खवे. उनका परस्पर संबंध शून्य ही साबित हो. अब तक ऐसी लगभग सत्तर कसौटियाँ बनाई जा चुकी हैं. शेष पचास को भी ऐसा ही युद्ध व अचूक बनाया जा सकता है. इससे यह पता चलता है कि सभी कसौटियों पर कोई भी व्यक्ति का सामान्य से श्रेष्ठ या कनिष्ठ निश्चित होने की संभावना 120 बार ऊपर फेंका गया सिक्के के उतनी ही बार चीत या उतनी ही बार पट गिरने के समान ही अति अल्प प्रतीत होती है.

### मनुष्यों की पहचान

अब हर तरह की बुद्धिमत्ता पर विचार किया जाय तो कोई भी शख्स किसी भी कसौटी पर श्रेष्ठतम साबित होने की तीव्र संभावना बनी रहती है. अतः बुद्धिमत्ता के बल पर किसी ना किसी मानव-व्यक्ति को दूसरे मानव-व्यक्ति की बुद्धिमत्ता से श्रेष्ठतम या कनिष्ठतम कहना भी, मोटे तौर पर गलत ही होगा.

उपरोक्त 120 कसौटियों में भाषा व साहित्य से संबंधित कसौटियों पर पं. नेहरू साधारण से अधिक उँची श्रेणी के कहलाये जा सकते थे. परंतु ऐसी कसौटियों की संख्या दस से अधिक नहीं है और यह तो निश्चित ही है कि शेष 110 कसौटियों पर वे औसत से भी कम साबित हुए होते. और प्रधानमंत्री के काम के लिए यहीं 110 कसौटियाँ महत्त्वपूर्ण



मानी गई हैं। अतः अनुमान यही किया जा सकता है कि प्रधानमंत्री पद के लिए बुद्धिमत्ता या दिमागी सोच की तौर पर पं. नेहरू योग्य नहीं थे।

राजनेता के जीवन का एक अत्यावश्यक पहलू यह है कि उसे इन्सानों की सही परख हो। जो व्यक्ति यह जान नहीं सकता कि कौन उसके लिए काम का व्यक्ति है और कौन दगाबाज है, ऐसा व्यक्ति राजा बन कर राज्य की जिम्मेदारी कैसे वहन कर सकेगा? पं. नेहरू में मनुष्यों को परखने की किंचित भी शक्ति नहीं थी। उनकी मर्जी के अधिकांश लोगों ने पं. नेहरू को ही उनकी आँखें नीची करने पर मजबूर किया था। शेख अब्दुल्ला पर पं. नेहरू इतने खुश थे कि शेख अब्दुल्ला की स्वीकृति बिना कश्मीर के विलीनीकरण को हामी भरने के लिए पं. नेहरू तैयार ही नहीं थे। अब शेख अब्दुल्ला की कश्मीर में सत्ता बनी रहने के लिए पं. नेहरू ने उन प्रदेशों को जहाँ शेख अब्दुल्ला का दबदबा नहीं था, उन्हें कश्मीर तो क्या भारत में भी शामिल करने का प्रयत्न नहीं किया। जब मेहेरचंद महाजन कश्मीर बचाने के लिए सेना भेजने की प्रार्थना पं. नेहरू से करते हैं, तो पं. नेहरू ने उन्हें फर्माया, 'चले जाओ, परंतु यही प्रार्थना जब शेख अब्दुल्ला करते हैं तो पं. नेहरू ने तुरंत हामी भर दी। शेख अब्दुल्ला के कहने पर ही पं. नेहरू कश्मीर के महाराजा को कश्मीर में रहने पर रोक लगाते हैं। इतना कुछ होते हुए भी शेख अब्दुल्ला पं. नेहरू को नगण्य ही मानते थे। उन्होंने कश्मीर को भारत से अलग होने के कपट-षडयंत्र रचे और फिर पं. नेहरू को उन्हें ही पकड़ने के अदेश देने पड़े।

पं. नेहरू के दूसरे कृपापात्र थे— एम.ओ. मथाई। उन्हें कोई भी संवैधानिक पद नहीं दिया गया था फिर भी वे सरकारी फाइलों पर टिप्पणियाँ लिखकर पं. नेहरू को परामर्श देते रहे और शेष सभी की सलाहों को नकार कर पं. नेहरू मथाई की सलाह को स्वीकृति देते रहे। जब उच्च पदस्थों ने विरोध जताया और कहा कि मथाई को फाइलों पर सलाह देने का कोई अधिकार नहीं है, तब पं. नेहरू ने मथाई को स्वतंत्र कागज पर सलाह लिखने के लिए कहा। परंतु अंततः उस व्यक्ति को हटाना ही पड़ा। कहा जाता है कि भ्रष्टाचार का कारण दिया गया था। परंतु एस. गोपाल का कहना है कि मथाई यह सी.आय.ए. का एजेंट था। जब मथाई को हटाया गया तो वह सब तरफ कहता फिर रहा था कि उनसे ही इंदिरा गांधी का गर्भ रहा था, पं. नेहरू को श्रद्धामाता से शिशु प्राप्त हुआ था और उसे उन्होंने किसी आश्रम में भेज दिया था। अपने ही हितकर्ता के उपकारों को इस तरह से चुकानेवाला व्यक्ति किस हद तक नीचे गिर सकता है और पं. नेहरू उसकी ओर आकृष्ट हुए थे। बात बहुत ही दुःसह है।

कृष्ण मेनन तीसरा व्यक्ति थे, जिन्हें पं. नेहरू बहुत ही चाहते थे। परंतु पं. नेहरू के अलावा कांग्रेस में उनके प्रति किसी का भी मत अच्छा नहीं था और जब पं. नेहरू से यह कहा गया कि उन्हें हटाइए अन्यथा आपको ही हटा देंगे। यूँ अंतिमोक्तम (Ultimatum) दिया गया, तब जाकर कहीं कृष्ण मेनन को हटाया गया। पं. नेहरू यह मानकर चल रहे

थे कि उनसे अधिक काल तक परदेस में रहने के कारण कृष्ण मेनन अंतरराष्ट्रीय राजनीति अच्छी तरह जानते हैं। इसके अलावा कृष्ण मेनन इंग्लैण्ड में एक बुद्धिमान/काबिल विद्यार्थी के रूप में जाने गये थे। पं. नेहरू की बात ऐसी न थी। अतः उन पर कृष्ण मेनन का रोब था। यह सोचना गलत है कि मेनन ने पं. नेहरू से कई बातें छिपायीं, अन्यथा वे उचित परराष्ट्रीय नीति का अवलंबन करते। क्योंकि पं. नेहरू को कईयों ने कई बार उचितय सलाह दी है। इतना होने के बावजूद भी उन्हें कृष्ण मेनन के ही विचार जँचते थे क्योंकि उनके अपने विचार भी मेनन जैसे ही थे। चौथे पं. नेहरू के पसंदीदा व्यक्ति थे तेजा। उन्होंने एक जहाज कंपनी शुरू की थी और उसके लिए उन्हें पं. नेहरू ने नब्बे लाख रूपये दिये थे। आगे चलकर आर्थिक अपराधों के आरोप पर तीन वर्ष के लिए उन्हें कैद की सजा सुनाई गयी थी।

### प्रधानमंत्री पं. नेहरू के शिल्पकार : माऊण्ट बॅटन

ऊपर निर्दिष्ट व्यक्तियों के नाम समाचार-पत्रों में खल-पुरुष के रूप में ख्याति पा चुके थी। परंतु ऐसे कई खल-पुरुष थे जिनके नाम समाचार-पत्रों में झलके भी नहीं थे परंतु वे अयोग्य सलाह देने का काम करते ही रहे। इस उदाहरण से एक परिचित उक्ति का स्मरण हो आता है— Man is known by the company he keeps. उपरोक्त चार व्यक्तियों पर बाहर से दबाव आने के कारण पं. नेहरू ने उनके संदर्भ में कड़े कदम उठाए। यह कहा नहीं जा सकता कि उन्हें इन व्यक्तियों के गुण-दोष ज्ञात ही नहीं होंगे। शेख अब्दुल्ला का मत था कि कश्मीर भारत से अलग हो जाय और ऐसा उन्होंने पं. नेहरू से कई बार साफ साफ कहा था। कृष्ण मेनन ने तो ऐसा कुछ भी नहीं किया था जिससे पं. नेहरू के साथ सभी राजनीति के नेता परिचित न हो। समाचार-पत्र यह सूचित करते हैं कि तेजा पर पं. नेहरू के अनुग्रह का कारण श्रीमति तेजा की सुंदरता था।

यूँ कह नहीं सकते कि पं. नेहरू की मर्जी में शामिल लोगों का उनपर प्रभाव था। पं. नेहरू ने यह सोचकर उन्हें अपने निकटवर्ती बनाया कि वे पं. नेहरू के लिए उपयोगी साबित होंगे। पं. नेहरू किन लोगों से प्रभावित थे? इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम नाम आता है, महात्मा गांधी का। परंतु यह प्रभाव केवल कांग्रेस के आंदोलन में शामिल होने और आंदोलन की सक्रियता के काल में गांधीजी के कथन से परे न जाने तक ही सीमित था। परंतु पं. नेहरू की सोच पर गांधीजी के विचारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था।

राजनीति के नेता के रूप में पं. नेहरू के निर्माते महात्मा गांधीजी ही थे। परंतु उनके प्रधानमंत्री के काम में माऊण्ट बॅटन दंपति का सहयोग सौ फीसदी था। पं. नेहरू की विदेश नीति पर केवल माऊण्ट बॅटन की छाप न थी। पं. नेहरू को शेष सारा प्रधानमंत्रीत्व माऊण्ट बॅटन निर्मित था। पं. नेहरू कहते थे कि मैं भारत पर राज्य करने वाला अंतिम अंग्रेज हूँ, हाँ, उनके प्रधानमंत्रीत्व के लिए पूरी तरह लागू होता है। पं. नेहरू की लेडी माऊण्ट बॅटन से दोस्ती को समाचार-पत्रों ने अधिक चर्चित बना दिया था। परंतु पं. नेहरू लेडी माऊण्ट

से अधिक मिस्टर माऊण्ट बॅटन से प्रभावित थे। माऊण्ट बॅटन के भारत छोड़कर जाने के बाद भी लेडी माऊण्ट बॅटन तीन मूर्ति में रहने आतीं रहीं। इसे देखकर विंस्टन चर्चिल ने उनसे कहा भी था कि “आपकी इन मुलाकातों का ब्रिटिश साम्राज्य पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ रहा है।” यहाँ ‘साम्राज्य पर प्रभाव’ का अर्थ है साम्राज्य की प्रतिष्ठा पर प्रभाव। राज-परिवार के किसी महिला का परदेसी शासक के घर में, अपना पति साथ न होते हुए भी, अतिथि बनकर रहना उन्हें शोभा नहीं देता। परंतु प्रधानमंत्री अटली के कथन से यह पता चलता है कि पं. नेहरू से लेडी माऊण्ट बॅटन की दोस्ती केवल निजी या व्यक्तिगत नहीं थी, उसे राजनीति का भी आयाम था। मराठी मासिक पत्रिका ‘साधना’ में माऊण्ट बॅटन पर लिखी गयी किताब की समीक्षा प्रकाशित हुई थी, जिसका शीर्षक था ‘मुलखावेगळा व्हाइसराय’। इसमें उपरोक्त संदर्भों में अटली का कथन लिखा गया है कि “लेडी माऊण्ट बॅटन भारतीय नेताओं को प्रभावित कर सकती हैं।” लेडी माऊण्ट बॅटन ने भारत छोड़ देने के बाद भी पं. नेहरू से उनका संपर्क बना रहा। इस कारण माऊण्ट बॅटन का प्रभाव अपने प्रधानमंत्री होने के काल में भी पं. नेहरू पर बना रहा। अधिकांश भारतीयों को पं. नेहरू व लेडी माऊण्ट बॅटन की दोस्ती एक प्रेम-प्रकरण ही लगता रहा। परंतु ऐसे संबंधों में पाश्चात्य देशों में जिस सीमा तक पर-पुरुष से मित्रता अनाक्षेपार्ह मानी जाती है, उस लक्ष्मण-रेखा को वे लांघ चुके थे या नहीं कहने के लिए कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यदि ऐसा अनुमान लगाया जाय कि लेडी माऊण्ट बॅटन पं. नेहरू से प्रेम नहीं करती थी, उनसे खिलवाड़ कर रही थी और इसमें भी कोई राजनीति थी तो उपरोक्त कथन का खंडन करना मुश्किल हो जाता है। यदि लेडी माऊण्ट बॅटन का वास्तव में प्रेम होता तो मीरा बेन की तरह खुले आम पति को छोड़कर गांधी के आश्रम में आकर रह सकती थीं। मीरा बेन भी तो लेडी माऊण्ट बॅटन की तरह ही एक नौसेनापति की ही पत्नी थीं। प्रतिष्ठित अंग्रेजों के समाज में विवाहबाह्य पूर्व संबंधों के अधिकतम आँकड़े उपलब्ध हैं, ऐसे संबंध छिपकर रखे जाते हैं। खुले आम संबंध बने रहने पर भी दस वर्षों में तलाक की नौबत आयी ही नहीं ऐसे उदाहरण मिलेंगे, यह कहना मुश्किल है।

### नेहरू नीति के दो स्फूर्ति-स्थल

स्वराज्य प्राप्त होते ही लगभग तुरंत ही महात्मा गांधी की मृत्यु हुई थी। शेष किसी को भी पं. नेहरू अपना नेता नहीं मानते थे। यदि गांधीजी जीवित रहते तो वे सुभाषचंद्र बोस पर जैसे बरस पड़े थे वैसे ही पं. नेहरू पर भी बरसते और शायद तभी माऊण्ट बॅटन के प्रभाव से वे मुक्त हो पाते। क्योंकि भारतीय राजनीति में पं. नेहरू का स्थान महात्मा गांधी पर निर्भर था, माऊण्ट बॅटन पर नहीं। परंतु महात्मा गांधी का विरोध करते हुए अपना पद बनाये रखने का अवसर पं. नेहरू के हाथ कभी लगा ही नहीं। प्रधानमंत्रीत्व का लगभग संपूर्ण काल पं. नेहरू माऊण्ट बॅटन के अधीनस्थ ही रहे। कहते हैं कि वे माऊण्ट बॅटन के पैरों तले यह कहकर बैठे रहे कि “मुझे भारत का राज्य नहीं संभलता, आप ही मुझे बचाइये।”

माऊण्ट बॅटन के भारत में न रहते हुए भी पं. नेहरू को इस दंपति से संबंध बने हुए थे। यह कहने में कोई झिझक नहीं है कि पं. नेहरू के माध्यम से वे ही राज्य चला रहे थे।

पं. नेहरू स्वयं को ‘आखरी अंग्रेज’ समझने लगे थे, जब से माऊण्ट बॅटन दंपति ने उन्हें अपनों में से एक मान लिया था तब से पं. नेहरू की आंतरिक नीति अंतिम अंग्रेज जैसी ही था।

१. ऐसी व्यवस्था करना जिससे देशी भाषाओं का उच्चाटन करके सभी प्रदेशों में अंग्रेजी का उपयोग किया जायेगा।
२. भारत का हिंदु स्वरूप नष्ट करने के लिए मिशनरियों को प्रोत्साहन देना, हिंदुओं के रीति-रिवाजों को ईसाई कानून को आधार पर नियंत्रित करना।
३. भारत में बिखरी जाति व धर्म पर आधारित लघु/छोटी-छोटी (फुटीर?) शक्तियों को भड़का कर ब्रिटिश राज्य, अंग्रेजी भाषा व रीति-रिवाजों को ही भारत की एकता का एकमात्र सूत्र मानकर उसे संवर्धित करना।
४. उपरोक्त वृत्ति के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करना, इसके लिए इतिहास, भूगोल, आदि संबंधी ग्रंथों का पुनर्लेखन करवाना।

इतने सारे कार्यक्रम पं. नेहरू बड़े जोश-खरोश के साथ अमल में ला रहे थे।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि पं. नेहरू को इन कार्यक्रमों का ब्लू-प्रींट माऊण्ट बॅटन ने ही दिया था और पं. नेहरू केवल उसे लागू करते जा रहे थे। उपरोक्त सारे कार्यक्रम पर अमल करने योग्य मनोवृत्ति को पं. नेहरू में बॅटन दंपति ने पनपायी थी। और ऐसी मनोवृत्ति के दृढ़ता से जागृत होते ही एक लोकप्रिय प्रधानमंत्री को कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने में भला क्या मुश्किल आ सकती थी?

इस कार्यक्रम की शुरुआत पं. नेहरू ने संविधान सभा द्वारा निश्चित किया गया पूर्ण स्वतंत्रता का प्रथम प्रस्ताव को रद्द करके की। इस प्रस्ताव के अनुसार भारत ब्रिटिश साम्राज्य में ही रहेगा यह निश्चित हुआ। पं. नेहरू के माऊण्ट बॅटन से मिलकर आने के तुरंत बाद ही यह प्रस्ताव रखा। माऊण्ट बॅटन ही थे जो कश्मीर के महाराज को पाकिस्तान जाने के लिए बार-बार उकसा रहे थे। परंतु माऊण्ट बॅटन उन्हें अपने वश में न कर सके। तब कश्मीर में हुए पाकिस्तान घुसपैठियों को भगाने के लिए सहायता स्वरूप, जो सेना भेजनी थी, उसे भेजने में गवर्नर जनरल के नाते माऊण्ट बॅटन अधिकतम टालमटोल करते रहे। कश्मीर के चित्रल, उल्हा ने महाराज की सत्ता को अस्वीकार कर दिया था और स्वतंत्र हो रहे थे। तब यह सर्वत्र समझा जा रहा था कि यह कार्य जिन अंग्रेज सेनाधिकारियों द्वारा किया जा रहा था, उन्हें माऊण्ट बॅटन से बढ़ावा मिल रहा था। परंतु इन बातों को लिखित रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। पाकिस्तान व भारत बन जाने के बाद भी, कुछ असें के लिए माऊण्ट बॅटन ही इन दोनों देशों की सेनाओं के प्रमुख थे और उनके बढ़ावे के बिना यह सब हो पाना, असंभव ही था। कश्मीर में लड़नेवाले सेनाधिकारियों ने कहा है कि

भारतीय सेना के कश्मीर में जाने पर उन पर सारा कश्मीर न लेने पर दबाव डाला जाता था. (मोरे कृत पुस्तक) यह दबाव भी माऊण्ट बॅटन से ही प्रेरित था. आगे चलकर माऊण्ट बॅटन ने ही कश्मीर के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाने की जिद की थी. जब तक माऊण्ट बॅटन भारत में रहे, उन्होंने हैदराबाद में कोई कार्यवाही होने नहीं दी थी.

पं. नेहरू की विदेशी नीति कम्युनिज्म प्रेरित ही थी. अंतरराष्ट्रीय घटनाओं में जहाँ तक संभव हो, रूस का पक्ष लेना है, यह नीति का सूत्र था. इसे बदलकर माऊण्ट बॅटन ने उसे ब्रिटिश नीति के अनुरूप बनाने का कोई प्रयत्न किया था, ऐसा नजर नहीं आता. और ऐसा कुछ करने में उन्हें रूचि भी नहीं थी. रूस के खिलाफ चल रही दौड़ में अमरिका ने भारत से सहायता की मांग की थी.

### मेरी मुर्गी की एक ही टांग

ब्रिटन उपरोक्त संदर्भ में भारत को अपनी ओर मोड़ने के लिए कोई प्रयत्न नहीं कर रहा था. माऊण्ट बॅटन की आस्था ब्रिटिश नीति में थी. वे जानते थे कि अमरिका अपने हितों की रक्षा करना जानता है. खुद पाकिस्तान ही जब अमरिका की छावनी में प्रवेश कर चुका था, तो रूस की सरहद को मात करने के लिए भारत को सहायता देने की जरूरत ही नहीं थी.

विदेश नीति के संदर्भ में खुद को खुलकर कम्युनिस्ट कहनेवाले देश और पं. नेहरू का भारत इनमें 'धूप से रेत ही अधिक तप्त होती है' के न्यायानुसार भारत ही अधिक रूसपरस्त था. संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत ने रूस को साथ दी थी. तिब्बत पर एक कम्युनिस्ट देश अपना हक जता रहा है. शायद इसीलिए पं. नेहरू ने इसे सहज स्वीकार कर लिया. परंतु यही हक, यदि जपान द्वारा जताया गया होता तो साफ है कि पं. नेहरू की भूमिका प्रखर विरोधक जैसी रही होती. जब पाकिस्तान रूस के विरोधी गुट में शामिल हुआ, तब पं. नेहरू ऐसी नीति पर अमल करने लगे जिससे पाकिस्तान को कश्मीर नहीं दिया जा सके. खुलकर कोई भी कम्युनिस्ट देश इतना रूसपरस्त होने का दावा नहीं कर सकता था. स्वयं चीन ने रूस से सीमा-विवाद को गड़े मुर्दों की तरह उखाड़ा था. युगोस्लाविया का मार्शल टिटो स्टालिन की पकड़ में नहीं आ रहा था. अंततः स्टालिन ने टिटो को धमकी ही दी कि "ट्राटस्की का जो क्या हुआ, उसे ध्यान में रखकर मुझसे व्यवहार करें." परंतु टिटो ने इस धमकी की हवा ही निकाल दी.

स्पष्ट है कि हिंदू कम्युनिस्ट तथा शेष कम्युनिस्टों में भेद है. चीनी व युगोस्लाविया के कम्युनिस्टों ने अपने-अपने राष्ट्र को कम्युनिज्म के पैरों पर समर्पित नहीं किया था. मुसलमान कम्युनिस्ट भी अपना इस्लामी राष्ट्रवाद छोड़ने को राजी नहीं थे. परंतु हिंदू कम्युनिस्टों में कम्युनिज्म के तत्त्व और कम्युनिस्ट राष्ट्रों पर प्रेम की तुलना में हिंदू, हिंदुओं का इतिहास और उनके हित के प्रति ड़ाह का भाव ही अधिक प्रखर था.

पं. नेहरू के व्यक्तित्व का एक और प्रमुख दोष यह था कि उन्होंने मन में कई

भ्रमों को पाल रखा था. गलत धारणाएँ अक्सर अधिकांश लोगों में होती ही हैं. उनमें कई धारणाएँ गलत होने पर भी दूसरों को हानि पहुँचानेवाली नहीं होती. उदाहरण के लिए, एक पति अपनी पत्नी को अप्सरा समझकर जी रहा हो, तो उससे दूसरों का कोई नुकसान नहीं होगा. इसके अलावा लोग अपने अनुभव से गलत धारणाओं में परिवर्तन भी तो कर लेते हैं. कुछ पुरुष ऐसे भ्रम में होते हैं कि वे स्त्रियों का दिल जीत सकते हैं. परंतु थोड़े ही दिनों के अनुभव से वे यह जान लेते हैं कि वह लड़कियाँ सभी आदमियों की ओर उसी तरह देखती हैं और उसका यूँ हँसकर देखना, उसकी पसंद का दर्शक या सूचक नहीं था. परंतु कुछ ही पुरुषों का भ्रम दूर होता है. परंतु कुछ ऐसे भी होते हैं कि उन्हें अपनी अद्भूत देहशक्ति पर इतना भरोसा होता है कि दो-चार पुरुषों से हस्तांदोलन करते समय उनकी हथेली में इनका हाथ रौंदा या कुचला जाने पर भी अपने शक्तिमान होने की धारणा रखते हैं. परंतु पं. नेहरू की धारणाएँ/विश्वास बड़े सख्त थे. सच्चाई जान लेने के बाद भी, वे जल्द ही अपनी धारणाओं को मिटा नहीं सकते थे. उनमें सबसे बड़ी धारणा यह थी कि वे सारे भारतीय नेताओं से ही नहीं, विश्व के कुल नेताओं से अधिक बुद्धिमान हैं. दूसरों की बुद्धिमत्ता का मजाक उड़ाने की उनकी आदत थी. वास्तविक स्थिति यह थी कि उनके समकालीनों में बुद्धिमत्ता के संदर्भ में उनका क्रम बहुत आखरी ही रहा होता. हम ऐसे नहीं कह सकते कि महात्मा गांधी का पाठशाला का जीवन पं. नेहरू के पाठशालेय जीवन से निकृष्ट था. अपनी पुस्तकों का प्रकाशन विदेशी प्रकाशकों द्वारा करने की जिद महात्मा गांधी में कभी नहीं रही. अतः उनकी किताबें विदेशों में अधिक बेची नहीं गईं. परंतु उनका प्रसार विदेशों में काफी था. फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिक ने अधिकांश गांधी-साहित्य पढ़ा था. लुई फिशर जैसे अनेक विश्व स्तर के पत्रकार उनके आत्माविष्कार का उत्कृष्ट उदाहरण हैं. उनकी महर्षि रवीन्द्रनाथ टागोर को लिखे पत्रों की गणना उत्कृष्ट पत्र-साहित्य में से एक हैं. नटेशन द्वारा प्रकाशित की गये उनके व्याख्यान और लख पढ़कर यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि ऐसी रचना किसी सिद्धहस्त साहित्यकार द्वारा ही लिखी जा सकती है. ऐसी स्थिति में भी महात्मा गांधी स्वयं को अपने समकालीनों से अधिक बुद्धिमान कदापि नहीं समझते थे.

### यह स्किडोफ्रेनिया नहीं था

एक बार श्रीनिवास शास्त्री ने महात्मा गांधी के अंग्रेजी में गलतियाँ दिखा दी थीं. किंतु इसे उन्होंने अपना अपमान नहीं समझा था. परंतु संसद में किसी सदस्य द्वारा पं.नेहरू के अंग्रेजी में खामियाँ दर्शायी जाने पर पं. नेहरू उनपर ऐसे बिगड़ उठते थे कि मानो वे कहना चाहते हों कि 'तुम क्या मेरी अंग्रेजी में गलतियाँ निकालोगे? मेरा जीवन ही अंग्रेजी में गुजरा है.' एक बार सरोजिनी नायडू ने कहा था कि कम्युनलिज्म का अर्थ किसी छोटे से लोकसमूह के प्रति अभिमान का भाव रखकर राष्ट्र के शेष लोकसमूहों से ड़ाह करना नहीं होता. ऐसा कई बार समाचार-पत्रों में लिखकर आया था कि सेक्युलरिज्म का मूल अर्थ परलोक की संकल्पना को न मानना होता है. कहना यह है कि पं. नेहरू की अंग्रेजी चाहे

जितनी अच्छी क्यों न हो, शब्दों के अर्थों की अचूकता की दृष्टि से उसमें दोष ढूँढ़े जा सकते हैं।

पं. नेहरू की दूसरी धारणा या भ्रम यह था कि वे सारी दुनिया के नेता हैं। महात्मा गांधीजी को स्वयं की गणना विश्व-नेता के रूप में करने के सशक्त कारण उपलब्ध थे। आईन्स्टाइन जैसे अग्रगण्य वैज्ञानिक ने अपने कमरे में उनकी तस्वीर लगा रखी थी। परंतु पं. नेहरू की तस्वीर किसी विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति के कमरे में रखे जाने की बात मैंने न सुनी, न पढ़ी। गांधीजी ने कभी यह नहीं जताया कि वे विश्व में राजनीति का खेला कर रहे और न विश्व के नेता होने का दावा ही किया। लोगों के उनके भक्त बनने का अर्थ उन्होंने कभी ऐसा नहीं लगाया कि उनमें कोई अध्यात्मिक शक्ति है और उसके सपक्ष ब्रिटिश सत्ता झुक जायेगी। श्री मा.गो.वैद्य जैसे संघ के स्वयंसेवक को भी यह लगता था कि यदि गांधीजी प्रायोपवेशन करते, तो भारत का विभाजन टल जाता। परंतु गांधीजी ऐसे अंधे विश्वास में कभी नहीं डूबे थे। १९४२ में उन्होंने जो अनशन किया था उसे समझ-बूझकर ही एक-दो दिन का रखा था। वे जानते थे कि आमरण अनशन घोषित किया होता, तो ब्रिटिश सरकार उन्हें मर जाने देती। पूना करार के समय किया गया आमरण अनशन भी आंबेडकर पर दबाव डालने के लिए था, अंग्रेजों को प्रभावित करने के लिए नहीं। क्योंकि उन्हें विश्वास था कि आंबेडकर गांधीजी की जान को मूल्यवान ही समझते थे और गांधीजी की धारणा सत्य साबित भी हुई। गांधीजी को सारी दुनिया, एक श्रेष्ठतम व्यक्ति के रूप में मानती थी। परंतु उन्होंने खुद का यूँ यथार्थ वर्णन कभी नहीं किया कि “दुनिया भले ही मुझे महात्मा समझे, पर मैं मूलतः बनिया हूँ।

पं. नेहरू का स्वयं के ज्ञानी होने के संदर्भ में भी गहरा भ्रम था। उन्हें लगता था कि वे युद्ध शास्त्र समझ सकते हैं। इसका एकमेव कारण उन्होंने इतिहास को पढ़ा था ऐसा मानते थे। उन्हें अर्थशास्त्र भी समझता था अतः दूसरों के मत को दुत्कार कर, सोने से अधिक महंगा लोहा निर्माण करनेवाली लोहनिर्माणी और अनुज्ञा व अनुज्ञातिपत्र का शासन (परमिट अॅण्ड लायसेन्सेज राज) प्रारंभ कर दिया। हिंदी को सरल व समृद्ध बनाने के संदर्भ में पं. नेहरू भारतीय भाषाएँ व उनके भाषाशास्त्र के ज्ञाता होने का दिखावा करते रहे, लोगों को पाठ देते रहे कि हिंदी कैसी लिखी जाय, अंग्रेजी परिभाषाएँ अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से मान्य होने के कारण उनका उपयोग करना कितना जरूरी है आदि, आदि। एक बार डॉ. रघुवीर से उन्होंने कहा कि ‘देखिए, मैं किस तरह से देहात के लोगों की भाषा बोलता हूँ, आपकी तरह क्लिष्ट व संस्कृतमय भाषा नहीं बोलता।’ इस पर रघुवीर यादव ने उन्हें खरी-खरी सुना ही दी। उन्होंने कहा कि “आप मेरे साथ देहात में चलिए। और मैं सुनना चाहता हूँ कि आप जैसी हिंदी भाषा किस देहात में बोली जाती है। उत्तर भारत के देहातों में भी लोग अक्सर ‘मैं जाता हूँ’ नहीं कहते। वे ‘जात हूँ’, ‘जात रहूँ’ कहते हैं।” इस जैसे बीस बाईस अन्य रूप डॉ. रघुवीर ने उन्हें सुना दिये थे। इतने ज्ञानसंपन्न मनुष्य का साहचर्य पाकर भी

पं. नेहरू अपनी गलतियों को सुधारने को तैयार नहीं थे। सारी दुनिया के वैज्ञानिक परिभाषाओं का अभ्यास जिन्होंने किया था और सोलह भाषाओं का ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति, जब भाषा संबंधी कुछ कहता है तो उसे मूर्खताभरी बातें समझने की अपनी जिद को पं. नेहरू ने कभी नहीं छोड़ा।

भारत में केवल उन्हें ही विश्व की राजनीति अवगत है और शेष सभी ‘गोबर संस्कृति’ से है। यह भ्रम वे जब कांग्रेस के दुय्यम स्तर के नेता थे, तब से उन्होंने पाल रखा था। उन्होंने कुछ बातें ऐसे ठाट से लिखी हैं जैसे कि कोई उस्ताद किसी नौसैखिए की पीठ थपथपा रहे हों। उन्होंने लिखा है कि “1857 के नेतागण राष्ट्रवाद तथा स्वतंत्रता युद्ध आदि बातों को नहीं जानते थे। परंतु उस काल विशेष की सोचे, तो उनकी योग्यता बहुत कुछ ठीक ही थी।”

पं. नेहरू की भ्रमशील वृत्ति को देखकर मैं उन्हें स्किझोफ्रनिया का रोगी समझने लगा था। परंतु जब वे चीन युद्ध के समय भ्रम से घिरे थे, उन्होंने यह कबूल फर्माया तब यह निश्चित हुआ कि यह स्किझोफ्रनिया नहीं है।

### नैतिक अधःपतन

स्किझोफ्रनिया से मुक्ति सत्य का बोध होने पर कभी भी नहीं होती। उसके लिए आवश्यक है— खुद का मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक आत्मनिरीक्षण तथा दूसरों का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए उन्हें समझ लेने की वृत्ति। पं. नेहरू में दोनों ही गुणों का सर्वथा अभाव था। क्योंकि अनायास प्राप्त सफलता ने वास्तविकता से उनका संबंध ही टूट चुका था।

पं. नेहरू यह मानकर चल रहे थे कि वे एक महान विभूति हैं। अतः सामान्य आम जनता को लागू होने वाले नियम-निर्बंधन उन पर लागू ही नहीं हो सकते। जब आदमी ऐसा कुछ सोचने लगता है तो सभी तरह की नीतिमत्ता के जलकर खाक होने में कितनी देर लगेगी? उन्होंने विवाह की पवित्रता का जतन नहीं किया, उसी तरह संविधान की रक्षा करने की प्रतिज्ञा की पवित्रता का पालन नहीं किया। उन्हें भ्रष्टाचार से चिढ़ नहीं थी। वे उनके प्रिय भ्रष्टाचारी अनुयायियों का पक्ष लेकर कहते थे कि ‘जनता द्वारा निर्वाचित नेता की नीयत पर शक करना उचित नहीं होता।’ इस तरह की मनोवृत्ति उस पुरुष की तरह होती है जो यह सोचता है कि किसी स्त्री ने स्वयंवर में उसे माला पहना दी थी अतः उसे उस स्त्री का उपभोग करने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

पं. नेहरू उन जवानों के प्रति जिनकी जान सदैव जोखिम में दबी होती है, बहुत ही बेफिक्र या लापरवाह थे। उन्हें कभी इस बात का खेद नहीं हुआ कि जवानों को निकृष्ट श्रेणी के हथियार देकर रणभूमि पर युद्ध के लिए भेज दिया जाता था। इसका अर्थ था— उन्हें मौत की खाई में धकेल देना। परंतु पं. नेहरू ने ऐसा कभी नहीं माना। संसद में पं. कुंजरू ने यह कहा था कि जवानों को निकृष्ट श्रेणी के हथियारों के साथ रण पर भेजना



आपत्तिजनक है। पं. नेहरू यह बात जानते थे कि हमारे हथियार चीन व पाकिस्तान के हथियारों की तुलना में निकृष्ट है। पर उनका उत्तर यही था कि युद्ध तो होना ही नहीं है, अतः ऐसी स्थिति का हौआ करने की जरूरत नहीं है। उन्होंने यह सलाह नहीं मानी कि 'चीन के खिलाफ कोई कदम उठाने की शक्ति इसमें नहीं है। कम से कम छह महिनों की अवधि में तैयारी की जा सकेगी। अब इस क्षण आक्रमण करने से जवानों का कत्ल ही होगा।' और हुआ यूँ कि बीस हजार जवानों का कत्ल करवाया। इस संदर्भ में उनके मन में किसी तरह का मलाल या पश्चाताप का भाव नहीं था। यूँ तो चीन पर आक्रमण छह महिने रुककर, तैयारी करने, शस्त्रों का जुगाड़ करके सहज किया जा सकता था। परंतु पं. नेहरू ने ऐसी भूमिका ली कि उन्होंने सेना को बताया कि मैंने संसद में चीनियों को खदेड़ देने का वचन दिया है। अतः चीन के खिलाफ कार्यवाही में विलम्ब नहीं किया जा सकता। हमेशा का कारण देते रहे कि लड़ाई का मौका उद्भूत नहीं होगा अतः जवानों की सुरक्षा के बारे में अधिक सोचा नहीं था, उपरोक्त प्रसंग में लागू भी नहीं हो रहा था। इस समय जवानों के प्राणों का मोल पं. नेहरू की प्रतिष्ठा बचाने रखने में है, यह बात उन्होंने कहकर अपनी अव्यावहारिक सोच की पराकाष्ठा हासिल कर ली थी।

इस अवसर पर एक और बड़ी-सी भूल या बेवकूफी का प्रमाण पं. नेहरू ने दिया था। वे यह सोच रहे थे कि अक्षौहिणी कल्प/टुकड़ी (division seal) की सेना द्वारा चीन पर आक्रमण किया जायेगा तो चीन हमें सीधा करने के लिए जिद से प्रतिकार नहीं करेगा।

इन मौकों पर भी पं. नेहरू के स्तुति सुमनों का गायन चल ही रहा था। उनके भक्त कहते जा रहे थे कि नेहरू ने त्याग किया, उनकी पत्नीनिष्ठा राम की तरह जाज्वल्यमान थी, युवावस्था में ही पत्नी का देहांत हो जाने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। खानदानी रईस होकर भी खादी के मोटे-मोटे कपड़े पहनते थे, आदि, आदि।

वास्तव में त्याग की बात पर सोचें, तो यह कार्य उनके पिता मोतीलाल ने किया था। उन्होंने लाखों कमाईवाली वकालत कुछ समय के लिए छोड़ दी थी, अपना प्रासाद कांग्रेस को दान कर दिया था। पं. नेहरू के पास था ही क्या? जो वे दान करते, उनकी अपनी आमदनी नहीं थी, उद्योगपति बिर्ला उनके हर जन्मदिन पर उनकी उम्र के आंकड़ों के बराबर उतने हजार रूपये देते थे। यह खबर समाचार-पत्रों में भी छपकर आयी थी। दूसरे महायुद्ध से पूर्व हर साल बीस हजार से अधिक आमदनी मिलने के मायने अमीर होना था। पं. नेहरू कहते थे कि उनका व्यय लेखन-कार्य से उपलब्ध होता है। परंतु यह सब लगभग 1940 के बाद जब यह स्पष्ट हो गया कि उनके लेखन से उपलब्ध आमदनी रूस की नीति को प्राप्त पं. नेहरू का सहकार्य के परस्पर संबंधों पर टिकी हुई थी।

### लेडी माऊण्ट बॅटन

एम.ओ. मथाई ने साफ साफ लिखा है कि पं. नेहरू को उनके साहित्य से प्राप्त धनराशि रूस द्वारा उपलब्ध होती थी। इससे पहले बिर्ला से प्राप्त नजराना उनकी उपजीविका

थी। पं. नेहरू को कैद भी हुई थी परंतु वहाँ का उनका जीवन कष्टप्रद नहीं था। लेखन, पठन, मनोरंजन, आराम व भोजन सब कुछ भलीभाँति उपलब्ध था। उनकी देह के वजन में बढ़ोत्तरी हो रही थी।

पं. नेहरू के स्त्री संबंधी एकनिष्ठता पर क्या कहें? उसके बारे में खुशवंत सिंह तथा मथाई ने साफ-साफ लिख ही दिया है। पं. नेहरू के विवाहबाह्य संताने भी थीं। कुलदीप नायर ने तीन मूर्ति में आयोजित मीना बाजार का वर्णन किया है। Murduer नाम से एक खेल होता था। इसमें प्रथम स्त्री-पुरुषों का मिश्र समूह रहता था। बिजली के गुल होते ही आलिंगनबद्ध स्त्री-पुरुषों के युगल को बाहर निकाला जाता था। क्रम से एकत्र एक संख्या कम होती जाती थी और उस कमरे में शेष रह जाते थे केवल एक पुरुष— पं. नेहरू।

ये सारी बातें सरकार स्थापन होने से पहले कभी भी जनता के समक्ष नहीं आयी थीं। इससे साफ जाहीर होता है कि नेहरू परिवार का समाचार-पत्रों पर कितनी जबरदस्त गिरफ्त थी।

पं. नेहरू की धन विषयक नैतिकता का रहस्य भी मथाई ने खोला है। लेखन की आड़ में रूस से पैसा मिलता था। किसी भी लिखित साहित्य के लिए किसी अंग्रेजी देश से धन प्राप्त न होता और जहाँ लाखों की तादाद में अंग्रेजी के पाठकों का न होना है और लेखन यह लेखक के विक्रय की संपत्ति है आदि तत्त्व ही जहाँ के कानून को मान्य नहीं है, ऐसे देश से पं. नेहरू को 10-20 वर्ष पूर्व लिखे व प्रकाशित किये गये पुस्तकों पर लाखों रूपये की राशि प्राप्त होती है। इस बात पर केवल नेहरू भक्त ही यकीन कर सकते हैं। रूस के पक्ष की नीति के खेलने के लिए पं. नेहरू रूस से धन लेते थे। यह खबर दिल हिला देनेवाली है। एस. गोपाल जैसे व्यक्ति भी इस बात पर लीपापोती करने के लिए यह कहते थे कि "मथाई अमरिका का जासूस था तथा रूस व पं. नेहरू की बदनामी करना ऐसे जासूसों का एक आम कार्य होता है।" ऐसा बताते हुए यह भी सत्य बात थी कि पं. नेहरू के प्रासाद में दूसरे देशों के जासूस चौबीसों घण्टे रहा करते थे और उनके संबंध उनकी कन्या से लेकर सभी निकटवर्तियों से हुआ करते थे। इससे पं. नेहरू की सजगता की कल्पनाएँ कितनी निराशाजनक थीं, यह ज्ञात होता है।

एक और बात है जो शायद इससे अधिक हानिकारक है। 1977 में इंदिरा गांधी की सत्ता पराजित होने के बाद मुरारजी देसाई के प्रधानमंत्री बनने पर केन्द्र में प्रथम बार केवल कांग्रेस रहित ही नहीं वरन् नेहरू रहित मंत्रीमंडल की स्थापना हुई। मुरारजी ने कांग्रेस राज्यों में फैले भ्रष्टाचार की जाँच की कसम खाई। तब आय.सी.एस. दामले ने मुरारजी को इस तरह से पत्र लिखा—

“पता चला है कि आप कांग्रेस के युग में सभी अनुचित व्यवहारों की पूछताछ करेंगे। इस संदर्भ में कुछ बातों से आपको परिचित कराना चाहता हूँ। भारतीय न्यायाधीशों द्वारा युद्ध के अपराधियों के मुकदमों में जपानी आरोपियों के प्रति सहानुभूति दर्शायी थी।



अतः जपानी सरकार ने भारतीय न्यायाधीशों के प्रति कृतज्ञता दर्शाने के लिए सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिंद सरकार का जो भी धन था, वह सारा भारत को वापस करने का निर्णय लिया था. परंतु जड़-जवाहिरातों जैसे कुछ धन, कागज या डाक द्वारा वापस नहीं किया जा सकता अतः जपानी सरकार ने ऐसी संपत्ति को प्रत्यक्ष सौंपने के लिए किसी विश्वस्त उच्चपदस्थ व्यक्ति को भेजने की पं. नेहरू से विनति की थी. अब पं. नेहरू ने इस संपत्ति का स्वीकार करने के लिए मुझे भेजा और मुझे आदेश दिया कि प्रस्तुत बक्से अन्य किसी को न देते हुए मुझसे मिलकर मुझे ही सौंपे जाय. तदनुसार मैं इस सारी संपत्ति लेकर पं. नेहरू को सुपूर्द का. परंतु उन्होंने मुझे इस संदर्भ में कोई रसीद नहीं दी थी. इन जवाहिरातों का स्वीकार करते समय मैंने कई कागजादों पर हस्ताक्षर किये थे. परंतु उन्हें मैंने पं. नेहरू को सौंपे जाने की कोई रसीद मेरे पास नहीं है. साफ जाहिर है कि पूछताछ शुरू होते ही मैं पकड़ा जाऊंगा. फिर भी जवाहिरातों का वह बक्सा कहाँ गया होगा इस बारे में अवश्य पूछताछ कीजिए.” (संक्षेप)

इसके बाद जब प्रधानमंत्री मुरारजी देसाई ने पूछताछ करवाई तो वह बक्सा राष्ट्रीय संग्रहालय में मिला परंतु उसमें टूटे बटन के अलावा और कुछ भी नहीं था.

### युधिष्ठिर पर स्वार्थ के संस्कार

मुरारजी देसाई ने लोकसभा में दिये भाषण को आधार मानकर उपरोक्त वृत्तान्त लिखा गया है. मुरारजी देसाई ने श्री दामले को दोषी करार नहीं दिया. पं. नेहरू कामिनी की तरह ही कनक के संदर्भ में भी विश्वसनीय व्यक्ति नहीं थे. सि बात का इससे बड़ा प्रमाण और कौन-सा हो सकता है? स्वाभाविक रूप से नेहरू भक्त मुरारजी व दामले दोनों को झूठ का बादशाह ही कहते फिरेंगे!

पं. नेहरू के इस व्यवहार से भी अधिक दुःखदायी तथ्य यह है कि स्वयं प्रधानमंत्री द्वारा लोकसभा में दिये इस वक्तव्य के बाद भी देश में कोई हलचल नहीं मची और आज 2010 में सारा देश इसे भूला चुका है.

पं. नेहरू के प्रधानमंत्री काल में ही श्री मुरारजी देसाई ने लोकसभा में सूचित किया था कि पं. नेहरू का विदेशी बैंकों में खाता है और सि संदर्भ में उन्होंने सरकार से इजाजत नहीं ली थी. इस पर पं. नेहरू ने स्पष्टीकरण दिया था कि ‘मुझे मेरी पुस्तकों पर विदेशों से काफी धन मिलता है और इसलिए विदेशी बैंकों में खाता रखना जरूरी है.’ इस स्पष्टीकरण पर लोकसभा ने पुनः पं. नेहरू से पूछताछ भी नहीं की कि ऐसे कारणों के लिए यदि कोई विदेशों में इजाजत लिये बिना ही खाता खोल सकता हो तो विदेशों से व्यापार करनेवाले सभी व्यापारियों को बिना इजाजत विदेशों में खाते खुलवाने के लिए ‘मुक्त द्वार खुल जायेंगे.’ सुब्रमन्यम स्वामी की इस शिकायत पर यह बताया गया कि श्रीमति सोनिया गांधी के विदेशी खातों के बारे में पूछताछ हो रही है. इस पूछताछ से शायद उपरोक्त घटना पर अधिक बातें पता चल सकती हैं.

पं. नेहरू ने केवल भारत का ही बहुत बड़ा नुकसान किया है इसे स्वीकार करना जब असंभव होने लगता है तब नेहरू भक्त पं. नेहरू की तुलना महाभारत के युधिष्ठिर से करते हैं. उनके अनुसार युधिष्ठिर ने तो केवल पांडवों का ही नुकसान किया है. महाभारत में पांडवों पर आयी सभी आपत्तियों को युधिष्ठिर ने ही समझ-बूझकर आमंत्रण दिया था. फिर भी युधिष्ठिर को उदात्त समझा जाता है क्योंकि नैतिकता की रक्षा के लिए यह दिव्य कर्म संपन्न हुआ था. “महाभारत से युधिष्ठिर को हटा दें तो बदमाशों की मार-धाड़ के अलावा और कुछ भी नहीं शेष रहता.” यह कथन एक महाभारत के अभ्यासक का है, जिसे उन्होंने मुझसे कभी चर्चाओं में कहा था. उसी तरह नेहरू भक्तों का यह कहना है कि पं. नेहरू द्वारा भारत का जो नुकसान हुआ है उसे स्वार्थ की नजरों से न देखें यह सब नैतिकता की परवाह करते हुए हो गया है. ‘जातीय प्रतिगामियों’ को बात जँचती न हो परंतु चीन का तिब्बत पर अधिकार तथा कश्मीर या पाकिस्तान का अधिकार न्यायपूर्ण ही है. मुसलमानों पर भारत में सचमुच ही जुल्म द्वाया जाता था. उन बेचारों को पाकिस्तान जैसा छोटा-सा देस मिला था तब भारत में ही कुछ घुसखोरों की तरह रहने आ गये तो यह कोई बड़ी भारी गलति नहीं है. हिंदू धर्म में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे भविष्य के लिए सुरक्षित रखना जरूरी है. अतः मिशनरियों ने हिंदुओं का धर्मांतर करवाना एक अच्छी घटना है. लोकप्रियता की परवाह किये बिना पं. नेहरू ने अहिंदुओं को न्याय दिलाया. इसमें यदि हिंदुओं का नुकसान हुआ होगा तो द्रौपदी के वस्त्रहरण तथा पांडवों के वनवास इन दो घटनाओं के समान उसे हमें मानना चाहिए. उपरोक्त बातें करनेवालों से मैं मिला हूँ.

ये सभी व्यक्ति एक महत्वपूर्ण बात भूला देते हैं. युधिष्ठिर ने अपने तत्त्वों के पालन करने के लिए केवल अपने भाई व पत्नी को यातनाएँ नहीं दी. वह स्वयं भी वनवास में रहा और अपने भाई व पत्नी की तरह ही यातना-यंत्रणाओं को झेला. उसने यदि ऐसा कहा होता कि “मैं सत्य का पालन करता हूँ परंतु घृत के शर्तों में निम्न परिवर्तन किये जाय. मेरे अलावा पांडव वन को जाय और मैं दुर्योधन द्वारा दिये गये प्रासाद में वनवास का काल व्यतीत करूँगा. घृत की शर्तों में द्रौपदी का भी वनवास जाना तय है. अतः मेरी दूसरी पत्नी देविका के साथ हस्तिनापूर में रहूँगा.” यदि इस तरह से युधिष्ठिर शर्तों में परिवर्तन करवाता तो उसकी सोच पं. नेहरू जैसी ही कहलाती.

पं. नेहरू ने कभी भी ऐसा कुछ नहीं किया जिससे उनका अपना नुकसान हो. कम्युनिस्ट होने के नाते उन्हें क्रांतिकारक बनना था. परंतु एक कम्युनिस्ट क्रांतिकारी के नाते उनकी तरह का सुखासीन जीवन व्यतीत करने की इजाजत ही नहीं मिलती. उन्हें मानवेन्द्र राय व कामरेड डांगे जैसा जीवन गुजारना पड़ता. पं. नेहरू को केवल एक ही बार पुलिस की लाठियों की मार खानी पड़ी थी. फिर दूसरी बार ऐसा कुछ सुनने में नहीं आया. गोविंद वल्लभ पंत की तरह से पुलिस की मार खाकर जन्मभर अपाहिज रहने का दर्द या लाला लजपतराय की तरह जान गँवाने का मौका उन पर कभी आया ही नहीं था. वे कानून को

तोड़ने का काम चमड़ी बचाव ढंग से ही करते थे.

### आत्मभ्रान्ति

पं. नेहरू की शिक्षा बचपन से ही अंग्रेजी माहौल में हुई थी. उनकी धाय भी अंग्रेज ही थी. उनकी आत्मकथा में इसके बारे में कुछ नहीं लिखा गया था. उम्र के चौदहवें वर्ष से वे इंग्लैण्ड में पढ़े, वही रहे. वे नींद में भी अंग्रेजी ही बोलते थे. उन्हें किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य का ज्ञान नहीं था. अर्थात् उनका सारी बौद्धिक तथा भावनात्मक दुनिया अभारतीय थी. कम्युनिस्ट तत्त्वज्ञान के कारण राष्ट्रवाद उनके लिए सिद्धान्ततः अपथ्यकारक ही था. कम्युनिज्म भी मनुष्य को स्वार्थ से परे देखने की सीख देता है. परंतु पं. नेहरू ने गांधीजी को स्वीकार करने में जैसी ही कम्युनिस्ट का स्वीकार करने में अपनी चमड़ी बचायी थी.

पं. नेहरू के जीवन में स्वार्थ से परे देखने पर बाध्य करनेवाली ऐसी किसी भी भावना का अंकुरण होने का अवसर ही उपलब्ध नहीं हुआ था. वे स्वयं को अंग्रेज मानते थे फिर उनके मन में भारतीय स्वराज्य के प्रति आस्था का भाव भला क्यों कर जागे? ठीक है, परंतु अंग्रेज की तरह पालित-पोषित होने पर भी उनमें इंग्लैण्ड के प्रति भी प्रेम भाव होना असंभवसा था. क्योंकि भारत में रहनेवाला भले ही स्वयं को अंग्रेज समझता रहे परंतु इंग्लैण्ड में उनकी पहचान एक अंग्रेज नहीं थी. इसका वे बार-बार अनुभव लेते रहे हैं. अतः स्वदेश, स्वधर्म, स्वभाषा, स्वसंस्कृति आदि से बने समाज का वे अविभाज्य एकक हैं ऐसे अहसास के प्रति जाज्वल्य प्रचीति करा देनेवाला कोई भी भावनात्मक बंधन पं. नेहरू के पास नहीं था. I am out of place everywhere and at home nowhere. यह पं. नेहरू का प्रसिद्ध वाक्य था. उन्हें लगता रहा कि भारत में वे अंग्रेज हैं और इंग्लैण्ड में वे भारतीय हैं. उनका कुछ फीट का तन, उसके भीतर बसा मन, उनकी बहन व बेटा, इनसे परे निःसंदेह अपना कह सके, ऐसा कुछ भी न था. अतः उनकी सारी जद्दोजहद खुद को नये युग शांतिदूत कहलवाने में, अपनी बहन दुनिया की बड़ी नेता बनाने में व अपनी बेटा को उनके बाद प्रधानमंत्री बनाने में ही केन्द्रित रही. स्वार्थातीत कहें ऐसा उनका कोई लक्ष्य नहीं था. फिर उनसे चरित्र की नैतिकता बनी रहने की आशा भी क्यों की जाय? दुर्भाग्य की बात यह है कि पं. नेहरू के सतरह वर्षों के शासन काल में उनके जैसे ही संस्कारों की दो पीढ़ियाँ उच्च वर्ग में निर्माण हुई हैं. फिर भारत भ्रष्टाचार संबंधी क्रमांक काफी अगला होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है.

जिसे अंग्रेजी में Identity Crisis अर्थात् स्वत्वभ्रान्ति कहते हैं. उपरोक्त स्थिति भी वैसी ही कुछ है. स्वत्वभ्रान्ति वाला व्यक्ति किसी भी निष्ठा को अपने में जागृत नहीं कर सकता. अतः ऐसा कहा जाता है कि “वह स्वयं की राष्ट्रीयता का नाम बता नहीं सकता और इसे वह कोई चिंताजनक स्थिति नहीं मानता. पं. नेहरू जैसे पुरुषों की राष्ट्रीयता नहीं

होती. वे तो सारी दुनिया के नागरिक होते हैं.” परंतु वस्तुतः जो सारी दुनिया का नागरिक होता है, वह दुनिया के किसी भी कोने को अपना घर मानकर रह सकता है. परंतु स्वत्वभ्रान्ति वाला व्यक्ति किसी भी कोने को अपना नहीं मान सकता. स्वदेश प्रेम न होने का अर्थ दुनिया से प्रेम होना नहीं होता.

‘मेरी निष्ठा सारी दुनिया पर है’ यह एक तरह से अर्थहीन वाक्य है. निष्ठा सदैव ‘अ’ पर है और ‘आ’ पर नहीं ऐसे भावाभावात्मक स्वरूप की होती है. ‘मैं सब पर समान प्रेम करता हूँ’ कहने वाला किसी से भी प्रेम नहीं करता.

पं. नेहरू के प्रधानमंत्री होने का वर्णन एक सूत्र में करना होगा, तो कह सकते हैं कि “जगत्शान्ति के लिए प्रयत्नशील महापुरुष के रूप में स्वयं की ख्याति हो, इस उद्देश्य से देश के हित को मुक्त भाव से खर्च करने योग्य पूँजी मानकर उसका उपभोग लेने वाला व्यक्ति.”

□ □

## ॥ आत्मनस्तु कामाय ॥

पं. नेहरू के बर्ताव का बारीकी से निरीक्षण किया जाता है, तब एक बात नज़रों से ओझल हो ही नहीं सकती. वह बात है— “सब कुछ मेरे व मेरे परिवार के लिए है.” उनकी इस भूमिका के कारण उनकी राजनीति का एकमात्र लक्ष्य था— भारत में उनके अलावा कोई दूसरा सत्ताधीश न रहे/बने और उनके बाद भी उनके वंश का ही शासन भारत पर चलता रहे.

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी पं. नेहरू की तरह समाजवादी थे. परंतु पं. नेहरू ने उनके खिलाफ जाकर महात्मा गांधीजी का साथ दिया. एक घोषित सभा में उन्होंने कहा कि “नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने हिंद फौज की स्थापना की, उनका रास्ता ही गलत है, अतः जब वे भारत आयेंगे तो उनसे मैं लडूंगा.” सारी सभा पं. नेहरू को दुत्कार रही थी. अब आगे चलकर पं. नेहरू को अपने विचारों पर विश्वास होता, तो भविष्य में तदनुकूल ही बर्ताव करते. परंतु ऐसा नहीं हुआ. जब आज़ाद हिंद फौज के सैनिकों पर अभियोग लगाया गया था, तब इन सैनिकों का समर्थन करने में पं. नेहरू भी सहयोगी बने. अपने विचारों-सिद्धांतों पर दृढ़ रहने के बजाय पं. नेहरू सदैव अपनी नेतागिरी को बरकरार रखना महत्त्वपूर्ण मानते थे.

पं. नेहरू व महात्मा गांधीजी की तुलना की जाय तो दोनों में कहीं कोई समानता नजर नहीं आती. यह एक बड़े आश्चर्य की ही बात है कि पं. नेहरू ने महात्मा गांधी जैसे तत्त्वनिष्ठ और नेहरू से विपरित व्यक्तित्व के मनुष्य को अपना राजनीति का नेता माना. पं. नेहरू विचारों से कम्युनिस्ट थे और उन्होंने गांधीजी को भी कम्युनिस्ट ही बनाना चाहा था. परंतु गांधीजी पर उनका कोई प्रभाव नहीं हो पाया.

गांधीजी का चिंतन मूलभूत रूप से हिंदुवादी ही था और पं. नेहरू पर बचपन से ही जो संस्कार हुए थे, उसका परिणाम यह हुआ कि उनके मन ने ठान लिया था कि हिंदुओं के विचारों को जड़मूल से उखाड़ फेंकना है. उन्हें गांधीजी के अधिकांश राजनीतिक व आर्थिक विचार अस्वीकार ही थे. पं. नेहरू चाह रहे थे कि 1942 का ‘चले जाओ’ आंदोलन न हो. फिर भी गांधीजी ने पं. नेहरू को ही आंदोलन का प्रस्ताव लिखने को कहा.

कम्युनिज्म का तत्त्व है कि ‘पूँजीपति पूँजी के बल पर जनता को अपने हित के लिए वशीभूत करते हैं.’ एक बार लुई फिशर ने गांधीजी से कहा कि ‘बिर्ला व बजाज जैसे उद्योगपति आप पर हजारों रूपये खर्च करते हैं तो उनका आपके विचारों पर कोई प्रभाव नहीं होता?’ इस पर गांधीजी ने कहा कि ‘वे मेरे विचारों से प्रभावित हुए हैं.’ महात्मा गांधीजी के मुख से पूँजीवाद को खत्म करने की बात कभी भी सुनी नहीं गई.

ऐसी स्थिति में भी प्रधानमंत्री बनने तक गांधीजी ही पं. नेहरू के नेता बने रहे. इसकी वजह बिलकुल साफ है. पं. नेहरू जानते थे कि गांधीजी को छोड़ देंगे तो नेतागिरी से हाथ धो बैठेंगे.

अमरिका जैसे पूँजीवादी देश की चीन जैसे कम्युनिस्ट देश के खिलाफ दी गई सहायता को पं. नेहरू ने अस्वीकार कर दिया था और आयसेनहॉवर तथा केनेडी ने दी मदद को उन्होंने नकारा था. परंतु जब चीन की सेना तेजपुर तक बैल धँसान कर चुकी थी, तो भारत के प्रधानमंत्री पं. नेहरू अमरीकी राष्ट्रपति केनेडी को गिड़गिड़ाकर विनति कर रहे थे कि ‘हमारी रक्षा के लिए दौड़े आइये.’ पं. नेहरू जानते थे कि चीनी सेना यदि तेजपुर से आगे आ गई तो पं. नेहरू को प्रधानमंत्री पद से हटना होगा क्योंकि वैसी खिचड़ी पक ही रही थी. अतः पहले जो सहायता उन्हें अस्पृश्य लग रही थी, उसे ही अब गले लगा रहे थे. तिब्बत के चीन के अधीन जाने पर उनका व्यक्तिगत नुकसान कुछ भी नहीं होना था. भविष्य में भारत का नुकसान होवे तो क्या? परंतु भारत पर चीन के आक्रमण से पं. नेहरू ही संकट में आने को थे, अतः वे अपने प्रिय तत्त्व को भी भूल बैठे.

पं. नेहरू को कम्युनिस्ट तत्त्वों का बड़ा आकर्षण था. इन तत्त्वों के अनुसार मोटे तौर पर गणतंत्र शब्द का प्रयोग, जिस अर्थों में किया जाता है, पं. नेहरू को गणतंत्र का वह अर्थ अस्वीकार ही था. उन्हें सदैव बहुमत मिलता रहा, परंतु सदैव मिलने की भविष्यवाणी कोई नहीं कर सकता था. एक बार उन्होंने कहा था कि ‘भारत में सार्वजनिक गणतंत्र न हो, अप्रत्यक्ष गणतंत्र के पर्याय पर सोचा जाना चाहिए.’ परंतु जब उन्हें यह विश्वास हुआ कि उनकी सत्ता कभी भी डाँवाडोल नहीं हो रही है, तब उन्होंने ‘अप्रत्यक्ष गणतंत्र’ पर कुछ सोचना-बोलना बंद कर दिया. उनका विश्वास तो तब अधिक दृढ़ हुआ कि जब 1962 में 20000 सैनिकों के प्राण और लाखों चौरस भूमि गाँवों बैठने का विक्रम करने के बाद भी उनका प्रधानमंत्री पद ध्रुव की तरह अटल नहीं रहा था.

अब एक घटना ऐसी भी घटित हुई, जिससे पं. नेहरू के मन में एक भय घर कर गया कि सारे भारत पर उनकी अप्रतिहत सत्ता अब और नहीं रहेगी. वह घटना है— चीन के आक्रमण से बहुत पूर्व केरल में कांग्रेस को पराजित करते हुए कम्युनिस्ट पक्ष चुनाव में जीता था. पं. नेहरू विचारों से कम्युनिस्ट होते हुए भी, वे इस घटना से काफी आहत हुए थे. क्योंकि उन्होंने यह कहा था कि “कम्युनिज्म कितना भी अच्छा क्यों न हो, कम्युनिस्ट पक्ष का विजय अर्थात् मेरा पराभव है, क्योंकि मैं कम्युनिस्ट पक्ष का नेता नहीं हूँ. जिस पक्ष की हार हुई, उस कांग्रेस पक्ष का नेता हूँ.”

अब पं. नेहरू ने अपने षडयन्त्रों को गति दी और ऐसा वातावरण निर्माण करना चाहा कि केरल में कम्युनिस्ट सरकार बरखास्त हो और पुनः चुनाव लिये जाय और कांग्रेस को ही चुना जाय. उन्होंने यह आक्षेप उठाया कि केरल की कम्युनिस्ट सरकार, रूसियों की अंजुरि से जल पीती है. इस आक्षेप पर रूसी नेता भड़क उठे और उन्होंने मुँह-तोड़ जवाब

देते हुए यह स्पष्ट किया कि हमने केरल में अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष किसी भी रूप से हस्तक्षेप नहीं किया है। तब जाकर पं. नेहरू ने अपना रूख भिन्न किया और केरल पर यह आरोप लगाया कि केरल सरकार ने भारत के राष्ट्रपति को अपमानित किया। परंतु पं. नेहरू एक बात पूरी तरह से भूला देते हैं कि उन्होंने स्वयं ही डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को तीसरी बार राष्ट्रपति पद दिलाने को नामंजुरी देते समय उनकी अशोभनीय आलोचना की थी।

कम्युनिस्ट लोग पं. नेहरू की तरह ही 'सेक्युलर' थे, फिर भी केरल में उनके अधिकांश मतदाता हिंदू हैं और कांग्रेस के ईसाई। अतः; ईसाई शिक्षा संस्थाएँ अपने 'सेक्युलर' संविधान के बल पर निरंकुश व्यवहार कर सकती हैं अतः उन्हें नियंत्रित करने के लिए केरल सरकार ने, एक विधेयक प्रस्तुत किया। विधान सभा में विधेयक के प्रस्तुत होने से पहले ही, पं. नेहरू ने उसका विरोध किया और उसे सर्वोच्च न्यायालय में भेज दिया। फिर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सूचित परिवर्तनों के साथ यह विधेयक आगे चलकर पारित हुआ।

कम्युनिस्टों ने अपने चुनाव के घोषणा-पत्र में केरल में विदेशियों द्वारा नियंत्रित जलोढ़ या कच्छारी जमीन का राष्ट्रीकरण करने का वचन दिया था। पं. नेहरू ने फिर इसका भी जमकर विरोध किया। इस बार पं. नेहरू का कम्युनिज्म के प्रति प्रेम-भाव विदेशियों की कृपा हासिल करने और अपनी ही सत्ता में सहयोगी होने की चाह रखनेवालों का निःपात करने की इच्छा के समक्ष प्रभाहीन साबित हुए। पं. नेहरू खुलकर कहने लगे कि अब केरल की कम्युनिस्ट सरकार के दिन खत्म होने को हैं।

केरल के कम्युनिस्टों को पं. नेहरू से ऐसे बर्ताव की आशा नहीं थी। केरल के मुख्यमंत्री नम्बुद्रीपाद ने कहा कि "हमने तो पं. नेहरू से मित्रता बनाये रखने की कोशिश की थी। परंतु एक बात साफ है कि पं. नेहरू ही हमसे दोस्ती करना नहीं चाहते। पं. नेहरू के अनुसार कांग्रेस ही राष्ट्र है। यह तो देश के विभाजन का रास्ता है।" बेचारे नम्बुद्रीपाद! वे सोचते रहे कि पं. नेहरू देश की एकता की चिंता कर रहे हैं। परंतु पं. नेहरू के मन में देश की एकता का एकमात्र अर्थ था कि इस देश पर नेहरू के अलावा अन्य किसी का भी शासन न हो। उन्हें जो लोग नेता नहीं मानते थे, वे यदि भारत से भी अलग हो जाय तो उन्हें कोई खेद न होता। नागा व कश्मीर के मुसलमान उन्हें नेता नहीं मानते थे। परंतु उन्हें तो भारत के अन्य पक्षों का भी नेतृत्व स्वीकार नहीं था। परिणाम यह था कि उनसे भारत में नेहरू के पद के लिए असुरक्षा की स्थिति निर्माण करना संभव नहीं था। उन्हें भारत के संविधान के अनुसार संपन्न चुनाव में बहुमत प्राप्त पक्ष व उसकी सत्ता मंजूर नहीं थी। क्योंकि जो बहुमत आज मिला है वह किसी दूसरे प्रदेश में कल मिल सकता है।

केरल कांग्रेस द्वारा भेजे गये प्रतिवृत्तों के आधार पर पं. नेहरू ने यह आक्षेप उठाया कि "केरल सरकार हत्याकाण्ड को प्रोत्साहन दे रही है और कम्युनिस्टों के ही पक्ष पर अधिक बल दे रही है।" ऐसे लगता है कि कांग्रेस के राज्यों में मानो कांग्रेस व अन्य

पक्षों में बहुत ही एका है, समानता है! स्वराज्य प्राप्ति से पहले जो कंगाल थे व कांग्रेस के राज्य में करोड़पति बन गये थे, ऐसे व्यक्ति कांग्रेस के पक्ष के अलावा शेष पक्षों में कितनी संख्या में उपलब्ध हो सकते हैं?

अब कांग्रेस द्वारा ही मनोनीत गवर्नर/राज्यपाल ने प्रतिवृत्त दिया कि "केरल सरकार कांग्रेस प्रेरित मजदूरों की संगठन के खिलाफ कम्युनिस्ट मजदूर संगठन की ताकत बढ़ाने की कोशिश कर रही है।" क्या कांग्रेस के राज्यों में कांग्रेस अपने ही समर्थकों की संख्या में वृद्धि नहीं कर रही थी?

परंतु इसी दरम्यान पं. नेहरू ने उनकी लोकतंत्र की अभिनव कल्पना प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि "लोकतंत्र का अर्थ मात्र मतदान व पक्षाधिष्ठित सरकार तक सीमित करना उचित नहीं है।" पं. नेहरू के अनुसार ही लोकतंत्र के 'विशाल' अर्थ की सीमा भी तो नेहरू और उनके उत्तराधिकारियों तक ही सीमित थी और वे चाहते थे कि सत्ता भी उनकी ही बनी रहे।

एस. गोपाल लिखते हैं कि केरल कांग्रेस को मध्यावधि चुनाव लेने की गुप्त सलाह दी गई थी। अब सरकार बहुमत का है तो मध्यावधि चुनाव का प्रयोजन भला क्या हो सकता है? अब प्रयोजन निर्माण करने के लिए एक 'विमोचन समर समिति' स्थापित की गई और उसने पूरे प्रदेश में सरकार के खिलाफ आंदोलन शुरू कर दिया।

इस आंदोलन के बारे में केरल से बाहर के समाचार-पत्रों में अतिरंजित वर्णन दिया जा रहा था। परंतु नम्बुद्रीपाद इस आंदोलन को 'कैथालिक व नायर का आंदोलन' कहा है। यहाँ यह स्मरण रहना बेहद जरूरी है कि यहाँ के चुनावों में हिंदुओं ने कम्युनिस्टों का साथ दिया था और ईसाइयों ने कांग्रेस का। इसी कारण इस समय सावरकर ने केरल कम्युनिस्ट सरकार का साथ देते हुए एक फर्मान प्रसारित किया था।

जैसा कि तय था, इस आंदोलन की माँग के बहाने सरकार बरखास्त कर दी गई। फिर आगामी चुनाव में कांग्रेस चुनी गई और कम से कम पं. नेहरू के जीवित काल में संपूर्ण भारत में, इसके बाद कहीं भी, पं. नेहरू को नेता न माननेवाली सरकार अपना अस्तित्व बना नहीं पायी। यहीं से कुछ न कुछ कारण खोजकर प्रतिपक्ष के सरकार को गिराने की नींव प्रस्थापित हो गई।

पं. नेहरू के अपने ही जीवन काल में नहीं, वरन् उनके बाद भी भारत की सत्ता उन्हीं के वंशजों के हाथ रहे। इस बात पर पं. नेहरू सदैव बल देते रहे हैं। उन्होंने इंदिरा गांधी को राजनीति में अग्रसर करने की कोशिश प्रारंभ की। इंदिरा को अध्यक्ष बनाने की सूचना भी उन्होंने ही की थी। जब एक सदस्य डरते-डरते कह गया कि इंदिराजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, तो पं. नेहरू ने उसे खामोश कर दिया।

पं. नेहरू के बाद प्रधानमंत्री पद के लिए अपना दावा प्रस्तुत करनेवालों के नाम थे— मुरारजी देसाई, स.का. पाटील, अतुल्य घोष. कांग्रेस के तीन प्रबल व्यक्तित्व इंदिरा

गांधी के आड़े न आये. अतः पं. नेहरू ने शिकायत करना प्रारंभ किया कि “सभी कार्यक्षम लोग सरकार में आना चाहते हैं, अतः कांग्रेस को कार्यकर्ताओं की कमी खल रही है.” तब कामराज कांग्रेस के अध्यक्ष थे. उन्होंने कांग्रेस को मजबूत बनाने के लिए उपरोक्त तीनों नामों की आवश्यकता है ऐसा कहा, तब जाकर कहीं इन तीनों के त्यागपत्र पं. नेहरू ने स्वीकार किये.

स्वराज्य प्राप्ति के बाद पक्ष की तुलना में सरकार अधिक महत्वपूर्ण होती गई और परिणामस्वरूप जो सरकारी नहीं, वह जनता की नजरों से दूर होने लगा. अर्थात् सरकारी व्यक्ति महत्वपूर्ण और दूसरे भूला देने योग्य हुए. पं. नेहरू जब बीमार हुए थे तब उनके अपने काम के लिए उन्होंने लाल बहादूर शास्त्री को नियुक्त किया. इस मौके पर पं. नेहरू बार-बार उनसे यह कहने के लिए अस्पष्ट रूप से सूचित कर रहे थे कि “यह काम मुझसे नहीं होगा, आप इंदिराजी से कहें.” परंतु शास्त्रीजी ने अनसुनी कर दी और कहने लगे कि “नहीं, नहीं, आपकी कृपा हो तो मैं क्या कुछ नहीं कर सकता!” फिर पं. नेहरू ने धीरे-धीरे उनकी तरफ फाइलों को भेजना बंद कर दिया. पं. नेहरू अनुमान लगाये जा रहे थे कि उनके इस व्यवहार को शास्त्रीजी समझ जायेंगे. परंतु शास्त्रीजी ने अपना स्वांग बनाये रखा.

इतने में अचानक ही पं. नेहरू का देहावसान हुआ और ‘किसे प्रधानमंत्री बनाया जाय?’ इस संदर्भ में कांग्रेस के गुटों में चर्चा होने लगी. तब कांग्रेस के अध्यक्ष कामराज थे. वे स्वयं तो प्रधानमंत्री बन नहीं सकते थे. क्योंकि उन्हें हिंदी या अंग्रेजी में से किसी भी भाषा का एक भी वाक्य समझ में नहीं आता था. फिर बोलने की बात तो कोसों दूर थी. फिर भी वे चाह रहे थे कि सत्ता उनके ही हाथों में बनी रहे. अतः मुरारजी देसाई, स.का. पाटील तथा अतुल्य घोष में से कोई भी उन्हें नहीं चाहिए था. वे सभी कट्टर तथा स्वयंप्रज्ञ थे. जिस शास्त्री नामक व्यक्ति को पं. नेहरू ने अपना काम सौंपा था, उनके बारे में लोगों में यह राय थी कि “वह सर्वथा अप्रभावी व्यक्तित्व का आदमी है, उसे अपने नाक पर बैठी मक्खी भी उड़ाना नहीं आता.” यह विचार पं. नेहरू के भी होंगे और इंदिरा गांधी के लिए वे सरदर्द नहीं बनेंगे, ऐसा कुछ सोचकर पं. नेहरू ने उन्हें अपना काम सौंपा होगा. कामराज भी तो ऐसे ही व्यक्ति को प्रधानमंत्री बनाना चाहते थे. अतः तब यह सहज भाव से कहा गया था कि “पं. नेहरू भी लाल बहादूर शास्त्री को ही प्रधानमंत्री बनाना चाहते थे.” अतः शास्त्रीजी निर्विरोध प्रधानमंत्री बन गये.

परंतु वे अठारह महिनों बाद ही गुजर गये. फिर प्रधानमंत्री के चुनाव का प्रश्न आ खड़ा हुआ.

इस समय इंदिरा गांधी की छवि ‘गुंगी गुड़िया’ सी थी. इस समय तक सब उनके बारे में यह मानकर चल रहे थे कि वे एक बुद्धिहीन महिला हैं. अतः कामराज भी यह सोच रहे थे कि उसे प्रधानमंत्री बना दिया जाय तो वह हमारे प्रति कृतज्ञ रहेंगी और सदैव हमारे

ही अधीन रहेगी, जिससे भारत का शासन उनके ही हाथों रहेगा और इंदिरा गांधी को चुन लिया गया.

इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री होने का मूल्यमापन इंदिरा गांधी के प्रकरण में किया गया है. उससे स्पष्ट है कि उनका शासन भी हू-ब-हू नेहरूवाद पर ही चल रहा था र उन्होंने भी भारत को सर्वतोपरि हानि ही पहुँचाई है.

पं. नेहरू द्वारा वंशसत्ता की जिद, उनके अन्य जिदों की तरह ही, देश विघातक ही साबित हुई थीं.

□ □



## ॥ महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू ॥

नाथूराम गोडसे पर लिखे एक मराठी नाटक पर चर्चा हो रही थी, तब एक मित्र ने कहा—

“गांधी का वध करनेवाले और उनका गुणगान करनेवालों का खून करने को मन होता है.”

“खून देह का था या तत्वों का?” मैंने पूछा.

“मैं समझा नहीं.” उन्होंने कहा.

“गोडसे ने गांधीजी की देह का कत्ल किया और न भी करता तो क्या, उनकी देह अमर होने वाली वस्तु तो नहीं थी. परंतु इस खून के कारण जनता ने उनके विचारों को नकारा नहीं था. गांधीजी के तत्वों के बारे में जिन कृत्यों द्वारा अनादर निर्माण किया जा रहा है, उन कृत्यों को मैं आदरणीय मानकर ही गांधी के तत्वों का खून कह रहा हूँ. गोडसे ने ऐसा खून किया ही नहीं. ऐसा खून तो किसी दूसरे व्यक्ति ने किया है. इस व्यक्ति के कारण गांधीजी के विचारों व मूल्यों का भारत से पूरी तरह उच्चाटन ही हुआ है. परंतु इस व्यक्ति को गांधी का उत्तराधिकारी मानकर उसकी पूजा हो रही है.”

“आप किसके बारे में बात कर रहे हैं?”

“बड़े दुर्भाग्य की बात है कि यह सब आपको साफ-साफ कहना पड़ रहा है. मैं पं. जवाहरलाल नेहरू की बात कर रहा हूँ. भारत का शासन पं. नेहरू के तत्वों पर चलता है, गांधीजी के नहीं!”

“ठीक है, पर नेहरू और गांधी के तत्वों/विचारों में भेद क्या है?”

“हाँ, ठीक ही है, जिस देश में यह बताने की जरूरत कहसूस होती हो, उसका भविष्य कैसा होगा?”

### देशी भाषाओं के खिलाफ जेहाद

“हम एक के बाद एक मुद्दा लेते हैं. गांधीजी का अनुरोध था कि भारत से अंग्रेजी भाषा का उच्चाटन किया जाय. अतः उनकी हिदायत थी कि कोई उनसे अंग्रेजी में बात न करें और उन्हें अंग्रेजी में पत्र भी न लिखें. मेरी मुलाकात गांधीजी से 1941 में हुई थी. मुझसे उन्होंने पूछा ता कि मैं उन्हें अंग्रेजी में पत्र क्यों लिखा? यह भी कहा कि अपने बच्चों को मातृभाषा छोड़कर अन्य किसी भी भाषा में शिक्षा दिलाना गुनाह है.

गांधीजी का अनुरोध मातृभाषा के लिए अवश्य था, किंतु जब भारत को एक राष्ट्र कहते हैं और दो भारतीय आपस में बातें करते हैं तो उनके पास आपस में बोलने योग्य एक भाषा का न होना, यह विषमता गांधीजी को यातनाजनक लगती थी. और इस कारण

वे ऐसी भाषा प्रचार में लाना चाहते थे जो हर कोई बोल सके. इसके लिए उन्होंने हिंदी को ही स्वीकारा. उनका दृढ़ मत था कि दूसरी कोई भी भाषा यह काम नहीं कर सकेगी. अतः उन्होंने पूरे जोश के साथ हिंदी का प्रचार किया.

गांधीजी के समय अधिकांश हिंदू विद्यार्थी मैट्रिक की परीक्षा के लिए तीन वर्ष तक संस्कृत सीखते थे.

संस्कृत का इतना ज्ञान रामायण/महाभारत जैसे ग्रंथों को आसानी से समझने और संस्कृत सुभाषितों का आस्वाद लेने में सहायक होता था. इसके अलावा कीर्तन का अत्याधिक प्रचलन था. अतः आसान संस्कृत समझने के लिए पाठशाला जाने की आवश्यकता नहीं होती थी. संस्कृत के प्रति रुचि पाठशाला की शिक्षा की तुलना में, इन कीर्तनों से ही बढ़ती रही है. परंतु गांधीजी को संस्कृत का इतना प्रचार काफी नहीं जान पड़ रहा था. उन्होंने उसे अधिक जोर से प्रचार करने की बात बार-बार कही है.

पं. नेहरू का आचरण इससे सर्वथा विपरित था. उन्होंने सबसे पहले अपना मोर्चा संस्कृत की ओर बढ़ाया. पचीस से कम विद्यार्थी संस्कृत की कक्षा में होंगे तो उन पाठशालाओं से संस्कृत विषय ही हटा दिया गया था. संस्कृत के गुण गुणवत्ता क्रम तय करते समय गिने न जाय यह नियम बना दिया गया था. पाठ्यक्रम भी इस तरह से नियोजित किया कि विज्ञान का विद्यार्थी संस्कृत भाषा विषय ले ही न सके. संस्कृत के संवर्धन के लिए कोई भी योजना प्रस्तुत की जाती थी, तो यह नींव डाली गई कि उसके साथ अरबी/फारसी के संवर्धन की योजना भी प्रस्तुत की जाय, तभी उस पर सोच विचार हो सकता है. राजस्थान में दिये गये भाषण में पं. नेहरू ने कालिदास को बड़ा या श्रेष्ठ कवि मानने से इन्कार कर दिया था. परंतु सुननेवाले यह कहाँ जानते थे कि कालिदास समझने के लिए आवश्यक संस्कृत का ज्ञान पं. नेहरू के पास नहीं था.

इस वृत्ति का प्रभाव यह हुआ कि संस्कृत का मजाक उड़ाना, एक फैशन बन गई. पं. नेहरू के युग में कीर्तनकारों ने भी संस्कृत को बहिष्कृत कर दिया था. और उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अंग्रेजी में बतियाये बिना हरिभक्ति का पुण्य प्राप्त नहीं होगा. मराठी पत्रिकाओं के दफ्तरों में भी बिना भूले संस्कृत श्लोक को छाप सके, ऐसा कर्मचारी नहीं होता है. अतः संपादक भी लेखकों से कहते हैं— ‘इन श्लोकों को तो दूर ही रखें.’

संविधान में आदेश दिया गया है कि केन्द्र सरकार की भाषा हिंदी हो और यह परिवर्तन १९६५ से पहले हो जाना चाहिए. ऐसा होते हुए भी, पं. नेहरू ने मुसलमान व दक्षिण भारतीयों को हिंदी के खिलाफ भड़काया. वे लगातार अंग्रेजी का ही पक्ष लेते रहे. इतना ही नहीं, वे तो देशी भाषाओं के भारत से ही उच्चाटन में जुटे हुए थे. अंग्रेजी शब्दों की भरमार और रोमन लिपि के उपयोग पर अधिक महत्वपूर्ण माना और देशी भाषाओं इसी तरह जीवित रखने का अनुरोध वे करते रहे. देशी भाषाओं में आँकड़े देशी लिपि नहीं, रोमन लिपि में लिखने की सख्ती का, आदेश निकाला. इससे हुआ यह कि आनेवाली पीढ़ी सीधे-

सीधे अंग्रेजी के ही प्रयोग की ओर मुड़ गई और देशी भाषा पीछे रह गई. परंतु देशी भाषा को सारी जनता के मुख से हटाकर, वहाँ अंग्रेजी को टूँसना सर्वथा असंभव कार्य है. परंतु पं. नेहरू के सपनों का भाषिक भारत यूँ था— “जहाँ मराठी का प्रयोग करनेवाले सर्वथा निरक्षर हों; जहाँ देशी भाषा का कोई साहित्य ही उपलब्ध न हों; जहाँ राज्य शासन और शिक्षा क्षेत्र से देशी भाषाओं को जड़मूल से उखाड़ दिया गया हो; जहाँ देशी भाषाएँ केवल बोली के रूप में जंगल में रहनेवाले आदिवासियों तक ही सीमित रहे; जहाँ ज्ञान से संबंधित सारी सत्ता कान्क्रेट सदृश्य शिक्षा प्राप्त जनों के हाथ में रहे.”

“यह तो अतिशयोक्ति की चरम सीमा हो गई.” मित्र ने कहा.

“नहीं, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है. प्रधानमंत्री बनने के बाद पं. नेहरू ने क्या एक बार भी हिंदी व देशी भाषाओं के संदर्भ में कुछ कहा है? उन्हें ‘क्लिष्ट’ हिंदी नहीं चाहिए थी. और यह बात झूठ है कि उन्होंने सरल हिंदुस्तानी अर्थात् उर्दू का पक्ष लिया. हैदराबाद विलीनीकरण के बाद प्रथम काम उन्होंने किया था तो हैदराबाद संस्थान में जारी शिक्षा और सासन व्यवस्था में प्रयुक्त उर्दू भाषा को हटाकर वहाँ अंग्रेजी में कामकाज प्रारंभ किया. अंग्रेजों के समय देशी रियासतों में देशी भाषाएँ उनके शासन के कामकाज की भाषा बनी रही. रियासतों के विलीन होते ही वहाँ अंग्रेजी प्रयुक्त होने लगी.”

हमारी संतान और पोते-पोतियाँ किसी भी देशी भाषा को पढ़ नहीं सकते. देशी भाषाओं के उच्चाटन की दिशा में पं. नेहरू ने बहुत ही बड़ी सफलता हासिल की है.

गांधीजी की भाषावार/भाषाधारित प्रांतों की रचना की संकल्पना का मुख्य उद्देश्य यही था कि भारतीयों के जीवन में मातृभाषा को अधिकतम स्थान प्राप्त हो. गांधीजी के समय कांग्रेस के प्रांत भी भाषाधारित ही थे. पं. नेहरू ने भाषाधारित प्रांतों-राज्यों की निर्मिति का सख्त विरोध किया. भाषाधारित प्रांत न बने इसलिए हर दूसरे प्रांत के खिलाफ एक प्रांत को उकसा कर भाषिक दंगों को निर्मित किया. पं. नेहरू के विरोध की परवाह किये बिना ही भाषाधारित प्रांतों की रचना हो ही गई. फिर भी देशी भाषाओं को शिक्षा व शासन के क्षेत्रों से पूरी तरह सीमा पार कराने का कार्य तो पं. नेहरू ने पूरा कर ही दिया. कवि कुसुमाग्रज ने कहा था कि महाराष्ट्र बना परंतु मराठी वनवास में ही है और तत्कालीन मुख्यमंत्री ने कहा कि मराठी का वनवास खत्म करने का उनका कोई इरादा नहीं है.

मेरे मित्र पूछ बैठे, “देशी भाषाओं की जिद करते हुए देश की प्रगति में बाधा उपस्थित करना क्या सही है?”

मैंने कहा, “ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है, जहाँ स्वभाषा के त्यागने पर उस समाज की उन्नति हुई है. आज चीन, जपान, रूस की तुलना में तो रहने ही दें, भारत से कई गुना अधिक स्वभाषा का उपयोग करनेवाला देश, श्रीलंका ने भारत से भी अधिक उन्नति की है. संयुक्त राष्ट्र के आँकड़े से यह बात स्पष्ट होती है.”

## हिंदू-मुस्लिम समस्या

मेरे दोस्त का दूसरा सवाल था, “ठीक है, भाषा के अलावा और किस संदर्भ में पं. नेहरू ने गांधीजी के विचारों का हनन किया?”

अब हिंदू-मुस्लिम का प्रश्न ही ले लीजिए. इस बारे में गांधीजी-नेहरू जैसे ही थे. ऐसा कोई बात है कि उन्होंने ही मुस्लिम ‘तुष्टिकरण’ की नींव रखी थी. उन्होंने खिलाफती आंदोलन शुरू किया, जिससे पाकिस्तानी मनोवृत्तियों को बल मिला और देश का विभाजन हुआ. किंतु इस प्रचार में एक भी सत्यांश नहीं है. खिलाफती आंदोलन के समय जो दंगे हुए थे, उनके लिए गांधीजी को जिम्मेदार ठहराना कृतघ्नता है. अंग्रेजों के खिलाफ खड़े होने पर डंडों की मार खानी पड़ती है. अतः मोंपल सोच रहे थे कि जेहाद के मोर्चे को अक्षतिकर निर्दोष हिंदुओं की ओर मोड़कर उनका ही कत्ल किया जाय. यदि एक बार हम ऐसा सोच भी लें कि गांधीजी ने मोंपलों को अंग्रेजों से मार दिलवायी इसलिए मुसलमानों ने हिंदुओं का सरेआम कत्ल किया, तो क्या हम इतिहास से यह पूछ सकते हैं कि नानासाहब पेशवा ने मुसलमानों को अंग्रेजों के खिलाफ उकसाया, तब मुसलमानों ने हिंदुओं का कत्ल क्यों नहीं किया? गांधीजी ने भी १९३० में सभी देशबंधुओं के साथ मुसलमानों को भी स्वतंत्रता संग्राम में सहयोग देने के लिए आवाहन किया था, तब हजारों मुसलमान ‘भारत माता की जय’ कहते हुए जेल गये थे. उन्होंने पुलिस की लाठियों की मार सही. नानासाहब पेशवा के बाद महात्मा गांधी ही वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने इतने बड़े पैमाने पर मुसलमानों के मन में भारतीय स्वतंत्रता के प्रति उत्साह जगाया था.

पाकिस्तान बनने का दोष गांधीजी के माथे धरा जाता है. परंतु यह निर्णय गांधीजी का था ही नहीं, वरन् जनमत था. १९४६ में अंग्रेजों ने पाकिस्तान के निर्माण और भारत की स्वतंत्रता के संदर्भ में जनता का रुझान जानने के लिए चुनाव लड़ाये गये और इसमें बहुत बड़ी तादाद में भारतीय मुसलमानों ने पाकिस्तान के पक्ष में अपना मत दिया है. परंतु इस चुनाव में भी सीमा के निकट के प्रदेशों में गांधीजी के नेतृत्व का स्वीकार करनेवाली कांग्रेस ही जितती थी. उसने मुस्लिम लीग को पराभूत करके अपना मंत्रीमंडल स्थापित किया था. अंग्रेजों के मन में पाकिस्तान निर्मित के बारे में, जो संदेह था, उसका मूल कारण यही सीमा के निकट के प्रांत थे, अन्यथा पाकिस्तान तो बहुत पहले ही बन गया होता. आगे चलकर ब्रिटिशों ने ही पर्याय रखा था कि यदि पाकिस्तान नहीं चाहिए तो ब्रिटिश मंत्रीमंडल की योजना का स्वीकार करें. परंतु उस पर्याय से देश दो नहीं, दो सौ टुकड़ों में विभक्त होने का भय था. इसलिए गांधीजी को पाकिस्तान के लिए ‘हाँ’ कहना पड़ा. आगे चलकर कश्मीर में व अनधिकृत पाकिस्तानी सेना ने प्रवेश किया था तब भारतीय सेना को कश्मीर भेजकर पाकिस्तान की सेना को रोक रखने की सलाह महात्मा गांधी की ही थी. गांधीजी का मत था कि कश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र में न उठाया जाय. संक्षेप में, भारत विभाजन के लिए गांधीजी को दोषी करार देना सर्वथा निराधार है.

जो बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि पं. नेहरू ने गांधीजी की मुस्लिम नीति को ही बढ़ावा दिया, वे निम्न बातें अवश्य ध्यान में रखें—

पं. नेहरू आरंभ से ही, यूँ प्रचार किये जा रहे थे कि भारत पर शासन करनेवाले तुर्क, अफगान, मुगल (शक, हूण, यवन) 'राष्ट्रीय शासनकर्ता' थे और शिवाजी विद्रोही थीं। मुस्लिम समाज हिंदू समाज से सर्वथा भिन्न है। उसकी भाषा, उसके कानून सब कुछ अलग हो और इसीलिए पं. नेहरू ने समान नागरी कानून और हिंदी का विरोध किया। कश्मीर के महाराजा के हिंदू होने के एक गुनाह के लिए पं. नेहरू सदैव उनके लिए अपशब्द ही बोलते रहे। अतः भारत में शामिल होने से महाराजा कतराने लगे थे। महाराजा के भारत में शामिल हो जाने के बाद भी उस शामिलनामे को पं. नेहरू ने नकार दिया। और अंतिम निर्णय के तौर पर तय किया कि जनमत जाना जाय। पूरी दुनिया को महाराजा के भारत में सम्मिलित होने पर कोई एतराज नहीं था, किसी ने निषेध भी नहीं दर्शाया था, पाकिस्तान ने भी नहीं। यह वास्तविकता होते हुए भी पं. नेहरू ने स्वयं ही संयुक्त राष्ट्र से कश्मीर में जनमत लिया जाने के लिए विनति की। कश्मीर में ३७० कलम लागू करते हुए उसके भारत में कभी भी विलीन न होने की व्यवस्था कर दी। हर दंगों के समय हिंदुओं को ही दोषी बताया गया और कहा गया कि मुसलमान बेचारे मार खाते हैं। इस तरह का प्रचार करवाकर मुसलमानों को ही दंगे करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता रहा। दंगों के सूत्रधार मुसलमान ही हैं, यह बतानेवाले तेईस प्रतिवृत्तों को (वृत्तांतों) पं. नेहरू ने प्रकाशित होने नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों के समय में पाकिस्तान सहित भारत में हिंदू-मुस्लिम दंगों की संख्या छब्बीस थी और नेहरू के शासन काल में यह संख्या ब्रिटिश भारत के दो-तिहाई बचे भारत में नब्बे तक बढ़ गई थी। भूतकाल में प्रचार यह किया गया कि मुसलमानों ने हिंदुओं के मंदिरों को ढहाकर वहाँ मस्जिदें बनवायी थीं। परंतु उन मंदिरों को हिंदुओं द्वारा वापस माँगना अप्रत्यक्ष निंदनीय कार्य है। इस प्रचार से अयोध्या जैसा प्रश्न उद्भूत हुआ। यदि उन्होंने इस प्रश्न पर मुसलमानों से बातचीत करने में रुचि दिखाई होती, तो यह प्रश्न सहज ही हल हो सकता था। आज की घटनाओं से यह स्पष्ट है कि मुसलमान आज भी इस मसले पर बातचीत करना चाहते हैं।

महात्मा गांधीजी ने उपरोक्त व वर्णित कोई भी कर्म किया ही नहीं है। 'यंग इंडिया' पत्रिका के एक लेख में स्पष्ट कहा गया है कि मुसलमान दंगेबाजी में अगुवाई/पहल करते हैं। छत्रपति शिवाजी पर लिखे श्री शहा के गुजराती पुस्तक में लिखी प्रस्तावना में उन्होंने शिवाजी के लिए प्रशंसोद्गार लिखे हैं। 'यंग इंडिया' में यह लिखा है कि सदैव शिवाजी के गलत राह पर चलने वाले देशभक्त के रूप में की जानेवाली निंदा की है। परंतु मूल वाक्य कुछ इस प्रकार है— 'यदि अहिंसा के मार्ग पर चलना संभव होकर भी शिवाजी हिंसा के मार्ग पर चलकर अपना उद्देश्य पूरा करता तब मेरे तत्वों के अनुसार उसे मार्गच्युत देशभक्त कहने की मजबूरी उपस्थित हो जायेगी। ऐसे देशभक्तों में उन्होंने गैरीबाल्डी तथा वाशिंगटन

आदि नाम भी गिने हैं।

भारतीय राष्ट्रीयता में मुसलमान शामिल हो सकें, इसलिए इधर महात्मा गांधी उनकी मित्रता कर रहे थे और उधर मुसलमान हिंदुओं से लड़ते ही रहे और नेहरू को मुगलादि आक्रमणकारियों के वंशज समझते रहें इसलिए पं. नेहरू उन्हें उकसाते जा रहे थे। यही गांधी व नेहरू के हिंदू-मुस्लिम नीति का अंतर है।

हिंदू-मुसलमानों के बीच झगड़े बढ़ाने के पीछे पं. नेहरू का खास उद्देश्य था। वे चाहते थे कि संपूर्ण भारत के मुसलमान उनके बारे में ऐसा सोचें कि 'हिंदू राक्षस हैं। मैं न होता तो वे मुसलमानों को खा जाते।' पं. नेहरू को यह लग रहा था कि ऐसा करने से मुस्लिम देश उन्हें मुस्लिम रक्षक के रूप में स्वीकार करेंगे।

१९४० तक मुसलमानों के अधिकांश जमातियों को हिंदू कानून लागू होता था। हिंदू-मुसलमान समान नागरी कानून लागू करने का आदेश संविधान न दे ही दिया है। फिर भी पं. नेहरू ने मुसलमानों के लिए अलहिदा कानून बनाया। पं. नेहरू ने दुर्गादचास को कहा था कि भारतीय संसद द्वारा पारित कानून मुसलमानों पर लागू किया जायेगा, तो मुस्लिम देश नाराज हो जायेंगे। स्पष्ट है पं. नेहरू चिंतित थे तो अपनी छवि को लेकर, भारत हित की छवि के लिए नहीं।

वित्त नीति

आर्थिक नीतियों में भी पं. नेहरू व गांधीजी की नीतियों में जमीन-आसमान का अंतर है। स्वराज्य प्राप्ति के तुरंत बाद ही महात्मा गांधीजी ने पं. नेहरू को एक पत्र लिखकर देश की आर्थिक पुनर्रचना के संदर्भ में अपने विचार लिख भेजे थे। उसमें मुख्य मुद्दा यह था कि गांव को विकास का मुख्य केन्द्र बिंदु माना जाय। क्योंकि अधिकांश जनता गांव में रहती है। गांव में ही खेती से जुड़े उद्योग धंधों को बढ़ावा दिया जाय जिससे गांव के लोग आजीविका के लिए शहर की ओर नहीं दौड़ेंगे और जितना संभव हो उतना, हमें उपलब्ध साधनों पर ही निर्भर रहना चाहिए। परिणामस्वरूप विदेशियों के दबू बनकर रहना न पड़े।

पं. नेहरू ने महात्मा गांधीजी को बहुत कुछ सुना दिया। उनके अनुसार महात्मा गांधीजी के विचार सड़ियल या कुत्सित हैं। नागरीकरण ही विकास का प्रथम चरण है। बड़े-बड़े उद्योगधंधों में वृद्धि होनी चाहिए। आर्थिक योजना आंकते समय साधनों के विचार की जरूरत नहीं है। देश के आर्थिक विकास की योजना बनाना याने बनिया की तरह दुकान खोलते समय व्यय व लाभ का विचार करना कतई नहीं है। और ऐसी कई बातें उन्होंने महात्मा गांधी को सुनाई थीं। ये सारी बातें केवल गांधीजी को दिये उत्तर में ही थीं, ऐसा नहीं था, वरन् समय-समय पर दिये गये भाषणों में उनकी ही प्रेरणा से आंकी गई योजनाएँ स्पष्टतः व्यक्त हैं। लगता है कि पं. नेहरू लेनिन-स्टालिन के विचारों को तोतारटंत की तरह भारतीय जनता के समक्ष रखे जा रहे थे। अन्य अज्ञ भारतीय लोगों की तरह पं. नेहरू भी यही सोच रहे थे कि रूस यह बड़ा विकसित देश है।

परिणामस्वरूप भाखड़ा नांगल, पोलाद कारखाना आदि योजनाओं को करते समय सरकार ने यह सोचा ही नहीं था कि इसमें कितना व्यय होगा और उससे होनेवाला लाभ व्यय की तुलना में अधिक होगा या नहीं। हमारे पोलाद के कारखानों का लोहा सोने से अधिक महंगा होगा, तो वह कारखानों की भंडार में ही पड़ा रहने लगा। गांव के लोग बड़ी तादाद में शहरों की ओर दौड़ रहे थे और सारे शहर अव्यवस्थित बनते जा रहे थे। खुले आम गंदगी फैलाते ये केन्द्र मुंबई में हर तरफ नजर आने लगे थे। परिणामतः पं. नेहरू की योजनाओं के कारण १९४७ में मानव के विकास की विश्व कतार में भारत का क्रमांक ३२ वाँ था, वह पं. नेहरू और नेहरूवादी सरकार के कार्यकाल में १४६ तक पीछे हट गया। अटलबिहारी वाजपेयी से पहले भारत का क्रमांक पाकिस्तान के बाद आता था। बांग्ला देश भी बालमृत्यु के संदर्भ में भारत से आगे था। पं. नेहरू के सत्ता पर आने के समय भारत के पास हजारों करोड़ों का पौंड पावना था। उसे पं. नेहरू की योजनाओं में सिर्फ बिखेर दिया गया। भारत के तीस प्रतिशत लोग गरिबी रेखा से नीचे आ गये।

### विदेशी नीति

पं. नेहरू की विदेशी नीति महात्मा गांधी की विदेशी नीति से कितनी जुड़ी थी यह जानना होगा तो प्रथम गांधीजी की विदेशी नीति कहना ही गलत होगा। क्योंकि महात्मा गांधीजी कभी भी भारत के शासक नहीं रहें। वे प्रचलित शासक के खिलाफ आंदोलन करनेवाले एक राजनीतिक व्यक्तित्व या नेता थे।

स्वतंत्रता आंदोलन के समय पं. नेहरू भी शासनकर्ता नहीं थे। फिर भी उन्हें यही लगता था कि वे विदेश नीति पर अमल कर सकेंगे। वे प्रतिवर्ष कांग्रेस के अधिवेशन में विदेश नीति संबंधी प्रस्ताव रखते थे। स्पेन की सरकार हिटलर व मुसोलिनी की चीन, जपान जैसे फासिस्ट विरोधियों से जंग जारी रहने के कारण हमने उन्हें सहायता करनी चाहिए आदि मुद्दे इनकी विदेशी नीति में शामिल थे। पर सवाल यह था कि राज्य कांग्रेस के हाथों नहीं था, फिर वह स्पेन चीन को मदद भी कैसे करेगी? क्या गेहूँ की कुछ बोरियाँ हाथ दो-चार डाक्टरों को सैनिकों की दवा-दारू के लिए भेज कर! गांधीजी के साथ कांग्रेस के सभी नेता इसे बचकाना व्यवहार मान रहे थे। अतः पं. नेहरू से उलझने के बजाय वे पं. नेहरू के सभी प्रस्ताव विना किसी वादविवाद के पास करा देते थे। क्योंकि ऐसे प्रस्ताव पेश होकर भी न के बराबर ही होते हैं। स्पेन को गेहूँ की बोरियाँ तथा चीन को डाक्टर भेजने का काम कांग्रेस के नाम पर पं. नेहरू ही करनेवाले थे! अब स्पेन को भारतीय गेहूँ की बोरियाँ और चीन को भारतीय डाक्टरों के दल से भला कैसी आपत्ति हो सकती है!

पं. नेहरू स्वयं को विदेशी नीति के तज्ञ समझते थे। उनकी विदेशी नीति का सूत्र था— कम्युनिस्ट देशों का समर्थन का पृष्ठपोषण करना था। क्योंकि पं. नेहरू स्वयं कम्युनिस्ट पक्ष के सदस्य न होकर भी कम्युनिस्ट ही थे। इस बारे में जिनके मन में संदेह उठा होगा, वे सीताराम गोपाल की पुस्तक 'नेहरूवाद का मूल व विकास' अवश्य पढ़ें।

इसके विपरित गांधीजी का कहना था कि कांग्रेस को विदेशों में भारतीय स्वतंत्रता के लिए समर्थन पाने के पक्ष में किये जाने वाले प्रचार पर भी पाबंदी लगानी चाहिए। अपने ही देश में स्वतंत्रता की मांग उतनी पुरजोर नहीं होगी तो दूसरों से किस मुँह से हम स्वतंत्रता के लिए समर्थन देने की बात कर सकेंगे? जब यहाँ स्वतंत्रता का आंदोलन उग्र रूप धारण करेगा, तब ही अन्य देशों का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा। हमारा एकमात्र लक्ष्य हमारे आंदोलन को तीव्रतर बनाना होना चाहिए।

सन् १९४२ में ब्रिटिशों के खिलाफ अंतिम विद्रोह करने का निर्णय जब महात्मा गांधीजी ने लिया था तब पं. नेहरू ने कहा था कि “हमें ऐसी बगावत नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इस समय रूस ब्रिटिशों का मित्र है और ब्रिटन के खिलाफ आंदोलन करने का अर्थ होगा रूस के खिलाफ आंदोलन करना।” गांधीजी तथा शेष सभी कांग्रेस नेताओं का कहना था कि रूस अपने हित की रक्षा स्वयं कर सकता है। हमें भारत के हितों की रक्षा करनी है।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद केवल छह महिनों तक ही गांधीजी जीवित थे। इन छह महिनों में विदेश नीति संबंधी किसी बात को नहीं उठाया गया। उनके उपस्थित होते ही गांधीजी ने क्या कहा होता, इसकी कल्पना सहज की जा सकती है। पं. नेहरू को छोड़ दें तो शेष सभी कांग्रेस नेताओं के विचार गांधीजी जैसे ही थे। यह बात सरदार पटेल की नीति से बार-बार पुष्ट होता जा रहा है। जब पाकिस्तान के प्रधानमंत्री १९५० में कश्मीर संबंधी बातचीत करने के लिए भारत आये थे तब पं. नेहरू के प्रशांसापरक आत्मकथाकार एस. गोपाल लिखते हैं कि पं. नेहरू ने कश्मीर पाकिस्तान को दे देने का निर्णय ले लिया था। परंतु पं. नेहरू के विचारों में पलटी खाई, क्योंकि पाकिस्तान अमरिका के कम्युनिस्ट विरोधी व्यूह में प्रवेश करके अमरिका से अधिकाधिक सेना संबंधी सहायता लेने का निर्णय कर चुका था। तब कम्युनिस्टों का शत्रु, वह हमारा भी शत्रु है, यह मानकर पं. नेहरू ने कश्मीर का उदक पाकिस्तान के हाथों पर उँडेलने का विचार रद्द कर दिया।

आगे चलकर भी चीन को तिब्बत दे डालना, चीन को चुपचाप अक्सैचीन दे देना आदि पं. नेहरू के कृत्यों का मकसद भी कम्युनिस्ट आंदोलन को समर्थन देना ही था।

डचों ने कहा था कि “इंडोनेशिया पर जपान ने कब्जा करने से पूर्व वहाँ हमारा शासन था, अतः उन्हें हमें इंडोनेशिया वापस करना चाहिए।” इस पर पं. नेहरू ने कहा था कि इंडोनेशियन लोग डच हैं ही नहीं। अतः वहाँ आपका भी राज्य होगा तो साम्राज्यवाद ही कहलायेगा। हम स्वराज्यवादी हैं, साम्राज्यवाद नहीं मानते। परंतु जब चीन कहता है कि “तिब्बत पर अंग्रेजों का शासन होने से पूर्व तिब्बत हमारा था अतः उसे हमें दे दिया जाय”, तो पं. नेहरू ने चीन से कहा था कि “तिब्बती लोग चीनी नहीं हैं अतः किसी जमाने में आपकी सत्ता तिब्बत पर रही भी होगी तो हमें वह स्वीकार नहीं है। हम तिब्बत के स्वयं निर्णय का अधिकार स्वीकार करते हैं।” डच व चीनियों में ऐसा भेद करने का कारण यह था कि

चीन कम्युनिस्ट बन चुका था और पं. नेहरू के अनुसार कम्युनिस्ट देश द्वारा किये गये आक्रमण को विलीनीकरण कहा जाता है. अब यदि तिब्बत की मांग जपान जैसा फासिस्ट देश कर देता तो पं. नेहरू का व्यवहार उपरोक्त व्यवहार से भिन्न ही होता. पं. नेहरू सोच रहे थे कि आखिरकार जीत तो कम्युनिस्टों की ही होती है और हमने कम्युनिस्ट आंदोलन की सहायता की तो कम्युनिस्टों के इतिहास में उनका नाम अजरामर हो जायेगा.

महात्मा गांधीजी तथा पं. नेहरू के विचारों में जो मूलतः भेद है, वह उनके भारत संबंधी दृष्टिकोणों से स्पष्ट होता है. पं. नेहरू का राजनीति के प्रति आकर्षण कम्युनिज्म के कारण था, भारत की स्वतंत्रता की आकांक्षा से उद्भूत नहीं. बीसवीं सदी के तीसरे दशक में भारत में कम्युनिज्म भारतीय राष्ट्रीयता के खिलाफ खड़ा नहीं हुआ था. ब्रिटन का शासन साम्राज्यवादी था और कम्युनिज्म साम्राज्यविरोधी है. परंतु भारतीय कम्युनिज्म उन दिनों स्वराज्यवादी ही था. पं. नेहरू उनके कांग्रेस आंदोलन में सहभागी होने का कारण अपनी आत्मकथा में बताते हुए कहते हैं कि यह आंदोलन कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए पोषक है.

पं. नेहरू के मन में भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति उत्साह का भाव माऊण्ट बॅटन पति-पत्नी के संपर्क में आने तक ही बना रहा. जैसे-जैसे यह संपर्क दृढ़ होता गया वैसे-वैसे पं. नेहरू का भारतीयता के प्रति ड़ाह भाव बढ़ता ही गया. गॅल्ब्रेथ से उन्होंने कहा था कि वे भारत पर राज्य करनेवाला अंतिम अंग्रेज हैं. पं. नेहरू के इस एक वाक्य से उनकी सारी नीतियों का रहस्य खुल जाता है. पं. नेहरू के प्रधानमंत्री रूपी अवतार का मकसद था, भारत की हिंदू पहचान नष्ट होना और उसे अंग्रेज बनाना. वस्तुतः स्वयं अंग्रेजों को ही ईसाई धर्म के प्रति खास उत्साह नहीं था. अतः उन्नीसवीं सदी में भारत का अंग्रेजीकरण अर्थात् ईसाईकरण का समीकरण पं. नेहरू ने तय कर रखा था, वह अब पं. नेहरू का था ही नहीं. अतः वे भारतीय राष्ट्रीयता आदि को कुछ न मानते हुए कहते थे कि जो कुछ करना है उसे वे स्वयं ही करेंगे. अर्थात् उनकी कल्पना का नया भारत अंग्रेजी भाषी तथा ब्रिटन के कम्युनिस्ट पत्रिका 'इलिवांकर' के दृष्टिकोण जैसा कम्युनिस्ट राष्ट्र था.

ऐसा करने में सबसे बड़ा रोड़ा था हिंदूता का. अतः पं. नेहरू ने हिंदूता के प्रति ड़ाह भाव रखा. हिंदुओं के रीति-रिवाज और मुख्यतः उनकी भाषा को नष्ट करने का प्रण उन्होंने कर लिया था. भाषाएँ नष्ट न हो पायीं तो क्या? उन्हें निष्प्रभ तो किया जा सकता है और जब सुशिक्षित तथा सत्ताधीशों की एकमात्र भाषा के रूप में अंग्रेजी की स्थापना हो जायेगी और भारत अंग्रेजी देश कहलाया जायेगा.

□ □

## ॥ पं. नेहरू के बाद का नेहरूवाद ॥

### लाल बहादूर शास्त्री

पं. नेहरू ने जब वे जीवित थे, तब से ही अपना काफी काम लाल बहादूर शास्त्री को सौंप दिया था. अतः कांग्रेस ने पं. नेहरू के बाद तुरंत ही लाल बहादूर शास्त्री को प्रधानमंत्री बना दिया. अक्सर सब यही सोचते हैं कि लाल बहादूर शास्त्री नेहरूवादी नहीं थे. इसका प्रमुख कारण यह था कि उन्होंने पाकिस्तान से जुड़े विवादों को सदैव के मिटा देने के लिए पाकिस्तान के खिलाफ सैनिकी कारवाई की. आम तौर पर यह साधार सोचा जाता है कि पं. नेहरू ऐसा कभी भी नहीं करते. परंतु लाल बहादूर शास्त्री भी ऐसा करते समय यह नहीं सोच रहे थे कि वे पं. नेहरू के तत्त्वों के विरोध में जाकर यह सब कर रहे हैं. क्योंकि पं. नेहरू ने ही लोकसभा में यह कहा था कि कश्मीर पर यदि आक्रमण होगा तो उसे भारत पर आक्रमण करना ही समझा जायेगा और तदनुसार कारवाई संपन्न होगी. शास्त्री ने जिस तरह शेख अब्दुल्ला को पकड़ा था, उसी तरह पं. नेहरू ने भी पकड़ा था. जब अयुब खान ने कच्छ के प्रांतों में पाकिस्तान पर आक्रमण किया था तब शास्त्री जी ने यही कहा था कि जब हमें यह लगेगा कि पाकिस्तान आक्रमण कर रहा है तब हम चाहेंगे उस स्थान विशेष से भारत पर आक्रमण करेंगे. पं. नेहरू ने कहा था कि कश्मीर के आक्रमण को भारत पर आक्रमण माना था और सैनिकी कारवाई करने की बात कही थी. परंतु मुझे नहीं लगता कि वे सचमुच ऐसा कुछ कर जाते और शास्त्रीजी को भी नहीं लग रहा था.

शास्त्रीजी ने जनरल चौधरी को लाहौर पर आक्रमण करने की अनुमति अवश्य दी थी, परंतु शेष सभी कामों में वे कट्टर नेहरूवादी थे. उन्हें कश्मीर की झकझक मिटानी होती तो इस झंझट को जारी रखनेवाला ३७० कलम रद्द कर देते. परंतु ऐसा उन्होंने कुछ नहीं किया. क्योंकि यह कलम पं. नेहरू की खास संतान जो थी.

शास्त्रीजी के पक्के नेहरूवादी होने का एक उदाहरण है. वह है— श्रीलंका से किया गया समझौता. यह समझौता भारतीय मूल के श्रीलंकावासियों से संबंधित था. इस समझौते के अनुसार सौ वर्ष पूर्व श्रीलंका में गये भारतीयों को वापस भारत में लेने की स्वीकृति दी. वस्तुतः श्रीलंका के अन्य वासी भी भारतीय मूल के ही हैं. परंतु श्रीलंका का सत्ताधारी वर्ग मुख्य रूप से बिहार से आया है और वह तमिल भाषियों को विदेशी समझता है. सौ वर्ष पूर्व भारत से श्रीलंका में जाकर बसे लोग, वस्तुतः लंकावासी ही हैं और उन्हें निकाल भगाने का अधिकार श्रीलंका सरकार को भी नहीं है. क्या शास्त्रीजी के मन में कभी ऐसी बात आयी थी कि भारत में सौ वर्षों के पहले आनेवालों को तो भूल ही जाइए, पर पाकिस्तान से चले आये घूसपैठियों को क्या भारत ने पाकिस्तान वापस भेजा है? दुनिया



के मात्र निर्वासितों को ही नहीं, घूसपैठियों को भी पोसने का ठेका भारत ने ले रखा है. पं. नेहरू की तरह ही शास्त्रीजी भी यही सोचते रहे कि भारतीयों को भारत छोड़कर अन्यत्र आश्रय लेने की जरूरत नहीं है. स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व एक बार जब सभी देशों ने ज्यू लोगों पर बहिष्कार घोषित किया ता उन लोगों को भारत में बस्ती करने देने की सूचना एक बार पं. नेहरू ने दी थी. परंतु के आस्ट्रेलिया में भारत के उच्चायुक्त के रूप में जनरल करिअप्पा जाने पर उन्होंने कहा कि “आस्ट्रेलिया जैसा विस्तृत भूभाग तथा कम लोकसंख्या होते हुए भी अति लोकसंख्या और तुलना में छोटे भूखण्ड के भारतीय अपने देश में बसे, इस कल्पना से नाराज हैं. यह बात बड़ी दुखदायी है.” जनरल करिअप्पा के यूँ कहने का परिणाम यह हुआ कि पं. नेहरू ने उन्हें वापस बुला लिया.

### भूसे की दुर्गा

शास्त्रीजी के बाद इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं. पं. नेहरू से हटकर उनके व्यवहार की आशा ही नहीं थी. परंतु उनके ही राज्यकाल में एक ऐसी घटना घटित हुई कि जिस संघ को नेस्तनाबूद करने की कोशिश इंदिरा गांधी ने की थी उसी संघ का प्रमुख भी इस घटना से इतने अभिभूत हुए थे कि उन्होंने इंदिरा गांधी को अटल बिहारी वाजपेयी से श्रेष्ठ प्रधानमंत्री कह डाला. इससे एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि संघ ने जितनी व जैसी सेवा देश को दिलायी थी उससे भी अधिक भला इस घटना के द्वारा हुआ है, इसे मानकर एक ही नहीं, अनेकों संघ मिलकर भी इंदिरा गांधी की बतैया नहीं ले पायेंगे. भला ऐसी लोकोत्तर घटना कौन-सी थी? तो उत्तर है— बांग्ला देश युद्ध. इस युद्ध में भारत का पूर्व पाकिस्तान को पराजित करना संघ की नजरों में बहुत बड़ी उपलब्धि थी. अतः संघ के इस प्रचलित मत को जानने के लिए घटना की चर्चा आवश्यक है.

### ये घटनाएँ ऐसी

भारतीय फौजों ने आज का बांग्ला देश अर्थात् पहले का पूर्व पाकिस्तान को घेर लिया और पाकिस्तान की ९०००० फौज को कैद कर लिया. परंतु तुरंत ही भारतीय फौजों को हटा लिया गया और पूर्व पाकिस्तान को पाकिस्तान से स्वतंत्र देश के रूप में बांग्ला देश नाम से मान्यता प्राप्त हुई. पाकिस्तान से हुए समझौते के अनुसार इन ९०००० कैदियों को छोड़ दिया गया. परंतु पाकिस्तान ने जिस छांब को अधीन कर लिया था, वह आज भी पाकिस्तान के कब्जे में ही है.

इस युद्ध से भारत को क्या मिला? पाकिस्तान का जीता गया सारा प्रदेश छोड़ दिया गया. कश्मीर में सेनाओं की ताजा स्थिति को बनाये रखा गया. इसमें भारत के कश्मीर पर कब्जा पाने की दृष्टि से भारत को प्राप्त प्रदेश महत्वपूर्ण नहीं था. इसके विपरित भारत व कश्मीर को जोड़नेवाली एक संकरी सी पट्टी है, उसमें से महत्वपूर्ण छांब प्रदेश भारत को गँवाना पड़ा. उसकी रक्षा के लिए भारत ने ५०००० सैनिकों को वहाँ उतारा था. कहना

यह है कि पाकिस्तान ने पश्चिम की ओर ५०००० सैनिकों को पराजित किया.

अधिकृत सूत्रों से यह कहा गया है कि यह लड़ाई पश्चिम पाकिस्तान से आये शरणार्थियों को पाकिस्तान भेजने तथा भविष्य में वहाँ से कोई भी शरणार्थी भारत में प्रवेश न करें, इस हेतु लड़ी गयी थी. कुल ८५ लाख हिंदू मार्च से नवम्बर १९७१ तक की कालावधि में भारत आये थे. यह बताया गया कि उन सभी को लड़ाई जीतने पर वापस भेज दिया गया है. परंतु इस संदर्भ में सूक्ष्म अध्ययन करनेवाले लेखकों का दावा है कि इन पच्चासी लाख में से कम से कम तीस लाख लोग भी बांग्ला देश पहुँचे ही नहीं हैं (Organizer, 8/5/2005) यह मानकर चले कि हिंदू शरणार्थी स्वेच्छया पाकिस्तान में वापस जाने के लिए तैयार नहीं होंगे तो इन आँकड़ों की विश्वसनीयता दृढ़ हो जाती है. चन्द्रपुर के घने जंगलों में शिबिरों में रह चुके कई बांग्ला देशी हिंदुओं का स्थायी निवासी बन जाना नजर आता ही है. अतः युद्ध का मुख्य उद्देश्य कि ‘आये शरणार्थी लौट जाय’ सफल नहीं हुआ. आगे शरणार्थियों का आना बंद होना, तो दूर की बात है. शीतांशु गुप्त नामक लेखक ने कहा है कि शेष बचे हुए दो करोड़ हिंदुओं को भी धीरे-धीरे भगाया जा रहा है [My People Uprooted by Tatnagata Rai (Organizer, 8/5/2005)] शरणार्थियों के साथ ही मुसलमान घूसपैठियों का आना पं. नेहरू के समय से ही जारी था. अब वे करोड़ों की तादाद में आने लगे.

कहना यह है कि इस जीत ने ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ जिससे पाकिस्तान पर कुछ रोब पड़ा होगा. पूर्व पाकिस्तान में पाकिस्तानी सैनिकों की हार जरूर खुशगँवार घटना थी. परंतु इस युद्ध में भारत के पश्चिमी सीमा को देखते हुए भारतीय सैनिकों की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो पाई है. पाकिस्तान को इस युद्ध में उनकी हार होने का अफसोस जरूर है क्योंकि इस युद्ध ने पाकिस्तान के दो टुकड़े हो गये हैं. परंतु इनमें से कोई भी एक टुकड़ा भारत को नहीं मिला. जिस बांग्ला देश के लिए भारतीय जवानों ने अपने प्राण गँवाये, क्या वह भारत को अपना मित्र मानता है? बांग्ला देश मुक्त होते ही जैसे-तैसे ‘सेक्युलर’ बना रहा. पर जल्द ही उसने घोषित कर दिया कि वह मुस्लिम राष्ट्र है और हिंदुओं को निकाल देने लगा. इतना ही नहीं, करोड़ों की तादाद में मुसलमान घूसपैठियों को भारत भेजने लगा. चीन से सैनिकी सुलह की. पहले पश्चिम पाकिस्तान की बहुत ही कम सेना पूर्व पाकिस्तान में थी और पूर्व पाकिस्तान भारत के लिए कोई आपत्ति खड़ा करने की संभावना भी न के बराबर थी. अब चीन की सहायता से बांग्ला देश पाकिस्तान के बराबर ही सशक्त बन गया है. अर्थात् पूर्व और पश्चिम की दोनों सीमाओं पर प्रबल शत्रु राष्ट्र राज्य कर रहे हैं.

अब हजारों जवानों की जान और करोड़ों रूपयों का व्यय करके भारत ने क्या हासिल किया? पूर्व पाकिस्तान के पराजय की आत्मसंतुष्टता! परंतु इस आत्मतुष्टि के मिटने में कोई विलंब नहीं लगता, जब हम यह जान लेते हैं कि छांब की युद्धभूमि में प्राप्त पराजय के प्रति अज्ञानता तथा इस ओर सोच-समझकर ध्यान न देना या चश्मपोशी करना, यह

जीत पर निर्भर है।

श्री मा. गो. वैद्य, संघ के प्रमुख नेता, बांग्ला देश युद्ध से भारत को कुछ लाभ न होने की बात करते हुए कहते हैं कि इंदिरा गांधी का अवधान इस बात की ओर अधिक था कि पाकिस्तानी उनकी हार से दुखी न हो पाये। आपातकाल की अवधि में इंदिरा गांधी की दयालुता का अनुभव श्री वैद्य को हुआ ही था। स्पष्ट है कि अपनी रहमदिली इंदिरा गांधी ने दुश्मनों के लिए रख छोड़ी थी। परंतु प्रश्न यह है कि दुश्मन के प्रति इतना प्यार था तो रूस की सहायता लेकर उसे हटाने का खटाटोप भला क्यों किया गया? क्या उनके हाथों से बांग्ला देश के छूट जाने और नब्बे हजार की फौज के कैदी बनाये जाने का दुख पाकिस्तान को नहीं हुआ था?

सिमला करार की बातों में प्रथम रूस के कूटनीतिज्ञों ने ध्यान नहीं दिया था, अतः बातें भी आगे बढ़ नहीं रही थीं। खबर यह थी कि रूस कूटनीतिज्ञों के दबाव से वह शीघ्र ही खत्म भी हो गई। लड़ाई के सूत्रों की तरह सुलहनामे के सूत्र भी रूस के ही हाथों में थे। इसमें आश्चर्यजनक ऐसा कुछ नहीं था। सैनिक सहायता करनेवालों का हाथ हर सुलहनामे में होता ही है।

ठीक ही है। यदि युद्ध जीतने के बाद रहमदिल इंदिरा गांधी सुलहनामे की बातचीत के सारे सूत्र श्री वैद्य को सौंप दिये होते तो वैद्य ने क्या किया होता? वे कहते कि “कश्मीर पर का अपना हक छोड़ दीजिए और सभी हिंदू शरणार्थी और घूसपैठियों को वापस बुला लें”, अन्यथा .....? इस ‘अन्यथा .....’ से आगे वैद्य ने कहा होता कि “हम आपके नब्बे हजार कैदियों को नहीं छोड़ेंगे।” पलभर के लिए यह मान लें कि कैदी वापस न करने की जिद छोड़ देने के लिए क्या रूस हम पर दबाव नहीं डालता? यह भी सही है। तब पाकिस्तान कहता, “ठीक है, नब्बे हजार मेहमानों को आप ही रखिए, उनके साथ आपको जिनिव्हा के संविदा (समझौता) के अनुसार व्यवहार करना होगा और उन्हें देखने के लिए समय-समय पर संयुक्त राष्ट्र अपने पर्यवेक्षकों को भेजती रहेगी। आप इन अति महत्वपूर्ण अतिथियों को मनचाहे दिनों तक पोसते रहिए।”

संक्षेप में, इस युद्ध से पाकिस्तान को मजबूर कर सके ऐसा कुछ हमारे हाथ नहीं लगा। वैद्य कहते हैं कि उन्हें छीनी हुई भूमि उन्हें वापस नहीं लौटायेंगे और इस कथन के पीछे यह बात छिपी है कि यदि रूस की सहायता न ली होती, तो जितनी विजय इस युद्ध में हासिल हुई थी, हमने उतनी ही हासिल कर लेते। विश्वकोश जैसा सरकारी प्रकाशन भी स्पष्ट रूप से कहता है कि इस युद्ध में रूस द्वारा अखंड रूप से शस्त्रास्त्रों की पूर्ति होती रही इसलिए भारत यह युद्ध जीत पाया। फिर उधर इस पूर्ति के मार्ग में अडंगा डालने के लिए चीन तत्पर ही था। परंतु केवल रूस ही इस चीन को ताक़ीद दे सकता था, अन्यथा इस युद्ध में जीत असंभव थी। रूस का अंदाज था दस दिनों में यह युद्ध समाप्त होना चाहिए था। वैसा नहीं हुआ। तब रूस के सेनापति भारत की राजधानी दिल्ली में अड्डा जमाए बैठे

थे। उन्होंने क्या किया, यह तो घोषित नहीं किया गया। परंतु इसमें संदेह नहीं कि युद्ध दस नहीं तो तेरह दिनों में खत्म करने की कोशिश में जुट जाने के लिए ही वे आये थे। और इस बात के लिए भी कोई संदेह शेष नहीं रह जाता कि युद्ध जल्द खत्म करने के लिए आवश्यक सहायता भी उनसे ही मिली होगी। युद्ध के आखरी दिनों में अमरिका के आण्विक युद्ध नौकाएँ बंगाल के उपमहासागर में आकर डेरा डाल चुकी थीं। उस पर दबाव डालने के लिए रूस की बराबरी की युद्ध नौका वहाँ तैनात ही थी। निक्सन के कागजादों में यह कहा गया है कि इस अमरिकन युद्ध नौका को भेजने का एकमात्र उद्देश्य भारत को पश्चिम पाकिस्तान पर चढ़ाई करने से रोकना था। (हितवाद, ९/५२००५) अब इस नौका को अरब सागर में न भेजते हुए बंगाल के उपमहासागर में भेजने का अर्थ क्या था? मुझे ऐसा लगता है कि यह नौका नब्बे हजार कैदियों को ले जाने के लिए आयी थी किंतु वे कैदी समुद्र तट तक नहीं पहुँच पाये। और योजना असफल रही। पाकिस्तानी सिपाहियों की बातचीत कि अमरिकन युद्ध नौका उनकी सहायता के लिए आ रही है, भारतीय दूरध्वनि पर अंकित किया गया था।

तात्पर्य यह है कि चीन व अमरिका को रोकने का कार्य रूस ने किया और शस्त्रास्त्र की आपूर्ति भी की। फिर ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिए यह कहने का अधिकार आपको नहीं है? क्या ऐसा वैद्य कह पाते? युद्ध जीत के भी कुछ भी हासिल नहीं हुआ। इसकी वजह इंदिरा गांधी की कल्पित उदारता में खोजने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में युद्ध हमने जीता कहने में जीतनेवाले की कोई सामर्थ्य हममें नहीं थी। शत्रु का मुँह खोलने के लिए उसकी नाक दबानी चाहिए परंतु शत्रु की नाक तो हमारे हाथ नहीं आयी थी।

यह एक खुला सत्य है कि इस युद्ध का सूत्रधार रूस ही था। प्रधानमंत्री बन जाने के बाद इंदिरा गांधी ने कांग्रेस अध्यक्ष कामराज को छोड़ रूस के प्रतिनिधियों को अपना परामर्शदाता बना दिया था। यह बात तब अधिक मुखर हुई जब कामराज के मना करने पर भी रूपये के अवमूल्यन करने की अनुमति रूस की सलाह पर दे दी। ताश्कंद संविदा से रूस को हक मिल चुका था कि वह भारत व पाक में मेल या सामंजस्य बनाये रखे। इसके अलावा रूस ऐसे मौके की तलाश में रहता ही था कि वह पाकिस्तान को दिखाता रहे कि उससे बैर रखने पर नुकसान पाकिस्तान का ही होगा। अतः हिंदू व स्वतंत्र बांग्ला देशावादी मुसलमान दोनों लगभग एक करोड़ शरणार्थियों का रेला चला आया, तब रूस कूटनीतिज्ञों ने इसके खिलाफ कुछ कदम उठाने की सूचना अवश्य दी होगी। जिस स्त्री को लग रहा था कि तीन करोड़ घुसपैठियों के भारत में चले आने से कोई ऐतराज नहीं था, उसके मन में कुछ लाख शरणार्थियों के आने के कारण युद्ध करने की बात उठ सकेगी, यह बात असंभव-सी लगती है।

रूस ने याह्या खान को पत्र लिखकर पूर्व पाकिस्तान के नेता मुजीबूर रहमान से

समझौता करने को कहा था. इस पर याह्या खान ने इसे उनका अंदरूनी मामला कहा. तब रूस ने उत्तर में लिख भेजा कि “इसका नतीजा बहुत भयंकर ही होगा.” इसका अर्थ यही हुआ कि “पाकिस्तान को युद्ध का सामना करना ही पड़ेगा.” अब कहिए युद्ध का प्रवर्तक किसे कहे?

युद्ध जीतने के लिए आवश्यक वह सारी जानकारी रूस भारत को देता रहा. सागर की पूरी जानकारी न होने के कारण पाकिस्तान की गाझी पनडुब्बी डूब गई थी. इसका कारण यह है कि समुद्र की परिस्थिति की टोह लेते रहने से ऐसी दुर्घटना टल सकती है, जैसा कि भारत की कोई भी पनडुब्बी डूबी नहीं थी. क्योंकि सागर की तलहटी के परिवर्तनों से अवगत होने के लिए सदैव निरीक्षण-सर्वेक्षण करते रहना आवश्यक होता है, जिसे रूस ने किया था और उसकी तफसील हमें उपलब्ध करा दी थी, जबकि पाकिस्तान को किसी ने नहीं. अमरिका ने भी पश्चिम पाकिस्तान को न छूते हुए पूर्व पाकिस्तान का प्रश्न हल करने की अनुमति दे दी थी. निक्सन के कागजातों में यह लिखा गया है कि “पूर्व पाकिस्तान की फौज को अधिक आनाकानी न करते हुए शरणागति मान लें.” ताश्कंद संविदा भी अमरिका की संमति से ही हुआ था और ताश्कंद मसविदे का उल्लंघन न होने की खबरदारी रूस ने ली थी. अतः भारत-पाक झगड़ों में कुछ कहने का अधिकार रूस को प्राप्त हुआ था. रूस ने पश्चिम पाकिस्तान की अखण्डता का आश्वासन अमरिका को दिया था. अर्थात् भारत पूरे पश्चिम पाकिस्तान पर भी कब्जा कर लेगा ऐसा कुछ रूस ने होने नहीं दिया. फिर यह कैसे संभव था कि भारत पश्चिमी पाकिस्तान का निर्णायक पराभव कर सकेगा?

युद्ध विराम घोषित होने के तुरंत बाद ही युद्ध के छिड़ जाने में रूस का उद्देश्य साफ नजर आया. रूस ने पाकिस्तान के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि “भारत ने जिस तरह से हमसे सैनिक सुलह की थी वैसे ही आप भी करें ताकि भारत की तरह ही आपका भी भला होगा.” परंतु यदि पाकिस्तान इसे मान लेता तो उसे अमरिका अपनी सैनिकों के व्यूह से बाहर निकाल फेंकता और रूस भी तो यही चाह रहा था. इस युद्ध के बाद पाकिस्तान के मन में यह संदेह उत्पन्न होने की संभावना अधिक थी कि क्या युद्ध की घटनाओं से अमरिका भारत से उसकी रक्षा कर पायेगा. अतः पाकिस्तान फिर से यह सोचने लग जाता कि अमरिका/रूस से दोस्ती करने में उसका क्या लाभ होगा? इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रूस ने इंदिरा गांधी का इस्तेमाल कर लिया. रूस ने इस बात का प्रात्यक्षिक दिखला दिया था कि अमरिका से पाकिस्तान की दोस्ती पाकिस्तान को बड़ी महँगी पड़नेवाली है. और इस कार्य के संपन्न होते ही इंदिरा गांधी को उससे कोई मतलब नहीं था अतः ऐसे ठाट से सिमला करार को घटित होता हुआ दिखला दिया कि मानो भारत के प्रधानमंत्री का कोई अस्तित्व ही नहीं है.

इसके बाद रूस की नीति अधिकाधिक आक्रामक होती गई. उसने अफगानिस्तान पर अपना कब्जा किया. वह पाकिस्तान को भी नष्ट करना चाहता था यह बात निम्नांकित

घटना से स्पष्ट होती है.

मुरारजी देसाई की सरकार के गिरते ही इंदिरा गांधी पुनः प्रधानमंत्री बनीं. तब रूस के कूटनीतिज्ञ उनसे मिलने आये थे और इस समय मुरारजी देसाई ने ऐसा कुछ निवेदन किया—

“रूस कूटनीतिज्ञ मुझे एक षडयंत्र में फसाना चाह रहे थे. मैं जब प्रधानमंत्री था तब भी उन्होंने मेरे समक्ष यह प्रस्ताव रखा था कि रूस की हर तरह की मदद को स्वीकार करते हुए भारत पूरे पाकिस्तान को नष्ट करें और सिंध तथा पंजाब प्रदेशों को अपने साथ रखकर सीमा प्रांत व बलूचिस्तान रूस को दे दे. मैंने साफ नकार दिया था अतः अब वे इंदिरा गांधी के द्वारा ऐसा कुछ करना चाहते हैं.”

रूस के प्रस्ताव को नकारने का कारण मुरारजी देसाई नहीं दे रहे हैं किंतु उनकी बातें बिलकुल साफ हैं. पाकिस्तान को खत्म करने पर हिंदू-मुस्लिम प्रश्न हल होना नहीं था. क्योंकि सिंध तथा पाकिस्तानी पंजाब के भारत में शामिल होने पर भारत में मुसलमानों की संख्या दुगुनी हो जाती और भारत का शासन सुचारू रूप से चलना मुश्किल हो जाता. एक और भी कारण था जिस वजह से मुरारजी देसाई ने इस प्रस्ताव को टुकरा दिया था. इस योजना को एक हफ्ते में ही पूरा करना था अन्यथा विलंब होते ही चीन व अमरिका पाकिस्तान की ओर से युद्ध में शामिल हो जाते. हाल ही में अमरिका के स्टेट डिपार्टमेंट द्वारा प्रकाशित एक पुराने कागजातों में लिखा गया है कि “१९७१ के युद्ध में भारत ने पश्चिम पाकिस्तान को नष्ट करने की कोशिश की अतः यदि चीन पाकिस्तान की मदद के लिए सामने आता है और इस वजह से रूस उस पर आक्रमण करता है तो अमरिका चीन की मदद करेगा.” यह बात अमरिकन अध्यक्ष निक्सन ने चीन को बता दी थी. १९७१ के मर्यादित युद्ध में यदि अमरिका पश्चिम पाकिस्तान की रक्षा के संदर्भ में इतनी सजग थी तो पश्चिम पाकिस्तान को नष्ट करने के लिए भारत उस पर अवश्य चढ़ाई कर ही देता तो यह सत्य है कि उसे चीन व अमरिका जैसे बलशाली दो राष्ट्रों का सामना करना पड़ता.

मुरारजी देसाई द्वारा यह रहस्य खोल देने के कारण रूस की योजना रद्द हो गई. ऐसी योजनाओं की सफलता का रहस्य गुप्तता बनाये रखने में निहित है और मुरारजी द्वारा वही न हो सका और इस योजना का नाश हुआ.

मुरारजी देसाई के इस तरह से रहस्य खोलने के कारण पाकिस्तान के सर्वेसर्वा झिया उल हक मुरारजी देसाई पर इतने खुश हुए कि उन्होंने पाकिस्तान का सर्वोच्च बहुमान ‘निशाणे पाकिस्तान’ उन्हें बहाल कर दिया.

१९७७ के चुनाव में इंदिरा गांधी पराजित न हुई होती, तो १९७१ के युद्ध के नाटक का अगला अंक खेला जाता. परंतु उसके यशस्वी होने के आसार बहुत कम थे. असफलता के चलते भारत को चीन व अमरिका की आपत्तियों से जूझना न पड़ता और अगर सफलता मिल भी जाती तो भारत में बह रही ‘सेक्युलर’ की हवा अधिक तेजी से

बहने लगती और तीव्र हो जाती. भारत में आज की एकता के बराबर एकता बनी रहती. मुस्लिम समस्या को हल करने का अर्थ है भारतीय मुस्लिमों को भारतीय राष्ट्रीयता में शामिल करना. पाकिस्तानी मुसलमानों पर शासन करने से यह प्रश्न हल होना नहीं था.

मुरारजी देसाई द्वारा रहस्योद्घाटन से यह निःसंदेह सत्य है कि १९७१ का युद्ध रूस की प्रेरणा से ही हुआ था. ताश्कंद तथा बांग्ला देश युद्ध से पाकिस्तान को यह जान लेना चाहिए था कि रूस उसके हितसंबंधों को सुरक्षित रखते हुए ही भारत से मित्रता कर रहा है. वह इस बात को समझ नहीं पाया. यह तो निश्चित था कि किसी भी युद्ध में अमरिका के शामिल होते ही अमरिका का सैनिकी अड्डा पाकिस्तान ही होता. रूस ने अफगानिस्तान के अनुभव से यह जान लिया था कि एक हफ्ते पाकिस्तान का निवाला निगल लिया गया तो अमरिका कुछ नहीं करवा सकता. इंदिरा गांधी को छोड़ दूसरा कोई भी नेता रूस की बात को स्वीकार नहीं करेगा, इस बात को रूस ने जान लिया था. अतः जब इंदिरा गांधी का बहुमत न के बराबर होने को था, तब उन्होंने कम्युनिस्टों की सहायता से उसे बनाए रखा. मुरारजी देसाई के खिलाफ कम्युनिस्ट एक हो गये. इसका कारण भी रूस का प्रभाव ही था. इंदिरा गांधी के कोई भी निर्णय उनके अपने नहीं थे अतः रूस के उपकारों का स्मरण करते हुए रूस के प्रस्तावों को दुत्कार देना संभव नहीं था.

इंदिरा गांधी १९७७ की हार के बाद फिर से सत्ता पर आसीन हुईं. तब उन्होंने जो भाषण दिया था उससे हर किसी का मन संदेहरहित हुआ कि १९७१ का युद्ध उनकी योजना नहीं थी. जब बांग्ला देश से बड़ी तादाद में घुसपैठिये आने लगे तब असम प्रदेश में इसके खिलाफ बहुत बड़ा आंदोलन हुआ था. इस संदर्भ में इंदिरा गांधी ने सवाल किया था कि “घुसपैठियों के आने में क्या बुरा है?” ऐसी सोच की महिला के द्वारा मात्र कुछ हिंदू निर्वासितों के आने का कारण बताकर क्या युद्ध के लिए अंतरराष्ट्रीय व्यूह रचा जा सकता है?

दूसरी बात यह है कि यदि इंदिरा के मन में पूर्व पाकिस्तान से आये हिंदू शरणार्थियों के वापस लौटने तथा भविष्य में उनका आना सदैव के लिए बंद हो जाय ऐसी दृढ़ भावना से इतना बड़ा व्यूह रचने का उद्देश्य था, तो उन्होंने तीस लाख शरणार्थियों के वापस न जाने तथा उनका आना बंद होने पर कोई खेद व्यक्त नहीं किया. क्यों?

कुछ लोग यह समझते हैं कि रूस की सहायता लेने के लिए पं. नेहरू भी राजी हुए होते. क्योंकि पं. नेहरू भी विचारों से कम्युनिस्ट ही थे. परंतु पं. नेहरू की विचार-प्रणाली में कम्युनिस्ट का स्थान दुय्यम ही था. उनके प्रधानमंत्री बनने का लक्ष्य दुनिया का नेता बनना था. केवल रूस जैसे कम्युनिस्ट राष्ट्र का मित्र कहलवाना उन्हें क्षुद्रता की बात लगती थी.

### लोकतंत्र पर खग्रास

इंदिरा गांधी का दूसरा निर्णय था— आपातकालीन घोषणा. क्या पं. नेहरू आपातकाल की घोषणा कर पाते? यदि इस प्रश्न का उत्तर ‘ना’ है तो क्या इंदिरा गांधी

के इस व्यवहार को नेहरूवाद से ही उद्भूत कहा जा सकता है?

पं. नेहरू व इंदिरा गांधी की स्वभावगत विशेषताओं को समझने के लिए यह चर्चा आवश्यक है. इस चर्चा का स्वरूप तर्काधारित है. किसी एक परिस्थिति में हम कैसा व्यवहार करेंगे इसे हम स्वयं नहीं कह सकते अतः किसी दूसरे व्यक्ति के व्यवहार पर ठोस रूप से कुछ कहना मुश्किल ही होता है. परंतु इसका अंदाज लगाना कठिन नहीं है. इंदिरा गांधी के निर्णय स्वयं के नहीं होते थे, परंतु पं. नेहरू के निर्णय उनके अपने होते थे. इंदिरा गांधी को आपातकालीन घोषणा करने के लिए संजय गांधी ने प्रवृत्त किया था. पं. नेहरू व इंदिरा इन दोनों का भी दृढ़ निश्चय था कि भारत की सत्ता सदैव उनके और उनके वंशजों के पास ही बनी रहे. पं. नेहरू ने केरल की सरकार को उनके अधीन न होने के कारण बरखास्त कर दिया. शायद सरदार पटेल के जीवित रहने तक भी पं. नेहरू यही सोच रहे होंगे कि उनके हाथों में सत्ता सदैव बनी नहीं रहेगी. क्योंकि कांग्रेस में बहुमत सरदार पटेल का था. एक बार पं. नेहरू ने अपना भय एक वरिष्ठ अधिकारी के समक्ष व्यक्त किया था. उन्होंने कहा था कि “हमारी नीतियाँ देश के शेष नेताओं से सर्वथा भिन्न हैं. संघ की नीति भारतीय जनता की आकांक्षाओं के निकट हैं अतः संघ के लोगों को हमारी तुलना में कांग्रेस के लोग अधिक अपने लगते हैं. मेरे जीवन काल में ही भारत की सत्ता संघ के सहप्रवासी कांग्रेस जन या स्वयं-संघ के लोग ही हासिल कर लेंगे.” जब एक सरकारी उच्चाधिकारी ने कहा कि ‘कल कम्युनिस्ट सत्ता पर आयेगे.’ इस पर पं. नेहरू ने इस संभावना को दुत्कार दिया था और ऐसा भविष्य बताया था कि संघ के लोग ही सत्ता पर आयेगे. (एस. गोपाल) डॉ. ना. भा. खरे कहते थे कि पं. नेहरू के मन में यह विचार बार-बार उठ रहे थे कि कोई भी हो संघ या कम्युनिस्ट, इतना ही नहीं; कांग्रेस का दूसरा कोई भी नेता शासन का नेतृत्व करेगा तो वे भारत में नहीं रहेंगे. यूँ तो, डॉ. खरे को पं. नेहरू के निंदक कहा जाता था अतः उनका ऐसा कहना कितना विश्वासार्ह होगा कि यह संदेह उभरता ही है. परंतु उनका पं. नेहरू के निकट जनों तथा स्वयं पं. नेहरू से परिचय था अतः उनकी बातों को निराधार मानना, सही नहीं होगा. डॉ. खरे ने गांधीजी के बारे में जो कटु भाषण दिये थे, उसमें कोई भी घटना कपोलकल्पित नहीं थी. यह कहना केवल हवाई किले बांधना नहीं था कि सत्ताहीन होते ही पं. नेहरू को भारत में रहने की इच्छा शेष नहीं रहती. वे स्वित्झरलैंड में रहने की सोच रहे थे. अंदाज लगाया जा सकता है कि आजाद हिंद सेना के जवाहिरातों को अपने कब्जे में लेने का कृत्य शायद इसी लक्ष्य के हासिल करने की प्रथम सीढ़ी हो.

सत्ताविहिन होकर विरोधी पक्ष के तौर पर सरकार में बने रहना न पं. नेहरू चाहते थे और न इंदिरा गांधी. उनकी इस समान वृत्ति के कारण इंदिरा गांधी की तरह ही पं. नेहरू द्वारा आपातकालीन घोषणा की गई होती, तो उनकी भी शोभा ही बढ़ता.

इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति जगमोहन सिन्हा ने इंदिरा गांधी को चुनाव के लिए सरकारी नौकरों का उपयोग करने के जुर्म में छह वर्षों के लिए चुनाव में

खड़े होने पर पाबंदी लगा दी थी। तब इंदिरा गांधी ने राष्ट्रपति के माध्यम से आपातकालीन घोषणा करवा दी और संविधान को ही स्थगित कर दिया। सभी विरोधी पक्ष के जनों को कारावास भेज दिया। उसके बाद विरोधी पक्ष हीन संसद में, उन्हें जैसा चाहिए वैसा परिवर्तन संविधान में करवा लिया। इस सुधारित संविधान के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय के सिन्हा द्वारा दिये गये फैसले में परिवर्तन कर डाला।

पं. नेहरू ने भी सारे राष्ट्र का मनोगत संविधान के जिस कलम में हुआ था, वहाँ चालीस सुधार करते हुए राष्ट्रवादी संविधान को नेहरूवादी संविधान में परिवर्तित कर दिया था।

सच कहें तो, आपातकाल में संजय गांधी की ही चलती थी। पं. नेहरू परिवार के किसी भी व्यक्ति में, जो गुण विशेष नहीं था, वह संजय गांधी में था और वह गुण विशेष था— मुसलमानों का बहुत अधिक लाड़-प्यार न करना। उन्होंने इस बात की जाँच या पूछताछ शुरू कर दी कि कौन-सा मुसलमान परिवार संतति-नियमन के लिए विरोध जता रहा है। और उन्होंने अवैध या गैरकानूनी इमारतों को गिराते समय यह नहीं सोचा कि इमारतों में घर हिंदुओं के हैं या मुसलमानों के। यह मुसलमान की कल्पना से बाहर की बात थी कि उन पर जबरदस्ती की जाएगी, क्योंकि पं. नेहरू परिवार सत्तासीन जो था और अब मुसलमानों के विरोध में कड़वाहट भर गयी। तुर्कमान गेट पर गोलियाँ चलीं और कई मुसलमान मारे गये। लोगों को जबरदस्ती से पकड़ कर संतति-नियमन शस्त्रक्रिया करवायी गयी। हड़तालों पर पाबंदी लगाई गई। व्यक्तिगत बातचीत में भी सरकार की आलोचना करनेवालों पर कड़ी नजर रखी गई और ऐसा करनेवाले को सजा भी दी गई। सरकार पर आलोचना करने के जुर्म में कई सरकारी कर्मचारियों को पदच्युत किया गया या अवकाश प्राप्त करार दिया गया। समाचार-पत्रों पर भी पाबंदी लगी ताकि सरकार के खिलाफ वे कुछ लिख न सकें। कई राजनैतिक प्रतिस्पर्धियों को न्यायासन से आदेश पाये बिना ही कारावास में भेज दिया गया। कुल मिलाकर पं. नेहरू ने जिस तरह से संघ को फटकार सुनायी थी, उसी तरह इंदिरा गांधी ने भी केवल संघ पर ही नहीं, सभी विरोधी पक्षों को डाँटा-डपटा था।

अपने इन सारे कृत्यों को जनता का समर्थन प्राप्त है, इसे दर्शाने के लिए लाखों लोगों के मोर्चे निकालना व सभाएँ बुलवाना आवश्यक था। उसके लिए पाठशालाएँ, महाविद्यालयों को दूरभाष से मुख्याध्यापकों व प्राचार्यों को आदेश दिये गये कि वे अपने-अपने विद्यार्थियों को भेजें।

सब दूर अक्सर यही समझा जाता रहा है कि पं. नेहरू तो कट्टर लोकतंत्रवादी हैं, वे आपातकालीन घोषणा करने का निर्णय कभी नहीं लेते। श्री लालकृष्ण अडवाणी ने भी हाल ही में कहा था कि “पं. नेहरू ने ही हमें गणतंत्र दिया है।” इस कथन में कोई सार नहीं है। स्टालिन को अपना आदर्श कहनेवाला शख्स भला गणतंत्र में निष्ठा क्यों कर

रखेगा? एक पत्र है, जो एस. गोपाल की पुस्तक में दिया गया है। यह पत्र पं. नेहरू ने कृष्ण मेनन को लिखा है। उसे पढ़कर पता चलता है कि पं. नेहरू के मन में भारतीय जनता के लिए कितनी तुच्छता का भाव भरा हुआ था। उनके दिमाग में घूम रहे विचारों का सार यह है— “भारत में प्रत्यक्ष गणतंत्र नहीं होना चाहिए, मतदान का अधिकार लोगों के मतों का प्रतिनिधित्व करनेवाले कुछ खास नामीगिरामी लोगों को ही होना चाहिए।” जब उन्होंने यह देखा कि संविधान जैसा है उसी स्थिति में वे सहज रूप से चुने जा सकते हैं, तो इस दिशा में उन्होंने कोई कदम उठाना भी छोड़ दिया। हिंदुत्ववादी लोग कभी भी चुनाव न जीत पाये ऐसी व्यवस्था या परिवर्तन भी संविधान में उन्होंने कर दिये थे। परंतु नियम केवल हिंदुत्व-वादियों पर लागू हो सकें और मुस्लिम अलगाववादियों को नहीं, ऐसा प्रावधान संभव नहीं था। अतः हिंदुत्ववादी जनता से वादा वैधानिक दृष्टि से प्राप्त न कर पाये, ऐसी व्यवस्था पं. नेहरू नहीं कर पाये।

परंतु चुनाव जीते बिना ही सत्ता पर बने रहने के लिए सेना को अपने कब्जे में रखना जरूरी है। ऐसा तभी हो सकता है, जब कोई सेनाधिकारी प्रासाद क्रांति करे। इंदिरा गांधी के अधीन सेना क्यों रहे? बांग्ला देश में मुजीबूर रहमान का खून हो गया था उसी तरह उनका भी होता, यह डर इंदिरा गांधी को घेरने लगा था। यह बार-बार महसूस होने लगा कि सेनाधिकारियों के अलावा और दूसरे किसी भी व्यक्ति को जनमत का समर्थन प्राप्त किये बिना शासन करना मुश्किल ही होगा।

उपरोक्त स्थिति व तथ्यों के बल पर इंदिरा गांधी ने चुनाव लेने का निर्णय लिया और जासूस विभाग की सहायता से जनमत का पता लगाया। इस प्राप्त जानकारी के आधार पर यह प्रतीत हो रहा था कि इंदिरा गांधी को अधिकाधिक सफलता हासिल होगी। १९७७ में इंदिरा गांधी ने चुनाव घोषित किये और उनका दारुण पराभव हुआ। वे तो स्वयं पराजित हुईं ही, किंतु उत्तर भारत में कांग्रेस का एक भी उम्मीदवार चुनाव जीत नहीं पाया। पं. नेहरू का भय कि गणतंत्र में जनमत पर यकीन नहीं किया जा सकता, यह इंदिरा गांधी के काल में सच साबित हुआ।

इंदिरा गांधी के पराजय के बाद अनेक पक्षों ने मिलकर स्थापित एक जनता पक्ष की सरकार मुरारजी देसाई के नेतृत्व में स्थापित हुआ। इस सरकार में चरणसिंह नेहरू के खिलाफ थे। मुरारजी देसाई, इंदिरा गांधी कांग्रेस के निष्ठावंत सदस्य, राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति अभिमान रखनेवाले तथा नेहरू प्रणित सेक्युलरिज्म के विरोधक थे। अटलबिहारी वाजपेयी संघवादी थे और शेष समाजवादी, परंतु विदेशी या परराष्ट्रीय नीति के संदर्भ में पं. नेहरू के विरोधक थे। इस पक्ष में श्री राज नारायण, डॉ. मधु लिमये आदि सदस्य पं. नेहरू के भाषिक नीति के खिलाफ थे और चाहते थे कि संविधान के आदेशानुसार ही अंग्रेजी को हटाना हो होगा। यदि यह सरकार बनी रहती तो विदेशी नीति में योग्य परिवर्तन, आर्थिक क्षेत्र में अधिक व्यावहारिक निर्णय तथा देशी भाषाओं को प्रोत्साहन जैसे नेहरूवाद के



खिलाफ जाकर कदम उठाए जा सकने की आशा थी.

इस आधार पर मुरारजी देसाई ने सारे भारत को एक ही 'बाजार' बनाने के तत्त्व पर अमल किया और कृषि निर्मित पदार्थों की कीमतों को घटाया. विदेशी नीति में अटल बिहारी वाजपेयी ने इजरायल और भारत के संबंधों को दृढ़ किया और हिंदी को संयुक्त राष्ट्र में स्थान मिले, इस दिशा में कदम उठाए. मुरारजी देसाई ने खुलकर फाईलों में हिंदी में ही काम करना शुरू किया. पूछताछ या जाँच समितियाँ बनाकर इंदिरा गांधी के समय में हुए अनेकानेक कृष्ण-कृत्यों को जनता के समक्ष लाने का प्रयत्न किया.

परंतु मुरारजी देसाई की अधिकांश शक्ति उनकी कुर्सी बने रहने के असफल प्रयत्नों में व्यय होती रही. चरणसिंह ने प्रधानमंत्री होने के लिए झगड़ा किया और मुरारजी देसाई की सरकार समाप्त हो गई. अब इस घटना का अर्थ जनता ने यह लगाया कि इंदिरा गांधी के सिवाय और कोई राज्य कर ही नहीं सकता और इंदिरा गांधी पुनः चुन ली गईं.

### हिंदू होना एक अपराध

इस समय इंदिरा गांधी ने यह दिखला दिया कि पं. नेहरू की कन्या 'सेक्युलर' होने में सवा सेर है. इस करामत पर एक प्रमुख समाचार-पत्र (जनवरी, १९९१) में एक 'क्या भारत में हिंदू होना एक अपराध है? (Is it a crime to be a Hindu) शीर्षक से लेख लिखा और 'सेक्युलर' की वीरता पर प्रकाश डाला था. इस लेख में वर्णित कुछ बातें पं. नेहरू के समय ही घटित हुई थीं, किंतु इंदिरा गांधी के काल में उनका स्वरूप अधिक कष्टदायी हो गया था.

सेक्युलर इंडिया में अहिंदू संस्थाओं को अपने धर्म का प्रसार करने के लिए सरकार के अधिकारों से मुक्त अर्थात् स्वायत्त संस्था बनने का अधिकार प्राप्त हुआ था. परंतु हिंदुओं को यह अधिकार नहीं मिला. जिस किसी संस्था को सरकार को किसी भी तरह की सहायता मिल रही हो, वह संस्था हिंदू धर्म की शिक्षा प्रदान नहीं कर सकती. इतना ही नहीं, उस पर यह भी पाबंदी थी कि वह अपनी इमारत या मैदान का उपयोग किसी भी हिंदू कार्यक्रम के लिए न करे. सरकारी अनुदान प्राप्त पाठशाला के मैदान पर कीर्तन नहीं गाया जा सकता. हिंदू संस्थाओं को इतने कष्टप्रद पाबंदियों के बीच काम करना पड़ता था कि उनमें से रामकृष्ण आश्रम तथा आर्य समाज ने इन तकलीफों से छुटकारा पाने के लिए स्वयं को हिंदू नहीं हैं, ऐसा घोषित किया. कुल मिलाकर जिस तरह से मुगलों ने हिंदू धर्म को समाप्त करने के लिए जिझिया कर हिंदुओं पर लगाया था उसी तरह पं. नेहरू ने अल्पसंख्यकों के अधिकार नामक जिझिया कर हिंदुओं पर लादा था. सरकारी अनुदान प्राप्त संस्थाएँ अहिंदू धर्म की शिक्षा दे सकती हैं. कम गुण प्राप्त अहिंदू के लिए अधिक गुण प्राप्त हिंदू को एक तरफ करने करके दाखला दिया जा सकता था, वे शिक्षकों व कर्मचारियों की नियुक्ति अपने ही मर्जीनुसार करने की सुविधा उपलब्ध थी, और वे खुले आम कर सकते थे कि हिंदुओं को नहीं लिया जायेगा. और हिंदू संस्थाएँ शिक्षा विभाग की अनुमति बिना

कोई काम कर नहीं सकती थीं. दिल्ली विश्वविद्यालय में जो नियम हिंदू महाविद्यालय, आर्यसमाज महाविद्यालय व रामजस महाविद्यालय पर लागू किये गये हैं, वे नियम सेंट स्टीफन्स महाविद्यालय के लिए नहीं हैं.

क्वीन्स मेरी कालेज ने तो विज्ञापन ही दिया कि ईसाई प्रिन्सिपाल चाहिए. इस शिक्षा विभाग ने सुझाव दिया कि "कालेज किसी को भी चुने, परंतु विज्ञापन में स्पष्ट रूप से सूचित न करें कि हिंदुओं को नहीं लिया जायेगा." कालेज ने इस ओर अनसुनी कर दी और न्यायाधीश ने भी कालेज का ही पक्ष लिया. "इस कालेज के अधिकांश विद्यार्थी हिंदू हैं फिर यह कालेज ईसाई कैसे कहलायेगा?" सरकार का यह युक्तिवाद न्यायालय ने ग्राह्य नहीं माना. क्योंकि ईसाई लोगों द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार की संस्था ईसाई कहलायी जाती है, फिर जहाँ हिंदुओं की संख्या अधिक होगी, वहाँ गैर ईसाइयों के बीच ईसाई धर्म का प्रसार करने के लिए पोषक ही रहेगा. अतः ऐसे कालेज के ईसाई रूप का जतन करना सेक्युलरिज्म का परम कर्तव्य है.

डॉ. व्ही. के. आर. व्ही. राव जब शिक्षा-मंत्री बने, तब उन्होंने उनके कार्यकाल में अलीगढ़ विश्वविद्यालय का कुलपति हिंदू तथा हिंदू विश्वविद्यालय का कुलपति मुसलमान ही बनेगा, ऐसी व्यवस्था करने की घोषणा की थी. इस घोषणा को सुनकर मुसलमानों ने शोरगुल किया. शिक्षा-मंत्री का जवाब था कि "सरकार के पैसों से चल रहा विश्वविद्यालय मुस्लिम कैसे कहलाया जायेगा? शिक्षा-मंत्री के प्रश्न का उत्तर देने के लिए सरकार ने कानून ही बदल डाला और अलीगढ़ विश्वविद्यालय सरकारी पैसों से चलने पर भी मुस्लिम ही है यह घोषित कर दिया.

जम्मू कश्मीर के सारे मुसलमानों को पिछड़े वर्ग में शामिल कर दिया गया है. अर्थात् पिछड़े वर्ग के लिए भी सुरक्षित पद उन्हें दिये जाते हैं. कश्मीर के हिंदुओं को कश्मीर में आयुर्विज्ञान की शिक्षा के लिए दाखला मिलना मुश्किल होता है. क्योंकि केवल मुक्त सीटों के लिए ही उनके लिए सोचा जाता है. कुछ प्रांतों में ऐसे नियम लागू हैं कि जिस प्रदेश में आयुर्विज्ञान के शिक्षा की व्यवस्था है, ऐसे प्रदेशों के विद्यार्थियों को प्रवेश न दिया जाय.

अहिंदुओं के लिए सरकारी धन से प्रतियोगिता परीक्षाएँ शुरू की गईं. इसमें अहिंदुओं को मुफ्त में शिक्षा तथा हिंदुओं को इसके आसपास फटकने भी नहीं दिया जायेगा. (प्रधानमंत्री का खास आदेश, ११/५/१९८३) इसी आदेश में अल्पसंख्यकों को बड़े पैमाने पर तंत्रज्ञान की शिक्षा दी जाने की सख्त हिदायत दी गई है. पता नहीं, अल्पसंख्यकों को खास शिक्षा देकर भी इन जातीय लोगों के समक्ष यदि वे टिक न सके तो?

१९८४-८५ में सरकार ने आठ बड़े शहरों में खास अल्पसंख्यकों के लिए बहुविध तंत्रज्ञान की संस्थाएँ स्थापित की. इसमें हर साल कम से कम पचास अल्पसंख्यांक विद्यार्थी लेना जरूरी समझा गया. क्या मालूम प्रवेश पाने की होड़ में एक भी अल्पसंख्यांक विद्यार्थी या प्रतियोगी सफल न हुआ तो? अब सरकार ने लोकसभा को बताया कि इन खास

संस्थाओं में भी अल्पसंख्यांक प्रतियोगिता में पीछे न रह जाय इसलिए एककीस कालेजों में उनके लिए खास कक्षाएँ खोली गई हैं और इसके लिए सरकार तीस लाख रुपये खर्च कर रही है।

१९८३ में प्रधानमंत्री ने खास आदेश निकाला और मुसलमानों को बड़ी संख्या में नौकरियाँ दी जाने के लिए मंत्री महोदय को हिदायत दी।

अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए अल्पसंख्यक आयोग है, गृह तथा शिक्षा मंत्रालय में अल्पसंख्यक कक्ष हैं।

रिझर्व बैंक ने बैंकों को आदेश दिये कि इन अल्पसंख्यकों को तुरंत कर्ज दिलवा दें। हिंदुओं को गिरवी रखे बिना कर्ज न दें। अल्पसंख्यकों से कर्ज के लिए गिरवी वस्तु की मांग न करें।

१९७१ के युद्ध के बल पर इंदिरा गांधी को हिंदुओं में आस्था रखनेवाली कहनेवालों को उपरोक्त कृतियों को स्मरण में रखना चाहिए।

### भ्रष्टाचार

पं. नेहरू भ्रष्टाचार से अछूते न थे, यह पहले ही कह दिया गया है। उनकी कन्या उनसे भी अधिक सवा सेर थी, यह बात जयप्रकाश नारायण बार-बार कहते थे। इन सारी बातों की पूछताछ सरकार करने जा रही थी, उससे पहले ही सरकार बरखास्त हो गई। जिस घटना की पूछताछ हो रही थी, वह किस्सा नगरवाला नाम से जाना जाता है। इसके बारे में समाचार-पत्रों में कुछ यों छपा था—

स्टेट बैंक के एक मल्होत्रा नामक कॅशियर (रोकडवाला) को एक दूरभाष आया कि “मैं इंदिरा गांधी बोल रही हूँ। एक स्थान पर मैं अपना आदमी भेजती हूँ, उसे साठ लाख नकद रुपये दे दें।” मल्होत्रा ने तुरंत रकम निकाली और नियत स्थान पर इंतजार कर रहे नगरवाला नामक आदमी को वह रकम दे दी। इसके बाद यह रकम इंदिरा गांधी को मिली या नहीं, इस बात पर आश्वस्त होने के लिए मल्होत्रा इंदिरा गांधी से मिले और पूछने लगे, “आपको रकम मिली?” तब इंदिरा गांधी ने पूछा, “कैसी रकम?” प्रश्न सुनते ही मल्होत्रा भयभीत हुए और उन्होंने पुलिस में शिकायत दर्ज कर दी। पुलिस ने नगरवाला को पकड़ा, उस पर केस दायर की। कुछ समाचार-पत्रों में ऐसी जानकारी दी गई थी कि इंदिरा गांधी इसी तरह से धन मँगवाती हैं, यह बात नगरवाला जानता था। उसकी एक इटालियन सहेली थी। उससे इंदिरा गांधी की तरह आवाज निकालकर फोन पर बात करवायी और पैसा प्राप्त कर लिया।

केस का निर्णय हुआ, नगरवाला को सजा हुई। वह कैद में था, तभी अपना बयान बदलकर अपील करना चाहता है, ऐसी खबर सुनने में आयी, परंतु जल्द ही संदेहजनक रीति से उसकी मृत्यु हो गई।

इस घटना में इंदिरा गांधी का हाथ नहीं था और वे साठ लाख रुपये भी उनके

नहीं थे। ऐसा निर्णय जाँच समिति ने दिया। मुरारजी देसाई ने कहा कि वह जैसे इंदिरा गांधी के न होते, तो मल्होत्रा फोन आते ही वह देने नहीं जाते। मल्होत्रा ने कहा कि फोन इंदिरा गांधी का था, इस बारे में उनके मन में कोई संदेह नहीं था। अतः उन्होंने कुछ पूछे बिना ही जैसे निकाले और वे यह कुछ कहेंगी कि उनका हिसाब कैसे लिखना होगा, यह सोचकर उनके पास गया था।

मल्होत्रा को बैंक ने बरखास्त कर दिया, परंतु उसे तुरंत दूसरी नौकरी भी मिल गई।

इस घटना में सारे सबूत इंदिरा गांधी के खिलाफ ही थे। मल्होत्रा को इस तरह का फोन पहली बार आया होता, तो वह पुनः इंदिरा गांधी को फोन करके पूछ सकता था कि फोन उनका ही था या नहीं। और किस खाते से रकम निकाली जाय यह भी पूछा होता। बैंक का अकाऊण्टन्ट इतना भी नहीं कर सकता, इस बात पर विश्वास करना कठिन लगता है। अर्थात् सच्चाई यह है कि पैसों की निकासी किस खाते से हुई होगी। इसका संभाव्य उत्तर है, इन पैसों को खाते में न डालकर अपने विश्वसनीय मल्होत्रा को इंदिरा गांधी ने दिये थे। ऐसा तो किसी के सोचने का सवाल ही नहीं उठता कि खाते में जैसे कम थे। प्रस्तुत धन इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बने रहने तक या मल्होत्रा या उनके जैसा ही कोई दूसरा अकाऊण्टन्ट हो, तब ही इंदिरा गांधी को मिलने थे। सत्ता हीन होने पर केवल कुछ लाख रुपये ही न मिलने थे, यह तो नाममात्र नुकसान था। और जैसे भी यह धन इंदिरा गांधी के अधिकृत रीति से उनके अपने तो होंगे नहीं। गये तो गये।

मुझे कुछ ऐसे वित्त सचिव के श्रेणी के लोग भी मिले थे, जिन्होंने कहा कि “उपरोक्त तर्क निर्बुद्धता से उत्पन्न है, नगरवाला झूठ ही बोल रहा था और उसकी केस का निर्णय चौबीस घण्टों में ही तो लिया गया, इसमें इंदिरा गांधी का कोई हाथ नहीं है। खातेदारों को निश्चित जगह पर रकम पहुँचाने की व्यवस्था बैंक करती है।” अतः पाठक स्वयं ही अपनी बुद्धि के अनुरूप निर्णय लें।

### सिक्खों का कत्लेआम

इंदिरा गांधी की मृत्यु का कारण उनका आखरी प्रसंग सिक्खों के सुवर्ण मंदिर के संदर्भ से जुड़ा है। इस घटना में भी इंदिरा गांधी के सारे गुण पं. नेहरू के गुणों की तरह ही नजर आये। भिन्द्रनवाला के अनुयायियों ने मांग की थी कि उन्हें स्वतंत्र सिक्ख राज्य या खलिस्तान चाहिए तथा पंजाब में दहशतवादी खेल प्रारंभ कर दिया था। इस दहशतवाद का नेतृत्व एक ही व्यक्ति के हाथों नहीं था। उनके अनेक दल थे, जिनमें आपसी शत्रुता थी। अतः खलिस्तानी दहशतवाद में गैर सिक्खों के बजाय सिक्खों की ही अधिक बली चढ़ गई। बच्चों को भगा ले जाना, खिराज वसूल करना, चलते-फिरते खून कर देना, जैसी कई घटनाएँ खुलेआम होने लगीं थीं। और पंजाब में कितने लोग मरे यह रोज के समाचार-पत्रों की ताजा खबर बन गई। मुझे इंदिरा गांधी के एक निकटतम राजनेता ने बताया कि “इंदिरा

गांधी ने यह तय कर लिया था कि भिन्नवाला का कत्ल करके इस स्थिति से निपटा जाय. किंतु पुलिस दल के कुछ सिक्ख सिपाहियों ने भिन्नवाला को यह भीतरी जानकारी दी और षडयंत्र असफल रहा.” यदि यह बात सच है तो इंदिरा गांधी का राजनीतिक आकलन तथा नैतिकता पर दुखद छाया फैली नजर आती है. एक भिन्नवाला को मार देने से दहशतवाद खात्मा होना नहीं था. उनका केवल एक ही नेता नहीं था. दूसरी बात यह है कि न्याय-प्रक्रिया के बल पर एक देशद्रोही को उसके अपराधों की सजा फांसी सुनवाने की हिम्मत जिस सरकार में नहीं है, उसकी प्रतिष्ठा भला किस काम की?

यह सच है कि सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास नहीं रखना चाहिए. परंतु यदि ऐसी बातें झूठ भी निकले तो भी यह अवश्य पता चलता है कि इंदिरा गांधी के निकटतम व महत्त्वपूर्ण राजनीतिक नेता इंदिरा गांधी के बारे में क्या सोचते रहे होंगे.

एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चाहे जो हो— नागालैण्ड आदि के विभाजन, तेलंगणा के विद्रोह के संदर्भ में जिस सहानुभूति का प्रदर्शन पं. नेहरू ने किया था, वही वृत्ति इंदिरा गांधी ने भी खलिस्तान ही नहीं, नक्षलवाद, जनतायुद्धदल (People's War Group), बिहार की अनेकविध सेना व हरण के माध्यम से हफ्ता वसूली आदि उत्पात घटनाओं के मूल में वही सहानुभूति वृत्ति थी. हमारे देश के किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को यह बात समझ में नहीं आती है, तब यह सोचना गलत ही होगा कि पं. नेहरू की कन्या इस बात को समझ रही होगी. पं. नेहरू से हटकर सोचने की क्षमता इंदिरा गांधी में नहीं थी.

भिन्नवाला की व्यवस्था लगाना आवश्यक था. इस बारे में सैनिकों से यह कहा गया है कि जनरल सिन्हा को एक तरफ रखकर इंदिरा गांधी ने अरुण वैद्य को सेनापति नियुक्त किया क्योंकि अरुण वैद्य असम व भिन्नवाला के खिलाफ सीधी सैनिकी कारवाई करने के पक्ष में थे. और जनरल सिन्हा की सोच यह थी कि अधिक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग न करते हुए भिन्नवाला व उनके साथियों को सुवर्ण मंदिर के बाहर निकालकर सजा दिलवाना संभव है. परंतु इंदिरा गांधी कुछ रोमांचक करने में रूचि रखती थी. अतः उन्होंने अरुण वैद्य व जनरल सुंदरजी की योजना को स्वीकार कर लिया. इस योजना के अनुसार सुवर्ण-मंदिर पर सीधा हमला करना था. ऐसा आक्रमण करने के लिए जवान सुवर्ण-मंदिर में प्रवेश कर रहे थे, तब उनपर गोलियों की बौछार होने लगीं और चार सौ जवान मारे गये. यों तो भिन्नवाला के पास कौन-से राष्ट्र व अन्य युद्ध उपकरण है, इसका ज्ञान हमारी सेना को नहीं था और सुवर्ण-मंदिर में ऐसे उपकरणों को एकत्रित होने तक सरकार क्या सो रही थी?

सैनिकी जीत का उपयोग चुनाव के लिए करने की वृत्ति पं. नेहरू की तरह इंदिरा गांधी में भी थी. हम गोवा मुक्ति में कृष्ण मेनन की जीत के लिए उपयोग करना नहीं भूले हैं. अतः सुवर्ण-मंदिर मानो शत्रु का मजबूत स्थान है, यह मानकर उस पर हमला करने

की सुंदरजी की कल्पना उन्हें सही लगी और तोप चलाकर सुवर्ण-मंदिर उद्ध्वस्त किया गया और कुछ सिक्ख सैनिक भड़क उठे और सेना छोड़कर भाग निकले. जनरल वैद्य ने कहा, “उन पर योग्य सैनिकी कारवाई की जायेगी.” परंतु इस पर वे अमल नहीं कर सके क्योंकि सेना में भी देश हित के लिए सेना के कानून के अनुसार चलना इंदिरा गांधी को पसंद नहीं था और ऐसे कृत्यों का परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए था. स्वयं इंदिरा गांधी के सिक्ख अंगरक्षक ने ही उनपर गोलियाँ दाग दीं. उन्हें सलाह दी गई थी कि अपने आसपास सिक्ख अंगरक्षक न रखें. किंतु उन्होंने अनसुनी कर दी. इस संदर्भ में इंदिरा गांधी की ऐसा सुभाषित कहकर प्रशंसा की जाती है कि “अपने ही लोगों पर संदेह करना नैतिकता नहीं कहलाती. परंतु संदेह न करना यह गुण विशेष तो नहीं है. इसके विपरित संदेह के लिए सूत्र मिलने के बाद भी संदेह न करना भी निराधार संदेह करने के समान ही निंदनीय है. इंदिरा गांधी को विश्वास था कि उनके सिक्ख रक्षक उनका खून नहीं करेंगे. अंगरक्षक ने जब उनकी ओर बन्दूक तानी, तब भी उन्होंने पूछा, “अरे, क्या कर रहे हो?” बचाओ कहकर पुकारना, पेट के बल पर लेट जाना, ओट में चले जाना जैसा कुछ भी उन्हें सूझा नहीं. क्या उन्होंने ऐसा सोचा था कि अंगरक्षक बंदूक दिखाकर केवल भयभीत करना चाह रहा था?

कुल मिलाकर सेक्युलरिज्म, अपने ही परिवार में सत्ता बनी रहने की जिद, भ्रष्टाचार, देश के हितों के लिए पूरी तरह से उदासीनता तथा मनुष्यों को परख न पाना आदि सारे पिता के गुण इंदिरा गांधी में थे और उनका कार्यकाल उनके पिताजी के कार्यकाल की नकल मात्र थी.

### राजीव गांधी तथा श्रीलंका का बंटोधार

इंदिरा गांधी की हत्या के बाद राजीव गांधी प्रधानमंत्री बने. इंदिरा गांधी का खूनी सिक्ख था, अतः तुरंत ही सिक्खों के खिलाफ दंगे शुरू हुए. इन दंगों का सूत्र-संचालन उच्च पदस्थ कांग्रेसजनों ने किया और उन पर घर दिखा-दिखाकर सिक्खों की कत्ल करने का आरोप भी लगाया गया. इसकी पूछताछ अभी भी जारी है. पूछताछ शुरू करने के लिए राजीव गांधी ने मना किया था और इसमें सिक्खों की बदनामी का भय दिखलाकर कहा कि “जब बड़ा वृक्ष गिरता है तब धरती काँपती ही है.” राजीव गांधी का यह दृष्टांत भी पूरी तरह से गलत है. क्योंकि वृक्ष के गिरने से धरती काँपती नहीं है. परंतु पृथ्वी के कंपन से वृक्ष अवश्य गिरते हैं. राजीव गांधी अपने ही नाना की तरह साहित्यिक नहीं थे. अतः उनके वाक्य की ओर न देखकर उनका मकसद अवश्य साफ परिलक्षित हो रहा था. पूछताछ समिति इंदिरा गांधी की हत्या के संदर्भ में सिक्खों को ही जिम्मेदार ठहराती. खूनी लोगों को मारा जाय तो बहुत कुछ बरबाद नहीं होता! ऐसे विचार तो बड़े ही हानिकारक हैं. अब अभी-अभी माँ के गुजरने के कारण उनकी मानसिक दशा का विचार करते हुए ऐसे उद्गारों के लिए क्षमा की जा सकती है. फिर भी एक राजनेता के लिए शोभनीय कदापि नहीं माना

जायेगा. एक सिक्ख द्वारा खून हुआ इसलिए सभी सिक्खों से ड़ाह करनेवाला, क्या राष्ट्र की एकता का जतन कर सकेगा? कुछ सिक्खों ने खलिस्तान के नाम पर देशद्रोह किया, किंतु उन्हें नेस्तनाबूद भी तो सिक्खों ने ही किया!

राजीव गांधी नेहरूवाद छोड़ देंगे, ऐसी धारणा कदापि नहीं बनी. कान्वेंट सदृश्य पाठशाला में शिक्षित तथा पं. नेहरू परिवार के उत्तराधिकारी जो ठहरे! इस उत्तराधिकार में पाठशालेय बुद्धिमत्ता का अभाव भी शामिल था. उस पर विदेशी पत्नी का प्रभाव..... उसके ही प्रभाव में आकर राजीव गांधी ईसाई बने थे. इससे भी पं. नेहरू परिवार की देशपरंपरागत, देशाभिमानशून्यता तथा हिंदुओं से ड़ाह भाव मुखर होता है, डॉ. केतकर ने भी जर्मन पत्नी से ब्याह किया था किंतु वे ईसाई नहीं बने, वरन् पत्नी को ही हिंदू बना लिया था. उसने मराठी भाषा सीखी और पति के काम को उनकी मृत्यु के बाद भी जारी रखा!

राजीव गांधी ने उनके हिंदू होने के संदर्भ में न्यायालय से इकरारनामा लिया था, अन्यथा वे नेहरू के उत्तराधिकारी नहीं बन सकते थे. उन्होंने नवज्योत विधि संपन्न नहीं की थी. अतः उनके पारसी न होने का निर्णय न्यायालय ने दिया और माता व नानाजी के हिंदू होने के कारण उनके हिंदू होने का निर्णय लेने के लिए द्वार मुक्त रखे. परंतु एक बार जब राजीव गांधी कश्मीर गये थे तब उनकी उपस्थिति में संपन्न हुई एक घोषित सभा में शेख अब्दुल्ला ने भारत के हिंदू शासक कश्मीर पर जुल्म ढ़ा रहे हैं, ऐसा शोरगुल किया. तब राजीव गांधी गिड़गिड़ाकर कहने लगे कि “मैं हिंदू नहीं हूँ.” (मोरे की पुस्तक ‘कश्मीर’) एक ‘ऑर्गनाइज़र’ समाचार-पत्र ने यह आरोप किया था कि राजीव गांधी ने अपने बच्चों को एक ईसाई पाठशाला में दाखला दिलाते समय उनके ईसाई होने की बात घोषित की थी. परंतु इसका किसी के द्वारा विरोध करने की बात नहीं सुनी गई. राजीव गांधी इतने महान सेक्युलर थे कि जब वे कांग्रेस प्रमुख थे तब ईशान्य भारत के कांग्रेस दल ने एक चुनाव में वचन भी दे डाला कि “यदि हम चुने जायेंगे तो हम ईसाई धर्म के प्रचार में सहायक बनेंगे!”

राजीव गांधी का दूसरा ख्यातिप्राप्त सेक्युलर कृत्य था— शहाबानो की घटना. राजनीतिक पक्षों ने यह तय किया था कि कोई भी पक्ष मुसलमानों से यह कहकर कि ‘हम आपके कानून अलग रखेंगे!’ ऐसा संविधान विरोधी वचन नहीं देंगे. परंतु अपने ही वचन का भंग करते हुए राजीव गांधी ने उपरोक्त घटना के संदर्भ में कदम उठाये. शहाबानो नामक एक मुस्लिम औरत को उसके पति ने मुस्लिम रिवाजों के अनुसार तलाक देकर बच्चे के साथ उसे भी निराधार स्थिति में घर के बाहर धकेल दिया, तब न्यायालय ने भारतीय दंडसंहिता के अनुसार निर्णय दिया कि उस पति को उस पत्नी को भरण-भत्ता देना होगा. राजीव गांधी ने यह कानून मुसलमानों पर लागू नहीं होता ऐसा समास उस कानून के साथ जोड़कर स्त्री का भरण-भत्ता भी छीन लिया.

राजीव गांधी का भारत के इतिहास का ज्ञान भी इतना विशाल था कि उन्होंने इब्राहिम खान गार्दी को छत्रपति शिवाजी का सेनापति बता दिया था और कहा कि राम राज्य में हिंदू-मुस्लिम बड़े ही प्रेम से एक साथ रहते थे!

राजीव व संजय की जोड़ी उनके शरारती स्वभाव के कारण इतनी ख्यातिप्राप्त थी कि जब भी पुलिसों द्वारा गैरव्यवहार के लिए किसी विद्यार्थी को पकड़ने की खबर सुनते तो पं. नेहरू इंदिरा गांधी से पूछ बैठते कि I hope they are not your brats.

इतने सारे गुणविशेषों से परिपूर्ण राजीव गांधी से देश को कुछ खास अपेक्षित भी न था. राजीव गांधी ने पदासीन होते ही प्रथम पंजाब व असम के मुख्यमंत्रियों से समझौता किया. नेहरूभक्तों का मानना था कि ये समझौता तथाकथित प्रदेशों का बलवा शांत करने में सहायक होंगे. परंतु मुख्यमंत्री से समझौता करने का अर्थ यह होता है कि मुख्यमंत्री ही बलवा कर रहे थे, यह मान लिया गया है. अंदाज यही था कि बलवा-फतवा जारी ही रहेगा. उधर पंजाब में तो मुख्यमंत्री का अतिरेकियों के द्वारा खून ही कर दिया गया.

राजीव गांधी के कार्यकाल में यह बात गुप्त नहीं रह सकी कि श्रीलंका में विप्लव करने वाले तमिलों को भारत से सहायता मिलती है. यह तो कदापि संभव नहीं है कि किसी न किसी सरकार की सहायता के बिना तमिल नागरिक एक प्रस्थापित सरकार के खिलाफ लड़ सकेंगे. अब श्रीलंका ने भारत की भूमिका को इन संदर्भ में सारी दुनिया को पता चल जाने की मनीषा से राजीव गांधी से विनति की कि वे तमिल विद्रोहियों का बंदोबस्त करने के लिए सेना भेजें. राजीव गांधी ने इसे स्वीकार कर लिया. परंतु इस विनति को मान लेने से पूर्व किसी भी बात पर जैसे— श्रीलंका इस प्रश्न का हल किस तरह से करेगी या तमिलों की मांगे मान ली जायेंगी या नहीं; या भारत से मदद मांगी जाने पर भारत के वचन का मान रखा जायेगा या नहीं आदि — श्रीलंका सरकार से चर्चा नहीं की. क्योंकि स्वयं ही श्रीलंका ने ‘बचाव’ की पुकार देकर इस तमिल प्रश्न को हल करने का सुअवसर भारत को प्राप्त हुआ था. परंतु राजीव गांधी भी पं. नेहरू की तरह ही यह सोचकर खुश हो रहे थे कि दूसरा देश सहायता के लिए पुकार रहा है अर्थात् उनकी अंतरराष्ट्रीय छवि प्रकाशमान होने में ही खुश हो रहे थे. भारत की समस्याओं को हल करने में उन्हें कोई रूचि नहीं थी. शायद पं. नेहरू व लाल बहादूर शास्त्री की तरह वे भी यह कहने को राजी हो जाते कि “आपकी तमिल समस्या हल करने के लिए सारे तमिलों को भारत भेज दीजिए.” परंतु तमिल उनकी बात सुनेंगे तब न? वे तो अपने ही अधिकारों के लिए रणभूमि में कूद चुके थे. अब क्या राजीव गांधी के कहने पर अपना युद्ध रोककर भारत वापस जाने को तैयार होने को थे? तात्पर्य यह है कि राजीव गांधी द्वारा श्रीलंका में सेना भेजने का जो निर्णय लिया गया था उसके पीछे कोई निश्चित विचारभूमि थी ही नहीं.

एक बात जरूर समझ में आती है कि राजीव गांधी यह तय कर चुके थे कि तमिल सेना को नष्ट करने के लिए भारतीय सेना को पूरी छूट नहीं दी जाय. मुझे एक सैनिक

अधिकारी ने कहा था कि 'प्रभाकरन को मत पकड़ो' जैसे आदेश उन्हें दिये गये थे. मुझे नहीं लगता कि भारतीय सेना तमिलों का बंदोबस्त करने के लिए सक्षम ही नहीं थी. परंतु राजीव गांधी की दुलमुल (अनिश्चित) वृत्ति के कारण वे पूरी जोश के साथ युद्ध नहीं कर पाये और छद्म युद्ध खेलते रहे. कुछेक हजार जवान नाहक प्राण गँवा बैठे. नेहरू परिवार की नजरों में जवानों के प्राणों का मूल्य शून्य ही था. अंत में श्रीलंका की सरकार ने यह सख्ती से कह दिया कि "आप लोगों से कोई काम नहीं हो सकता, आप हमारे देश से चले जाइए." ऐसा अपमान, अपकीर्ति तथा जीवहानि भारतीय सेना के माथे पर कलंक की तरह राजीव गांधी के कारण ही धर दी गयी थी.

राजीव गांधी तो यह कहने के लिए भी तैयार नहीं थे कि 'आप अपना देख लें या हमें आपके बीच में न लाये.' तमिल सेना की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि सेना की छावनी तथा उनकी रक्षा के लिए उनके पास शाश्वत जगह नहीं है, जहाँ वे डेरा डाल सकें. श्रीलंका से युद्ध में जीता गया प्रदेश ही उनका डेरा था. परंतु वह अत्यंत असुरक्षित था. उस पर श्रीलंका की सेना कभी भी आक्रमण कर सकती थी. अतः तमिलों ने भारत की आग्नेय दिशा में स्थित माले नामक द्वीप पर अपना कब्जा किया. परंतु भारत के दुर्भाग्य से इस द्वीप पर शासन किसी मुसलमान का था. राजीव गांधी को भी पं. नेहरू की ही तरह तमिलों से अधिक प्रिय मुसलमान लग रहे थे. अतः बिना किसी कारण के इन्होंने उस द्वीप पर भारतीय सेना को भेजकर तमिलों को भगा दिया.

राजीव गांधी के इन सारे कर्मों का पर्यावसान उनकी हत्या में हुआ. इंदिरा गांधी की तरह ही सुरक्षा की सूचनाओं को नहीं माना और वे भीड़ में घुस गये. एक तमिल स्त्री ने अपनी देह पर बंधे बम से उन्हें उड़ा दिया. इसके बाद इतना ही हुआ कि इंदिरा गांधी की मृत्यु के बाद जैसे सिक्ख भड़क उठे थे, तमिलों ने वैसा नहीं किया. इसका कारण शायद यह भी हो कि अब इसके बाद, जो भी सरकार बनेगी वह नेहरूवंशीय नहीं रहेगी. दंगे न होने से यह ज्ञात हुआ कि राजीव गांधी की हत्या के बाद हुए मतदानों में कांग्रेस को अधिक मत प्राप्त हुए थे.

भारतीय सुरक्षा को खतरे में रखने का, पं. नेहरू का काम राजीव गांधी ने जारी रखा था. जनरल कॅण्डेथ ने राजीव गांधी को सुझाव दिया कि पाकिस्तान कारगिल क्षेत्रों से सियाचीन पर आक्रमण करने की योजना बना रहा है, उसे असफल करने के लिए ५०००० फीट ऊँचाई पर उड़नेवाले हवाई जहाज से शत्रु की गतिविधियों पर नजर रखी जा सकेगी ऐसे हवाई जहाज का उपयोग किया जाय. परंतु ऐसा कुछ करने में पाकिस्तान की वायु सीमा का भंग करना होगा, कहकर राजीव गांधी ने इस बात की इजाजत नहीं दी. तब वायुसेना ने एक रास्ता ढूँढ निकाला. एक हवाई जहाज को पाकिस्तान की सीमा में प्रवेश करने के लिए कहा और इधर वायु सेना ने पाकिस्तान को सूचित किया कि "हमारा एक जहाज दिशा भूलकर आपकी सीमा में आ गया है अतः हम आपकी सीमा में हवाई जहाज उतार रहे हैं."

और पाकिस्तान में हवाई जहाज उतारा गया. उतरने से पहले उन्होंने तस्वीरें खींच लीं थी. इसी जानकारी का उपयोग सियाचीन की लड़ाई में किया गया था.

भारत के शत्रुओं से अपनी रक्षा करने से पूर्व नेहरूवंशियों से स्वयं को बचाना पड़ता था, इसका यह जीवंत उदाहरण है.

जब तक संजय गांधी जीवित थे, तब तक राजीव गांधी राजनीति से अछूते ही रहे. अतः उन्हें 'साफ-सुथरा' पदवी प्रदान की गई थी. परंतु उनके राजनीति में प्रवेश पाते ही चित्र बदल गया. उनके ही काल में बोफोर्स व पनडुब्बियों के संदर्भ में हुए भ्रष्टाचार करने के आरोपों का शोरगुल था. इनमें से, हाल ही में, न्यायालय ने यह बताया है कि बोफोर्स संबंधी केस में राजीव गांधी को दोषी करार देने योग्य सबूत नहीं मिले हैं. इस घटना में शामिल क्वात्रोची गवाही के लिए भारत आने को राजी नहीं है और विदेशी न्यायालयों ने भी उन्हें भारत भेजने के लिए 'ना' कह दिया है. अतः इस घटना की गहराई में जाना, अभी तक संभव नहीं हो पाया है. पनडुब्बी का किस्सा तो अभी तक अज्ञात ही है. आज सोनिया गांधी के नाम पर स्विस बैंक में ३७५० लाख डालर हैं, ऐसा केजीबी ने घोषित किया था. यह खाता यकीनन नेहरू परंपरा से ही सोनिया गांधी के नाम हुआ होगा. क्योंकि लोकसभा में वित्तमंत्री ने यह कहा था कि नेहरू का खाता विदेशी बैंकों में भी है. बताया जाता है कि सुब्रह्मण्यम स्वामी द्वारा दर्ज की गई शिकायत भारत सरकार के आगे की कार्यवाही के बारे में एक अक्षर बराबर जानकारी नहीं मिल पाई है.

#### वि. प्र. सिंह द्वारा संपन्न मंडल का अग्रिकाण्ड

राजीव गांधी के प्रधानमंत्री बनने की प्रथम पारी के बाद उन्हें पूरा बहुमत प्राप्त नहीं था, अतः उन्होंने सरकार स्थापन करने से इन्कार कर दिया. फिर वि.प्र. सिंह भाजपा के बाहरी सहयोग से प्रधानमंत्री बने! उनका कार्यकाल मंडल आयोग का अग्रिकाण्ड, कश्मीर में कानून का राज्य प्रस्थापित करने का प्रयत्न करनेवाले जगमोहन के रास्तों में रूकावटें पैदा करना और अडवाणी की गिरफ्तारी की घटनाओं से भरापूर है. मंडल आयोग वि.प्र. सिंह प्रधानमंत्री होने से काफी पहले ही प्रस्तुत किया गया था. परंतु पहले किसी भी प्रधानमंत्री ने उस पर अमल करना नहीं चाहा. क्योंकि आरक्षित नौकरी का तत्त्व आयोग की सिफारिशों के कारण एक ऐसे बिंदु तक जा पहुँचा था कि सरकारी नौकरी हासिल करने का एकमात्र आधार जाति ही बन गया था. अब लगता है कि आयोग का उद्देश्य पिछड़ी जातियाँ कौन-सी हैं, यह तय करने की प्रक्रिया में आरक्षण तत्त्व को ही मजाक बनाकर रख दिया गया है. क्योंकि 'ब्राह्मण उन्नत व सुधारित हैं' पहले के आरक्षणवादियों की इस मान्यता को उन्होंने धिक्कार दिया है और ब्राह्मणों में भी पिछड़े वर्ग को जन्म दिलाया है. पहले जिन जातियों को माना भी नहीं जा रहा था, उनकी संख्या में इतनी बढ़ोत्तरी हुई है कि जाति आरक्षण के अनुसार हर जाति के हिस्से में एक नौकरी का मिलना या होना भी असंभव जान पड़ने लगा है. संदेह यह होने लगता है कि क्या आयोग की नीति कुछ ऐसी



तो नहीं थी कि जखम को ठीक करने के लिए उसे सुखने की दवा देने के बजाय पकने की दवा देकर उसका स्वयं ही फूटना सही माना जाय. परंतु आरक्षणवादी इस बात को समझ नहीं पाये और हर जाति में पिछड़े हुए लोग हैं, उसे स्वीकार कर हर जाति के लिए आरक्षण की सुविधा उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया गया है. इसमें खुले पदों की संख्या बहुत ही कम बची रहेगी. अतः इन पदों के लिए भी आरक्षण रखने पर सोचे जाने का विचार वि. प्र. सिंह ने घोषित कर दिया.

इससे नौकरी पर ही निर्भर वर्ग में बहुत बड़ी खलबली मच गई और कुछ युवकों ने स्वयं को जला लिया. अब कुछ ही दिनों बाद व्यक्तिगत उद्योगपतियों से भी यह संघर्ष जुड़ सकता था. क्योंकि उन्हें नौकरी किसे दें, यह तय करने का भी अधिकार शेष नहीं रहेगा और फिर उन्हें निजी व्यवसाय/उद्योग कहना कोई मायने नहीं रखता था. न्यायालय द्वारा इस संदर्भ में निजी उद्योगपतियों का पक्ष सही बताया जा सकता था. कई उद्योग नुकसान होने के कारण बंद हो जाते और बेरोजगारी बढ़ जाती. अब स्थिति यह हुई कि भारत में उद्योग शुरू करने के लिए विदेशी पूंजीपति कतरा रहे थे क्योंकि यहाँ के मजदूरों के संदर्भ में नियम उद्योगधंदों के लिए हानिकारक साबित हो रहे थे. महाराष्ट्र के कई विदेशी उद्योगपतियों ने धमकी दे डाली थी कि यदि आरक्षण लागू हुआ, तो महाराष्ट्र छोड़कर चले जायेंगे. परिणामस्वरूप उद्योगपति देश छोड़कर भी जा सकते हैं. आज आर्थिक उदारीकरण के चलते भारत पर अंतरराष्ट्रीय दबाव बढ़ रहा है. ऐसी हालत में उद्योगपतियों के भारत छोड़ने की वृत्ति पर कैसा प्रतिबंध लगाया जा सकेगा, यह एक गहन प्रश्न है. कुल मिलाकर यह नीति देश को कंगाल बना देनेवाली है और उसका सभी क्षेत्रों द्वारा विरोध होना निश्चित ही था.

वि. प्र. सिंह सोच रहे थे कि इस नीति के चलते पिछड़े वर्ग के वोट्स उन्हें मिलेंगे! परंतु पिछड़ेपन में हिस्सा माननेवालों की संख्या में बढ़ोत्तरी क्या इस वर्ग को भली लगती? कुल मिलाकर पं. नेहरू द्वारा परिचालित आरक्षण की नीति पर, वि. प्र. सिंह ने भी अमल किया और परिणाम यह था कि नेहरूवाद से उनके अलग होने के आसार भी पूरी तरह से नष्ट हो गये.

कश्मीर में हिंदुओं पर होनेवाले अत्याचारों से सभी परिचित हैं. श्री जगमोहन जब कश्मीर के गवर्नर नियुक्त हुए थे तब उन्होंने इन बातों पर रोक लगाने का प्रयत्न किया था. उन्हें वि. प्र. सिंह ने वापस बुला लिया क्योंकि वि. प्र. सिंह जिनके (भाजप) समर्थन से प्रधानमंत्री बने थे, उनकी नाराजगी के शिकार हो गये. अब जगमोहन को समर्थन न देते हुए उन्हें वापस बुला लेना पं. नेहरूवाद में उचित ही कहलाता है.

अब भाजपा के क्रोध को चरम तक पहुँचानेवाले भाजपाध्यक्ष ए.के. अडवाणी को गिरफ्तार करने का कर्म वि. प्र. सिंह ने जल्द ही संपन्न किया. अडवाणी ने राम जन्मभूमि के आंदोलन के लिए रथयात्रा निकाली थी. इस यात्रा के बिहार पहुँचते ही उन्हें गिरफ्तार

कर लिया गया. यह कर्म भी नेहरूवाद में फिट ही बैठता था. अब जिसके समर्थन पर शासन करना था उनके ही नेता को गिरफ्तार करने पर सिंह की सत्ता पर बने रहना असंभव ही था. उन पर अविश्वास का प्रस्ताव पारित किया गया.

वि. प्र. सिंह का गुनना कुछ इस प्रकार का था कि अडवाणी की गिरफ्तारी से उनका शासन कुछ ही असें के लिए जायेगा परंतु मुस्लिम मतदाता उन पर खुश होकर उन पर मतों की बरसात करेंगे ही. अब स्थिति यह थी कि हर कोई मुस्लिम मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित करने की दौड़ में लगे थे. इस स्थिति में बँटे हुए मुस्लिम मतों से कितने मत सिंह को मिलने थे कि उनकी महत्ता महसूस होती! वस्तुतः जो पक्ष, मुस्लिमों के समर्थन प्राप्त न होने को अपनी हार का कारण जताकर चिल्लाएँ कर रहे हैं, उनकी बात का सही होना या गलत होना अभी तक इस बात का अध्ययन नहीं हो पाया है. भाजपा को भी कुछ मुस्लिम मत मिलते ही हैं. अटल बिहारी वाजपेयी का लखनऊ मतदार संघ तो मुस्लिम ही है. केरल में मुस्लिम लीग अपने उम्मीदवारों को स्वतंत्र रूप से खड़ा करते हैं. शेष मोटे-मोटे पक्ष दस ऊपर हैं. यह धारणा कि मुस्लिम एकमुश्त मतदान करते हैं, इसका सांख्यिकी अध्ययन उपलब्ध नहीं है. शायद यदि इस बात का निष्पक्ष अध्ययन किया जाय कि मुस्लिम मत किस तरह से विभाजित होते हैं तो राजनीति के अधिकांश संकट दूर हो जायेंगे.

वि. प्र. सिंह सरकार गिरते ही होनेवाले चुनावों के दरम्यान ही राजीव गांधी का खून हो गया.

### रामजन्मभूमि का महाभारत

राजीव गांधी के बाद सोनिया गांधी को आमंत्रित करते हुए नेहरूवंश का राज्य शुरू रखने की कोशिश की गई. परंतु सोनिया गांधी ने ना कर दी थी. इसका कारण यह हो सकता है कि राजीव गांधी की हत्या करनेवाले उन्हें भी मार डालेंगे, यही डर रहा होगा. दूसरा कोई कारण मेरी कल्पनाशक्ति से भी परे की बात होगी. परंतु सोनिया गांधी का यह भय निराधार था. इंदिरा गांधी को सिक्खों ने मारा, परंतु राजीव गांधी को किसी सिक्ख ने नहीं मारा था. अब राजीव गांधी पर तमिलों का क्रोध था, तो जरूरी नहीं है कि सोनिया गांधी पर भी हो. यह तो बड़ी दूर की कौड़ी है. एक समय था जब सोनिया गांधी द्रमुक से भी किसी तरह का संबंध नहीं रखना चाहती थी. क्योंकि तमिल राष्ट्रवाद माननेवाला पक्ष है. परंतु द्रमुक ने लिट्टे की तरह शौर्य दिखलाने का प्रयत्न कभी भी नहीं किया. अतः तमिलों के बारे में सोनिया गांधी की प्रतिक्रियाओं से उनके राजनीतिगत समझ के बारे में कुछ अनुकूल मत नहीं बन पाता.

पी. व्ही. नरसिंहराव उनसे पहले हुए सभी प्रधानमंत्रियों की तुलना में, विद्वान व बुद्धिमान थे. उनकी ख्याति यह थी कि वे कम से कम आधा दर्जन भाषाएँ पूरी शुद्धता के साथ जानते थे. डॉ. जिचकार से पता चला कि वे संस्कृत प्रेमी भी थे. उन्होंने मराठी उपन्यासों 'ययाति' आदि का तेलगू में अनुवाद किया है. मुझे प्रतीत हो रहा था कि उनके

पास उनकी अपनी समझ या विचारशक्ति होगी और मैं आस लगाये बैठा था कि वे नेहरूवाद से हटकर कुछ नई राह ढूँढ़ेंगे।

परंतु मेरी बेहद निराशा हुई। जिस बिंदु पर वे नेहरूवाद से अलग हुए थे, उसका कारण उनकी अपनी सोच नहीं थी, वह था अंतरराष्ट्रीय दबाव। यह क्षेत्र है आर्थिक। पं. नेहरू के समय प्रचलित समाजवाद को पूरी तरह से कचरे का डिब्बा दिखा दिया था और खुली-स्वतंत्र-मुक्त अर्थव्यवस्था को स्वीकार किया। यदि वे ऐसा न करते तो भारत को किसी भी तरह की अंतरराष्ट्रीय सहायता प्राप्त न होती।

नरसिंह राव ने आर्थिक क्षेत्र में नेहरूवाद का त्याग अवश्य किया था परंतु जिन क्षेत्रों में अंतरराष्ट्रीय दबाव न था, वहाँ वे पं. नेहरू से सवैया ही रहे। यह बात साफ झूठी साबित हुई कि वे संस्कृत प्रेमी हैं। उनके ही कार्यकाल में सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका प्रस्तुत की गई थी, जिसमें सरकार को संस्कृत के प्रचार-प्रसार से संबंधित उसके दायित्व का अहसास दिलाया गया था। इस पर नरसिंह राव के सरकार ने न्यायालय से पूछा कि यदि यह मान लें कि संस्कृत सिखाने की जिम्मेदारी भारत सरकार पर है तो झुलू जैसे कुछ कबीलों की भाषा सीखने का दायित्व उस पर क्यों नहीं है? यही तो पं. नेहरू की खास विचारधारा है। यहाँ पं. नेहरू की संस्कृत नीति का प्रतिबिंब परिलक्षित होता है। जिसे बचपन से ही भारतीय राष्ट्रीयता से दूर नहीं रखा गया, ऐसा भारतीय यह कभी नहीं सोच सकता कि संस्कृत सीखाना और झुलू जनों की भाषा सीखाना एक जैसा ही है।

सेक्युलरिज्म के संदर्भ में नरसिंह राव पूरी तरह से नेहरूवादी ही थे। रामसेवक पर गोलियाँ चलने के कारण भाजपा को उत्तर प्रदेश में हुए चुनाव में प्रचंड बहुमत प्राप्त हुआ था और रामजन्मभूमि के आंदोलन ने उग्रता धारण कर ली थी। राजीव गांधी के अर्थात् केन्द्र सरकार की अनुमति से ही राममंदिर के निर्माण/विन्यास का शिलान्यास हो चुका था। इस पर मुसलमानों ने कोई आपत्ति नहीं जतायी थी। अतः यदि उत्तर प्रदेश की सरकार उस स्थान पर निर्माण कार्य करती है तो मुसलमानों के क्षुब्ध होने का कारण ही न था। बाबरी मस्जिद के ढाँचे को ढहाने का उत्तर प्रदेश के सरकार का इरादा कतई न था। वह तो ऐसा भव्य मंदिर खड़ा करना चाह रही थी कि उसके साये में मस्जिद का ढाँचा स्वयं ही छिप जाता और वह स्वयं ही महत्त्वहीन हो जाता और राममंदिर का प्रश्न हल हो जाता।

परंतु किसी भी प्रश्न को हल करना नेहरूवाद का उद्देश्य ही नहीं था। नेहरूवाद का सार था— मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ भड़काना।

नरसिंह राव ने इस निर्माण कार्य पर आपत्ति जतायी और मुस्लिम व हिंदुओं के प्रतिनिधियों को बुलाकर उनकी बातें श्रवण करने लगे। जब राजीव गांधी ने शिलान्यास किया तो कोई वाद उपस्थित नहीं हुआ था। परंतु जो है ही नहीं, ऐसे वादों को निर्माण करना सत्ताधिकारियों के लिए आसान बात होती है और दिलजमाई करवाना बड़ा मुश्किल काम होता है। जब शिलान्यास के स्थान पर किसी भी तरह का निर्माण कार्य करने पर आपत्ति

नरसिंह राव ने जतला दी थी तो उस नियत स्थान पर नियत दिन पर लाखों लोगों के इकट्ठा होने का अर्थ क्या है? वे क्या करेंगे?

नरसिंह राव का कहना था कि खाली हाथ लौट जाय। नरसिंह राव यदि यही कहना चाहते थे तो उन्होंने शिलान्यास के स्थान पर लाखों लोगों के इकट्ठा होने पर पाबंदी भी लगानी चाहिए थी। उन्होंने वह भी नहीं किया। भावनाओं से उद्दीप्त-संतप्त लाखों लोग इकट्ठा होते ही वे यूँ ही कैसे लौट जायेंगे? यह तो सोचा भी नहीं जा सकता! अब वे कुछ करने लगते हैं तो गोलियाँ चलाकर ही उन्हें रोका जा सकता था। परंतु किसी भी सरकार को वहाँ जालियनवाला बाग का दृश्य खड़ा करना संभव नहीं था। ऐसी बात नहीं है कि नरसिंह राव इस बात को जानते न हो। परंतु वे तो नेहरू नीति में पक्के मँजे हुए थे। अब लाखों लोगों के बेकाबू होते ही यदि बाबरी ढाँचे का ही विध्वंस कर दें तो? नरसिंह राव यही तो चाहते थे। अब ऐसा विध्वंस होते ही 'जातीयवादी' लोगों के लिए अपशब्द कहते हुए छाती पीटना प्रारंभ कर सकते थे। इससे होगा यह कि बाबरी ढाँचा भी ढह जाता है और दंगों को भड़का की भाजपा भी मुसलमानों के साथ-साथ हिंदुओं में भी बदनाम हो जाती है। क्योंकि कोई भी सर्वसामान्य नागरिक, फिर वह हिंदू हो या मुसलमान, नहीं चाहता कि दंगे हो।

जब सोमनाथ का निर्माण हुआ तब मुसलमानों में कोई हलचल नहीं मची। रामजन्मभूमि में मूर्ति रखी गई, न्यायालय ने उसकी पूजा-अर्चा करने की अनुमति भी दी। तब भी मुसलमान के माथे पर एक शिकन तक नहीं आयी। फिर अब इतना बोलबाला, इतनी चर्चा क्यों?

साफ है यह शोरगुल मुसलमानों की ओर से नहीं था, नरसिंह राव ने करवाया था। पहले तो किसी ने भी यह नहीं कहा था कि राम जन्मभूमि पर स्थित मंदिर बाबर ने ढहाया था। यह विवाद तो वाजिद अली शाह के समय से चला आ रहा था। परंतु किसी भी मुसलमान ने यह कभी भी नहीं कहा कि मंदिर गिराकर मस्जिद का निर्माण होने की बात झूठ है। यह सब अब ही कहा जा रहा है। क्योंकि उनसे बुलवानेवाला मालिक सत्तासीन और हिंदू सेक्युलरिस्ट था। फ्रैंक गॉइटर नामक एक फ्रेंच लेखक इंडियन एक्सप्रेस में लिखता है—

“अयोध्या में घटित प्रसंग की इतने शोरगुल के साथ जो चर्चा हो रही है, उसमें एक भी व्यक्ति मरा नहीं है, किसी के खरोंच तक नहीं आयी है। एक उध्वस्त खंडहर जमीनदोस्त हो गयी है। उसी का बोलबाला दुनिया भर हो रहा है। इसके विपरित मुंबई में हुए बम विस्फोट में चार सौ व्यक्तियों की जानें गई हैं। इस विस्फोट का इल्जाम दाऊद इबराहिम पर लगाया गया है। परंतु दुनिया की तो छोड़ ही दें, भारत में ही कितने लोग इस बात से परिचित हैं?

इसका कारण साफ है। सभी प्रसारण-माध्यम सरकार के ही हाथों में हैं।

नरसिंह राव की कल्पनानुरूप/आशानुरूप घटना ने आकार लिया। बाबरी मस्जिद

का ढाँचा मिट्टी में मिल गया। वहाँ मंदिर से संबंधित एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ। परंतु नरसिंह राव ने क्या किया? वे दूरदर्शन पर 'जातीयवादियों ने मस्जिद गिराई' कहकर छाती पीट रहे थे। परिणामतः हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए। जिन मुसलमानों ने पुलिस की लाठी खाई उन्हें नुकसान भरपाई मिली। जिन पुलिस अधिकारियों ने मंदिर गिराने के लिए दौड़े चले आये मुसलमानों को रोका, उनका तबादला हुआ। किसी भी हिंदू के स्मरण में यह बात नहीं रही कि लोकसभा में हिंदुओं के कम से कम दर्जन भर मंदिरों को तोड़ गिराने की खबर कही गई है। क्योंकि कहीं भी मोटे-मोटे अक्षरों में उनकी शीर्ष पंक्तियों की झलक भी देखने को नहीं मिली थी।

नरसिंह राव ने अब एक विधेयक पारित कर लिया। इसके अनुसार प्रार्थनास्थल की १९४७ से पहले की दशा बदलने का प्रयत्न अपराध कहा जायेगा, यह निश्चित हुआ। एक बात अवश्य ध्यान में रखी जाय कि एक भी मुसलमान द्वारा ऐसी मांग नहीं की गई थी। इस विधेयक से लगभग यह सोच लोगों में फैलती गई कि मुसलमानों को हिंदुओं के मंदिरों को गिराने का कानूनन हक मिल गया है। आज यदि किसी मुसलमान द्वारा मंदिर गिराये जाने पर न्यायालय में केस दाखिल होती है तो यह दलील दी जाती है कि १९४७ से पहले जो व्यवहार कानून के मुताबिक माना जाता था, आज वह गैर कानूनी है और यह दलील सर्वथा तानाशाही है। इसके लिए प्रस्तुत किया गया कोई भी प्रमाण जाँचने योग्य नहीं है। अतः ऐसी घटनाओं से इतिहास रचा जाना, असंवैधानिक तय होना चाहिए। क्या इस संदर्भ में न्यायालय से कोई सयुक्तिक उत्तर मिल सकेगा? क्या इस विधेयक ने इस बात को ही मान्यता दी नहीं है कि मुसलमानों को प्राप्त मंदिर गिराने का अधिकार सदैव से ही है?

कुल मिलाकर नरसिंह राव सौ फीसदी नेहरू भक्त थे।

पाँच वर्ष की अवधि पूरी होने से पूर्व ही लोकसभा में उनका बहुमत समाप्त हुआ परंतु उन्होंने करोड़ों रुपयों की रिश्वत देकर अपनी सरकार बचायी। यह बात कालांतर में सिद्ध की गई है। सजा से उनकी मुक्ति तांत्रिक मुद्दों पर हुई।

नरसिंह राव की सरकार के जाते ही, जो भी चुनाव हुए उनमें भाजप सभी पक्षों से अधिक सीटों पर विजयी हुई। परंतु शेष सभी पक्षों द्वारा एक सेक्युलर पहल की गई, इससे उनकी सरकार रीति अनुसार नहीं बन सकी। इस सेक्युलर मोर्चे में मुस्लिम लीग थी। ऐसी स्थिति में नेहरूवादी सेक्युलरिज्म का धर्मानिरपेक्षता का क्या संबंध है? ऐसा प्रश्न किसी ने भी नहीं पूछा।

पुनः चुनाव हुए, उसमें भाजपा रीति के अनुसार सरकार बन पाई किंतु केवल तेरह मास तक ही रह पायी। फिर से चुनाव हुए, जिसमें कुछ और मित्र बनाने में सफलता हासिल होने से अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार बनी और यह सरकार पाँच वर्ष तक बनी रही। यह सरकार भाजपा की नहीं थी, फिर भी भाजपा इसमें प्रमुख दल के रूप में ही था।

परंतु नेहरूवाद की समाप्ति के लिए जो कदम उठाने की आवश्यकता थी, उसमें से अधिकांश कदम इस सरकार के मित्र पक्षों को नामंजूर थे। अतः अंग्रेजी हटाना, ३७० कलम रद्द करना, समान नागरी कानून को अमल में लाना, हिंदू-मुसलमानों के लिए एक ही शिक्षा प्रदान करना, हिंदू व मुसलमानों की सारी वसाहत को मिश्रित करना, उनके पोशाख, रीतिरिवाजों में कोई भेद न दिखे अतः प्रयत्नशील रहना तथा इसके लिए धर्मग्रंथों का सहारा न लेते हुए मुसलमानों के भी जातियों में प्रचलित रूढ़ियों का आधार लेना आदि नेहरूवाद के उच्चाटन के लिए आवश्यक बातों पर अमल करना संभव नहीं था। फिर भी इस सरकार की कुछ उपलब्धियों की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता।

उनमें से प्रथम है— अनेक पक्षों से मिलकर बनी सरकार को पाँच वर्ष तक बनाये रखना। मुझे तो यह बात असंभव ही जान पड़ रही थी। पर यह भी तो संभव नहीं था कि हर बार किसी एक पक्ष का ही बहुमत सिद्ध होता रहे। अतः भारत में जनतंत्र को कायम रखना हो, तो अनेक पक्षों से बनी सरकार ही सही सरकार कहलायेगी। मतभेद चाहे कितने भी हों कुछ तो योजनाएँ ऐसी होती ही हैं, जो सभी पक्षों की युक्ति को मान्य होती हैं। उन पर अमल करने के लिए संमिश्र सरकार ही कार्य कर सकती है। केन्द्र में ऐसा प्रथम प्रयोग वाजपेयी ने कर दिखाया था तथा यह सिद्ध कर दिया कि भारत में गणतंत्र बनी रह सकती है। दूसरी बात यह है कि इस सरकार के किसी भी मंत्री पर भ्रष्टाचारी होने का आरोप नहीं किया गया। इस मामले में जार्ज फर्नांडिस का नाम लिया जाता है, परंतु यह दोषारोपण पुलिस व कोर्ट द्वारा नहीं किया गया था। 'तहलका' नामक एक बदनामकारक व जानकारी इकट्ठा कर पैसे पाने वाली एक कंपनी का यह काम था। यहाँ भी उनके पक्ष के किसी कार्यकर्ता ने पैसे लेने का आरोप किया गया है। परंतु इस दोषारोपण में पैसे क्यों लिये गये थे तथा उनके लेने पर देश व सरकार का क्या नुकसान हुआ था इस बारे में सारा वृत्तांत खामोश है। ए.के. अडवाणी ने भी आरोप किये जाते ही लोकसभा की सदस्यता का त्याग कर दिया था और आरोप का सफाया होते ही पुनः स्वीकार कर लिया था।

इस सरकार की तीसरी उपलब्धि है— अमरिका के दबाव के शिकार हुए बिना अणुस्फोट करवाना। यह अत्यंत गुप्तता के साथ संपन्न हुआ था। जिस देश की बदनामी यूँ थी कि इस देश का रहस्य व्हिस्की की एक बोतल के साथ खरीदा जा सकता है, उस देश ने अमरिका के जासूसों पर भी यह बात जाहिर होने न दी थी। यह बात अत्यंत अभिमानस्पद है।

अटल बिहारी वाजपेयी का एक व्यवहार सर्वथा अनाकलनीय रहा है। उन्होंने पोप को भारत आने का निमंत्रण दिया था और पोप ने भारत में आकर ही हिंदुओं को ठेंगा दिखाकर कहा कि उन्हें हिंदू धर्म का उच्चाटन करना है। अटल बिहारी वाजपेयी के मन में पं. नेहरू के प्रति अत्यंत आदरभाव भरा हुआ है। क्या इस व्यवहार से वे पं. नेहरू का अनुकरण करना चाहते थे? क्या यही मकसद था, इस व्यवहार का?

अब पुनः सोनिया गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार केन्द्र में स्थापित हुई है. उन्होंने जैसा सोचा ही था वैसे ही शिक्षा में भगवीकरण अर्थात् राष्ट्रीयकरण रद्द करना, वि.दा. सावरकर के अंदमान में स्थित स्मारकों को नष्ट करना आदि व्यवहारों से अपना नाम बनाये रखा है.

□□□